परदा

(इस्लाम में परदा और औरत की हैसियत)

मौलाना सैयद अबुल आला मौदूदी (रह.)

अनुवाद

डॉ. कौसेर यज़दानी नदवी

विषय–सूची

1. समस्या क्या है?	7-26
यूनान	10
रोम	13
ईसाई यूरोप	15
आधुनिक यूरोप	19
मानवीय चिन्तन की दर्दनाक नाकामी	24

2. आधुनिक युग का मुसलमान	27-35
ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	27
मानसिक दासता	29
परदे के सम्बन्ध में बहस की शुरुआत	30
मूल प्रेरक	31
सबसे बड़ा धोखा	32
हमारा मक़सद	35

3. विचारधाराएँ	36-50
अठारहवीं सदी की आज़ादी की अवधारणा	36
उन्नीसवीं सदी की तब्दीलियाँ	38
बीसवीं सदी की तरक़्क़ी	44
नव-मालथसवादी आन्दोलन का साहित्य	46

4. परिणाम	51-78
औद्योगिक क्रान्ति और उसके प्रभाव	51
पूँजीवादी स्वार्थ	52
लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था	54
हक़ीक़तें और गवाहियाँ	57
नैतिक चेतना का अभाव	57
अश्लीलता और बेहयाई की वृद्धि	62
वासना और अश्लीलता की महामारी	64
क़ौमी तबाही की निशानियाँ	69
शारीरिक शक्तियों की गिरावट	71
पारिवारिक व्यवस्था की बर्बादी	72
नस्ल-हत्या	75

5. कुछ और मिसालें	79-93
बच्चों पर वासनात्मक माहौल का असर	79
शिक्षा का दौर	81
तीन शक्तिशाली उत्प्रेरक	83
अश्लीलता का बाहुल्य	84
गुप्त रोग	86
तलाक़ और जुदाई	87
राष्ट्रीय आत्महत्या	89
इंग्लैंड की हालत	90

6. निर्णायक प्रश्न	94-108
पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित पूर्वी जन	95
नया साहित्य	96
आधुनिक संस्कृति	102
पाश्चात्य संस्कृति के समर्थकों से फ़ैसला	104
दूसरा गरोह	105
निर्णायक प्रश्न	106

7. प्रकृति के क़ानून	109-158
संस्कृति-रचना में यौनाकर्षण का असर	110
संस्कृति की बुनियादी समस्या	112
अच्छी संस्कृति के आवश्यक तत्त्व	113
(1) लैंगिक आकर्षण का संतुलन	114
(2) परिवार की स्थापना	117
(3) यौन-अनाचार पर रोक	124
(4) बेहयाई की रोक-थाम के उपाय	139
(5) दाम्पत्य-सम्बन्ध का सही रूप	144

8. इंसानी कमज़ोरियाँ	159-169
नाकामी की असल वजह	159
कुछ स्पष्ट उदाहरण	160
इसकी वजह?	167
इस्लामी क़ानून के सन्तुलन की ख़ूबी	168

9. इस्लाम की सामाजिक व्यवस्था 170-181

(1) मौलिक सिद्धान्त	170
युगलता का बुनियादी मतलब	170
इंसान की हैवानी प्रकृति और उसके तक़ाज़े	174
इंसानी प्रकृति और उसके तक़ाज़े	176

10 इस्लामी सामाजिक व्यवस्था 182-204

(2) सिद्धान्त और मौलिक तत्त्व	182
महरम लोग	182
ज़िना (व्यभिचार) का निषेध	183
विवाह	183
ख़ानदान का गठन	185
मर्द की प्रधानता	186
औरत का कार्य क्षेत्र	188
ज़रूरी पाबन्दियाँ	191
औरत के अधिकार	193
आर्थिक अधिकार	194
सामाजिक अधिकार	195
औरतों की तालीम	196
औरत का असली उद्धार	197

11. इस्लामी सामाजिक व्यवस्था 205-229

(3) संरक्षण	205
अंतःकरण का सुधार	207
हया	207
दिल के चोर	209
नज़र का फ़ितना	210
हुस्न ज़ाहिर करने की भावना	211
ज़बान का फ़ितना	211
आवाज़ का फ़ितना	212
ख़ुशबू का फ़ितना	213
नंगेपन का फ़ितना	213
दण्ड-संहिता	215
ज़िना (व्यभिचार) की सज़ा	216
व्यभिचार की झूठी तोहमत लगाने की सज़ा	219
रोक-थाम के उपाय	220
लिबास और सत्र के नियम	220
मर्दों के लिए सत्र (जिस्म ढाँकने) की सीमाएँ	222
औरतों के लिए सत्र (जिस्म ढाँकने) की सीमाएँ	223
इजाज़त चाहना	225
एकांत मिलन और स्पर्श का निषेध	227
महरमों और ग़ैर-महरमों के बीच फ़र्क़	228

12. परदे से सम्बन्धित आदेश 230-256

निगाहें नीची रखना	231
ज़ीनत ज़ाहिर करने पर रोक और उसकी हदें	237
चेहरे के बारे में हुक्म	246
नक़ाब	250

13. बाहर निकलने के नियम 257-270

ज़रूरतों के लिए घर से निकलने की इजाज़त	258
मस्जिद में आने की इजाज़त और उसकी हदें	259
मस्जिद में आने की शर्तें	262
हज में औरतों का तरीक़ा	264
जुमा और दोनों ईदों की नमाज़ों में औरतों का शरीक होना	265
क़ब्रों की ज़ियारत और जनाज़ों में शरीक होना	266
युद्ध में औरतों का शरीक होना	267

14. उपसंहार 271-280

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

'दयावान, कृपाशील अल्लाह के नाम से।'

दो शब्द

स्त्री ख़ुदा की एक महान कृति है। उसका मानव-समाज में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्त्री के प्रति यह कह देना कोई अतिशयोक्ति न होगी कि वह समाज के लिए ईश्वर-प्रदत्त एक बहुमूल्य रत्न है। अतः जो वस्तु जितनी मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण होती है वह उतनी ही अधिक सम्मान, सुरक्षा एवं संरक्षण की अपेक्षा करती है। इसी लिए सत्यवादी दृष्टिकोण स्त्री का सम्मान, रक्षा और उसकी हिफ़ाज़त करना समाज का सदैव परम कर्तव्य मानता है।

प्रस्तुत पुस्तक इन्ही विषयों पर इस्लामी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है। विद्वान लेखक ने तुलनात्मक अध्ययन के उद्देश्य से विश्व के अन्य सम्प्रदायों के दृष्टिकोण, मत और तात्कालिक वैश्विक समाज में स्त्री की दशा का भी अवलोकन कराया है।

यह पुस्तक मूलतः उर्दू में लिखी गई थी और उर्दू ही में प्रथमतः प्रकाशित भी हुई। बाद में विभिन्न भाषाओं में इसके अनुवाद प्रकाशित हुए। हिन्दी में भी यह पुस्तक कई वर्षों से प्रकाशित होती रही है।

चूंकि यह पुस्तक अब से कई वर्षों पूर्व (1939 ई. में) लिखी गई थी इसलिए इसमें दिए गए आंकड़े और प्रस्थितीय विवरण उसी समय के हैं, जिसमें आज बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। अतः पाठकों से अनुरोध है कि इस पुस्तक का अध्ययन करते समय इस तथ्य को अपनी दृष्टि में रखें।

इस किताब के पिछले संस्करण में कुछ त्रुटियाँ रह गई थीं जिसपर हमें खेद है, इस नवीन एवं संशोधित संस्करण में उन्हें सुधार दिया गया है। इस नवीन एवं संशोधित संस्करण के अनुवाद को सुधारने और उपयोगी बनाने में जिन महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ है उनमें जनाब ज़ैनुल-आबिदीन मंसूरी, सनाउल्लाह, मुहम्मद इलियास हुसैन, एस. कौसर लईक़, सैयद ख़ालिद निज़ामी और मुहम्मद शुऐब साहब का नाम उल्लेखनीय है। हम सभी सहयोगकर्ताओं के आभारी हैं।

पूर्ण प्रयास के उपरांत भी त्रुटि एंव ग़लतियों का रह जाना सम्भव है। अतः पाठकों से अनुरोध है कि यदि कहीं कोई त्रुटि नज़र आए तो हमें उससे अवगत कराएँ। हम आपके आभारी होंगे।

ख़ुदा से दुआ है कि यह पुस्तक हमारे देश और समाज के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो!

–**नसीम ग़ाज़ी फ़लाही** *(अध्यक्ष)*

इस्लामी साहित्य ट्रस्ट (दिल्ली)

सांकेतिक शब्दार्थ

संक्षिप्त रूप में इस्तेमाल कुछ ऐसे शब्द इस किताब में आएँगे जिनकी मुकम्मल शक्ल और मतलब किताब के अध्ययन से पहले जान लेना ज़रूरी है, ताकि अध्ययन के दौरान कोई परेशानी न हो। वे शब्द निम्नलिखित हैं :

अलैहि०/अलै० : इसकी मुकम्मल शक्ल है **अलैहिस्सलाम,** यानी "उनपर सलामती हो!" नबियों और फ़रिश्तों के नाम के साथ यह आदर और प्रेम सूचक शब्द बढ़ा देते हैं।

रज़ि० : इसका पूर्ण रूप है **रज़ियल्लाहु अन्हु**। इसके मानी हैं, "अल्लाह उनसे राज़ी हो!" **सहाबी** के नाम के साथ यह आदर और प्रेम-सूचक दुआ बढ़ा देते हैं।

सहाबी उस ख़ुशक़िस्मत मुसलमान को कहते हैं जिसे नबी (सल्ल०) से मुलाक़ात का मौक़ा मिला हो। सहाबी का बहुवचन **सहाबा** है और स्त्रीलिंग **सहाबियः** है।

रज़ि० अगर किसी **सहाबियः** के नाम के साथ इस्तेमाल हुआ हो तो **रज़ियल्लाहु अन्हा** पढ़ते हैं और अगर सहाबा के लिए आए तो **रज़ियल्लाहु अन्हुम** कहते हैं।

सल्ल० : इसका पूर्ण रूप है **सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम,** जिसका मतलब है, "अल्लाह उनपर रहमत और सलामती की बारिश करे!" हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) का नाम लिखते, लेते या सुनते हैं तो आदर और प्रेम के लिए दुआ के ये शब्द बढ़ा देते हैं।

रह० : इसका पूर्ण रूप है **रहमतुल्लाह अलैहि,** यानी अल्लाह की उनपर रहमत हो। नबियों और सहाबी के अलावा किसी अन्य बुज़ुर्ग के नाम के साथ आदर और प्रेम के लिए दुआ के ये शब्द बढ़ा देते हैं।

अध्याय-1

समस्या क्या है?

मानव-सभ्यता की सबसे अहम और सबसे ज़्यादा पेचीदा समस्याएँ दो हैं, जिनके सही और संतुलित हल पर इंसान की भलाई और तरक़्क़ी निर्भर है और जिनको हल करने में बहुत प्राचीन काल से आज तक दुनिया के विचारक और विद्वान परेशान और प्रयत्नशील रहे हैं। पहली समस्या यह है कि सामूहिक जीवन में औरत और मर्द का सम्बन्ध किस तरह क़ायम किया जाए, क्योंकि यही सम्बन्ध असल में सभ्यता की आधारशिला है और इसका हाल यह है कि अगर इसमें ज़रा-सी भी टेढ़ आ जाए तो आसमान तक दीवार टेढ़ी ही चली जाए। और दूसरी समस्या व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की है, जिसका सन्तुलन स्थापित करने में अगर तनिक भर भी कमी रह जाए तो सदियों तक इंसानी दुनिया को इसके कड़वे नतीजे भुगतने पड़ते हैं।

एक ओर इन दोनों समस्याओं की अहमियत का यह हाल है, दूसरी ओर इनकी पेचीदगी इतनी बढ़ी हुई है कि जब तक प्रकृति के तथ्यों पर किसी की पूरी नज़र न हो, वह इनको हल नहीं कर सकता। सच कहा था, जिसने भी कहा था कि इंसान एक छोटी-सी दुनिया है। उसके शरीर की बनावट, उसके मन-मस्तिष्क की संरचना, उसकी ताक़तें, उसकी योग्यताएँ, उसकी इच्छाएँ, चाहतें और ज़रूरतें, उसकी भावनाएँ और अपने वुजूद से बाहर की बहुत-सी चीज़ों के साथ उसके प्रभाव डालने और प्रभाव ग्रहण करने के ताल्लुक़ात, ये सब चीज़ें एक दुनिया-की-दुनिया अपने भीतर रखती हैं। इंसान को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता, जब तक कि उस दुनिया का एक-एक हिस्सा निगाह के सामने रौशन न हो जाए और इंसानी ज़िंदगी की बुनियादी समस्याएँ हल नहीं की जा सकतीं, जब तक कि ख़ुद इंसान को पूरी तरह न समझ लिया जाए।

यही वह पेचीदगी है जो बुद्धि व विवेक के सारे प्रयत्नों का मुक़ाबला शुरू से कर रही है और आज तक किए जा रही है। एक तो इस दुनिया की तमाम हक़ीक़तें अभी तक इंसान पर खुली ही नहीं। इंसानी ज्ञानों में से कोई ज्ञान भी

ऐसा नहीं है जो परिपूर्णता के अन्तिम चरण पर पहुँच चुका हो, यानी जिसके बारे में यह दावा किया जा सकता हो कि जितनी हक़ीक़तें ज्ञान के इस क्षेत्र से ताल्लुक़ रखती हैं उन सबको उसने मालूम कर लिया है। मगर जो तथ्य प्रकट हो चुके हैं उनकी व्यापकताओं और बारीकियों का भी यह हाल है कि किसी इंसान की, बल्कि इंसानों के किसी गरोह की, नज़र भी उन सब पर एक ही समय में हावी नहीं होती। एक पहलू सामने आता है और दूसरा पहलू नज़रों से ओझल रह जाता है। कहीं नज़र चूक जाती है और कहीं व्यक्तिगत रुझान नज़र के सामने परदा बन जाते हैं। इस दोहरी कमज़ोरी की वजह से इंसान ख़ुद अपनी ज़िंदगी की उन समस्याओं को हल करने के जितने उपाय भी करता है, वे नाकाम होते हैं और तजुर्बा आख़िरकार उनके दोष को उजागर कर देता है। सही हल सिर्फ़ उसी समय संभव है जबकि संतुलन-बिन्दु को पा लिया जाए और संतुलन-बिन्दु पाया नहीं जा सकता जब तक कि तमाम हक़ीक़तें न सही, कम-से-कम जानी-पहचानी हक़ीक़तों ही के सारे पहलू समान रूप से निगाह के सामने न हों। मगर जहाँ दृश्य की व्यापकता अपने आपमें इतनी ज़्यादा हो कि निगाह उसपर छा न सके और इसके साथ इंसान के मन की इच्छाएँ, रुचि और घृणा के झुकावों की यह प्रबलता हो कि जो चीज़ें साफ़ नज़र आती हों, उनकी ओर से भी निगाह स्वतः फिर जाए, वहाँ संतुलन-बिन्दु किस तरह मिल सकता है? वहाँ तो जो हल भी होगा उसमें अवश्य ही अतियाँ पाई जाएँगी, या इस ओर की या उस ओर की।

ऊपर जिन दो समस्याओं का उल्लेख किया गया है, उनमें से सिर्फ़ पहली समस्या पर हम वार्ता करेंगे। इस सिलसिले में जब हम इतिहास पर निगाह डालते हैं तो हमको अतियों की खींच-तान का एक अनोखा क्रम दिखाई देता है। एक ओर हम देखते हैं कि वही औरत जो माँ की हैसियत से आदमी को जन्म देती है और बीवी की हैसियत से ज़िंदगी की हर ऊँच-नीच में मर्द की साथी रहती है, सेविका, बल्कि दासी के दर्जे में रख दी गई है। उसको बेचा और ख़रीदा जाता है। उसको मिल्कियत और विरासत के तमाम हक़ों से महरूम रखा जाता है। उसको साक्षात् पाप और अपमान समझा जाता है और उसके व्यक्तित्व को उभरने और विकसित होने का कोई मौक़ा नहीं दिया

जाता। दूसरी ओर हमें यह नज़र आता है कि वही औरत उठाई और उभारी जा रही है, मगर इस शान से कि उसके साथ दुराचार और अराजकता का तूफ़ान भी उठ रहा है। वह हैवानी इच्छाओं का खिलौना बनाई जाती है। उसको वास्तव में शैतान का एजेंट बनाकर रख दिया जाता है और उसके उभरने के साथ मानवता के गिरने का सिलसिला शुरू हो जाता है।

इन दोनों अतियों को हम केवल विचारात्मक दृष्टि से न्यूनाधिक के नामों से परिभाषित नहीं करते, बल्कि तजुर्बा जब इनके बुरे नतीजों का पूरा-पूरा रिकार्ड हमारे सामने लाकर रख देता है तब हम नैतिकता की भाषा में एक अति को विस्तार और दूसरी को संकोच कहते हैं। इतिहास बताता है कि जब एक क़ौम असभ्यता के दौर से निकलकर संस्कृति और सभ्यता की ओर बढ़ती है तो उसकी औरतें, लौंडियों और सेविकाओं की हैसियत से उसके मर्दों के साथ होती हैं। शुरू में असभ्य ताक़तों का ज़ोर उसे आगे बढ़ाए लिए जाता है, मगर सभ्यता की एक ख़ास मंज़िल पर पहुंचकर उसे महसूस होता है कि अपनी आबादी के पूरे आधे हिस्से को पस्ती की हालत में रखकर वह आगे नहीं जा सकती। उसको अपनी तरक़्क़ी की रफ़्तार रुकती नज़र आती है और ज़रूरत का एहसास उसे मजबूर करता है कि इस दूसरे-आधे को भी पहले-आधे के साथ चलने के क़ाबिल बनाए। मगर जब वह इस नुक़सान की भरपाई को पूरा करना शुरू करती है तो सिर्फ़ भरपाई पर बस नहीं करती, बल्कि आगे बढ़ती चली जाती है, यहाँ तक कि औरत की आज़ादी से पारिवारिक व्यवस्था (जो सभ्यता की बुनियाद है) ध्वस्त हो जाती है। औरतों और मर्दों के मेल से बेहयाई (अश्लीलता) की बाढ़ आ जाती है, कामुकता और ऐशपरस्ती पूरी क़ौम के चरित्र को तबाह करती है और चरित्र की गिरावट के साथ बौद्धिक, शारीरिक और भौतिक शक्तियों का पतन भी अवश्य प्रकट होता है। जिसका आख़िरी अंजाम हलाकत व बरबादी के सिवा कुछ नहीं।

यहाँ इतनी गुंजाइश नहीं है कि इतिहास से इसकी मिसालें अधिक विस्तार के साथ दी जा सकें, मगर अपने मक़सद को स्पष्ट करने के लिए दो-चार मिसालें ज़रूरी हैं।

यूनान

पुरानी क़ौमों में से जिस क़ौम की सभ्यता सबसे ज़्यादा शानदार नज़र आती है, वह क़ौम यूनानी है। इस क़ौम के शुरू के दौर में नैतिक दृष्टिकोण, न्यायिक अधिकार और समाजी बर्ताव, हर एतिबार से औरत की हैसियत बहुत गिरी हुई थी। यूनानी मिथक (Mythology) में एक काल्पनिक औरत पांडोरा (Pandora) को उसी तरह तमाम इंसानी मुसीबतों का कारण बता दिया गया था, जिस तरह यहूदी मिथकों में हज़रत हव्वा (अलै.) को बताया गया है। हज़रत हव्वा (अलै.) के बारे में इस ग़लत कहानी की शोहरत ने औरत के बारे में यहूदी और ईसाई क़ौमों के रवैये, क़ानून, सामाजिक नियम, चरित्र और हर चीज़ पर जिस तरह असर डाला है, वह किसी से छिपा नहीं है। क़रीब-क़रीब ऐसा ही असर पांडोरा के अंधविश्वास का यूनानी ज़ेहन पर भी हुआ था। उनकी निगाह में औरत एक मामूली दर्जे की प्राणी थी। रहन-सहन के हर पहलू में उसका दर्जा गिरा हुआ रखा गया था और इज़्ज़त का दर्जा मर्द के लिए ख़ास कर दिया गया था।

सभ्यता की तरक़्क़ी के शुरू के मरहलों में यह तरीक़ा थोड़े रद्दोबदल के साथ बाक़ी रहा। संस्कृति और ज्ञान की रौशनी का सिर्फ़ इतना असर हुआ कि औरत का क़ानूनी दर्जा तो ज्यों का त्यों रहा, अलबत्ता रहन-सहन के मामले में उसको कुछ और ऊँची हैसियत दे दी गई। वह यूनानी घर की रानी थी। उसके कर्त्तव्यों का दायरा घर तक सीमित था और इन हदों में उसे पूरे इख़्तियार हासिल थे। उसकी आबरू एक क़ीमती चीज़ थी जिसको क़द्र और इज़्ज़त की निगाह से देखा जाता था। शरीफ़ यूनानियों के यहाँ परदे का रिवाज था। उनके घरों में ज़नानख़ाने मर्दानख़ानों से अलग होते थे। उनकी औरतें मिली-जुली महफ़िलों में शरीक न होती थीं, न खुलेआम सामने लाई जाती थीं। निकाह (विवाह) के ज़रीए किसी एक मर्द के साथ वाबस्ता होना औरत के लिए शराफ़त की बात थी और इसमें उसी की इज़्ज़त थी। वेश्या बनकर रहना उसके लिए अपमानजनक समझा जाता था। यह उस ज़माने का हाल था जब यूनानी क़ौम ख़ूब ताक़तवर थी और पूरे ज़ोर के साथ तरक़्क़ी की सीढ़ियाँ तय कर रही थी। उस दौर में नैतिक दोष ज़रूर पाए जाते थे, मगर वे एक हद के अन्दर थे। यूनानी

औरतों से चरित्र की जिस सुथराई, पवित्रता और पाकदामनी की अपेक्षा की जाती थी वह मर्दों से नहीं की जाती थी। उनसे न इसकी माँग थी और न नैतिक दृष्टि से किसी मर्द से यह उम्मीद की जाती थी कि वह पाक ज़िंदगी बसर करेगा। वेश्याएँ यूनानी समाज का अटूट हिस्सा थीं और उनसे ताल्लुक़ रखना मर्दों के लिए किसी तरह भी कोई ऐब न समझा जाता था।

धीरे-धीरे यूनानियों पर वासना और कामुकता का रंग चढ़ना शुरू हुआ। उस दौर में वेश्याओं को वह तरक़्क़ी मिली जिसकी मिसाल पूरे मानव-इतिहास में नहीं मिलती। वेश्या का कोठा यूनानी समाज के छोटे से लेकर ऊँचे तबक़े तक हर एक के पहुँचने की जगह और केन्द्र बना हुआ था। दार्शनिक, कवि, इतिहासकार, साहित्यकार और कला विशेषज्ञ, अर्थात् ये सब ग्रह उसी सूर्य के चारों ओर घूमते थे। वह न सिर्फ़ ज्ञान और साहित्य की महफ़िलों की अध्यक्षा थी, बल्कि बड़े-बड़े राजनीतिक मामले भी उसी के समक्ष तय होते थे। क़ौम की ज़िंदगी व मौत का फ़ैसला जिन बातों से जुड़ा हुआ था, उनमें उस औरत की राय को अहमियत दी जाती थी जिसकी दो रातें भी किसी एक व्यक्ति के साथ वफ़ादारी में बसर न होती थीं। यूनानियों की सौन्दर्य-प्रियता और हुस्नपरस्ती ने उनमें वासना और कामुकता की आग को और ज़्यादा भड़काया। वे अपनी इस रुचि को जिन प्रतिमाओं (या कला के नंगे नमूनों) में ज़ाहिर करते थे वही उनकी कामवासना को और ज़्यादा भड़काती चली जाती थी, यहाँ तक कि उनके ज़ेहन से यह ख़याल ही निकल गया था कि कामलिप्तता भी कोई नैतिक दोष है। उनका नैतिक-स्तर इतना बदल गया था कि बड़े-बड़े दार्शनिक और नैतिकता के शिक्षक भी व्यभिचार और बेहयाई (अश्लीलता) में कोई दोष न पाते थे और न उसे निन्दा की कोई चीज़ समझते थे। आमतौर से यूनानी लोग विवाह को एक ग़ैर ज़रूरी रस्म समझने लगे थे और विवाह के बिना औरत और मर्द का ताल्लुक़ बिल्कुल उचित समझा जाता था, जिसको किसी से छिपाने की ज़रूरत न थी।[1] आख़िरकार उनके धर्म ने भी उनकी पाशविक इच्छाओं के आगे हथियार डाल दिए। कामदेवी (Aphrodite) की पूजा तमाम यूनान में फैल गई, जिसकी दास्तान उनके मिथकों में यह थी कि एक देवता की बीवी होते हुए

1. लगभग यही स्थिति आधुनिक युग में 'Live-in-Relations' की है। (प्रकाशक)

उसने तीन दूसरे देवताओं से आशनाई कर रखी थी, और उनके अलावा एक नश्वर इंसान को भी उस के दरबार में जगह पाने का सौभाग्य प्राप्त था। उसी के पेट से मुहब्बत का देवता क्यूपिड पैदा हुआ जो उस देवी और उस के ग़ैर-क़ानूनी दोस्त की आपसी लगावट का नतीजा था। यह उस क़ौम की उपास्या थी, और अन्दाज़ा किया जा सकता है कि जो क़ौम ऐसे कैरेक्टर को न सिर्फ़ आदर्श बल्कि उपास्य तक का दर्जा दे दे, उसके नैतिक स्तर की गिरावट का क्या हाल होगा? यह नैतिक गिरावट का वह दर्जा है जिसमें गिरने के बाद कोई क़ौम फिर कभी न उभर सकी। भारत में वाम मार्ग और ईरान में मज़्दकियत (मानी धर्म) ऐसे ही गिरावट के दौर में प्रकट हुई। बाबिल (Babylon) में भी वेश्या-वृत्ति को धार्मिक पवित्रता का दर्जा ऐसे ही हालात में हासिल हुआ जिसके बाद फिर दुनिया ने कभी बाबिल (Babylon) का नाम भूली-बिसरी कहानी के सिवा किसी दूसरी हैसियत से न सुना। यूनान में जब कामदेवी की पूजा शुरू हुई तो वेश्यालय इबादतगाह में बदल गया। वेश्याएँ देवदासियाँ बन गईं और व्यभिचार तरक़्क़ी करके एक पवित्र धार्मिक कर्म के दर्जे तक पहुँच गया।

इसी कामलिप्तता का एक दूसरा रूप यह था कि यूनानी क़ौम में समलैंगिक यौनाचार एक महामारी की तरह फैला और धर्म और नैतिकता ने इसका भी स्वागत किया। होमर और हस्यूड के ज़माने में इस कर्म का नाम व निशान तक नहीं मिलता, मगर सभ्यता की तरक़्क़ी ने जब आर्ट और सौन्दर्य-प्रियता (Asthetics) के सभ्य नामों से नग्नता और काम वासना की बन्दगी को सराहना शुरू किया तो कामोत्तेजना बढ़ते-बढ़ते इस हद तक पहुँच गई कि प्रकृति के रास्ते से आगे बढ़कर यूनानियों को अप्राकृतिक तरीक़े में काम-तृप्ति की खोज करनी पड़ी। आर्ट के माहिरों ने इस जज़्बे को प्रतिमाओं में उजागर किया। नैतिकता की शिक्षा देनेवालों ने इसको दो आदमियों के बीच 'दोस्ती का मज़बूत रिश्ता' क़रार दिया।[1] सबसे पहले दो यूनानी इंसान जो इस सम्मान

1. अब आधुनिक काल में इस लानत की आग पुरुष-पुरुष के बीच 'गे' (Gay) के रूप में ... और साथ ही ...स्त्री-स्त्री के बीच 'लज़्बियन' (Lesbian) के रूप में, पाश्चात्य देशों में फैलकर भारत में भी फैलने लगी है। (प्रकाशक)

के हक़दार समझे गए कि उनके वतन के लोग उनकी प्रतिमाएँ बनाकर उनकी याद ताज़ा रखें, वे हरमूडियस और आरिस्टोगेटन थे जिनके बीच अप्राकृतिक प्रेम का ताल्लुक़ था।

इतिहास गवाह है कि उस दौर के बाद यूनानी क़ौम को ज़िंदगी का कोई दूसरा दौर फिर नसीब नहीं हुआ।

रोम

यूनानियों के बाद जिस क़ौम को दुनिया में तरक़्क़ी मिली, वे रोम के लोग थे। यहाँ फिर वही उतार-चढ़ाव की तस्वीर हमारे सामने आती है जो ऊपर आप देख चुके हैं। रोमन असभ्यता के अंधेरे से निकलकर जब इतिहास के रौशन दौर में दाख़िल होते हैं तो उनकी सामाजिक व्यवस्था का नक़्शा यह होता है कि मर्द अपने ख़ानदान का सरदार है, उसको अपनी बीवी-बच्चों पर पूरे मालिकाना हक़ हासिल हैं, बल्कि कुछ हालतों में वह बीवी को क़त्ल भी कर देने का हक़ रखता है।

जब बर्बरता में कमी आई और सभ्यता और संस्कृति में रोमनों का क़दम आगे बढ़ा तो यद्यपि प्राचीन ख़ानदानी व्यवस्था बाक़ायदा क़ायम रही, लेकिन व्यवहारतः उसकी सख़्तियों में कुछ कमी पैदा हुई और एक हद तक सन्तुलित स्थिति पैदा होती गई। रोमन लोकतंत्र की तरक़्क़ी के ज़माने में यूनान की तरह परदे का रिवाज तो न था, मगर औरत और जवान नस्ल को ख़ानदानी व्यवस्था में कसकर रखा गया था। पाकदामनी और सतीत्व ख़ास तौर से औरत के मामले में एक क़ीमती चीज़ थी और उसको शराफ़त का मेयार समझा जाता था। चरित्र का स्तर काफ़ी ऊँचा था। एक बार रोमन सीनेट के एक मेम्बर ने अपनी बेटी के सामने अपनी बीवी का चुम्बन लिया तो उसको राष्ट्रीय चरित्र की बड़ी तौहीन समझा गया और सीनेट में उस पर निन्दा-प्रस्ताव पास किया गया। औरत और मर्द के ताल्लुक़ की जायज़ और शरीफ़ाना शक्ल विवाह के सिवा कोई दूसरी न थी। एक औरत उसी वक़्त इज़्ज़त की हक़दार हो सकती थी जब कि वह एक ख़ानदान की माँ (Matron) हो। वेश्याएँ अगरचे मौजूद थीं और मर्दों को एक हद तक इस वर्ग से ताल्लुक़ रखने की आज़ादी भी थी, मगर आम

रोमनों की निगाह में उसकी हैसियत अत्यन्त निन्दनीय थी और उनसे ताल्लुक़ रखनेवाले मर्दों को भी अच्छी नज़र से न देखा जाता था।

सभ्यता और संस्कृति की तरक़्क़ी के साथ-साथ रोमवासियों का नज़रिया औरत के बारे में बदलता चला गया और धीरे-धीरे निकाह (विवाह) व तलाक़ के क़ानून और पारिवारिक व्यवस्था के सृजक तत्त्वों में इतनी तब्दीली हुई कि स्थिति पिछले हालात से बिलकुल उलट गई। विवाह सिर्फ़ एक क़ानूनी समझौता (Civil Contract) बनकर रह गया, जिसका क़ायम होना और ज़िंदा रहना दोनों फ़रीक़ों (पक्षों) की रज़ामंदी पर आश्रित था। दाम्पत्य-सम्बन्ध की ज़िम्मेदारियों को बहुत हल्का समझा जाने लगा। औरत को विरासत और माल की मिल्कियत के पूरे हक़ दे दिए गए और क़ानून ने उसको बाप और शौहर के इक़्तिदार (प्रभुत्त्व) से बिलकुल आज़ाद कर दिया। रोमन औरतें आर्थिक हैसियत से न सिर्फ़ ख़ुदमुख़्तार हो गईं, बल्कि राष्ट्रीय सम्पत्ति का एक बड़ा हिस्सा क्रमशः उनके अधिकार में चला गया। वे अपने शौहरों को भारी ब्याज-दर पर क़र्ज़ देती थीं और मालदार औरतों के शौहर अमली तौर पर उनके ग़ुलाम बनकर रह जाते थे। तलाक़ की आसानियाँ इतनी बढ़ीं कि बात-बात पर पति-पत्नी का रिश्ता तोड़ा जाने लगा। मशहूर रोमन दार्शनिक और चिन्तक सेनीका (सन् 04 ई. पू.–056 ई.) सख़्ती के साथ रोमवासियों के ज़्यादा तलाक़ देने पर मातम करता है। वह कहता है कि अब रोम में तलाक़ कोई शर्मनाक बात नहीं रही। औरतें अपनी उम्र का हिसाब शौहरों की तादाद से लगाती हैं। उस दौर में एक औरत एक के बाद एक कर कई-कई शादियाँ करती चली जाती थी। मार्शल (सन् 43 ई.–104 ई.) एक औरत का ज़िक्र करता है जो दस शौहर कर चुकी है। जुवेनल (सन् 60 ई.–104 ई.) एक औरत के बारे में लिखता है कि उसने पाँच साल में आठ शौहर बदले। सेंट जेरोम (340 ई.–420 ई.) उन सबसे ज़्यादा एक बाकमाल औरत का हाल लिखता है जिसने आख़िरी बार तेईसवाँ शौहर किया था और अपने शौहर की भी वह इक्कीसवीं बीवी थी।

उस दौर में औरत और मर्द के अवैवाहिक सम्बन्ध को बुरा समझने का ख़याल भी दिलों से निकलता चला गया, यहाँ तक कि नैतिकता के बड़े-बड़े

शिक्षक भी व्यभिचार को एक मामूली चीज़ समझने लगे। 'केटो' (Cato), जिसको सन् 184 ई. पू. में रोम के अख़लाक़ का निगराँ मुक़र्रर किया गया था, जवानी के आवारापन को उचित ठहराता है। सिसरो जैसा आदमी नौजवानों के लिए अख़लाक़ के बन्धन ढीले करने की सिफ़ारिश करता है, यहाँ तक कि एपिक्टेटस (Epictetus), जो आत्मसंयमी दार्शनिकों (Stoics) में बहुत ही कड़े नैतिक नियमों का धारक समझा जाता था, अपने शिष्यों को हिदायत करता है कि जहाँ तक हो सके शादी से पहले औरत की संगति से बचो, मगर जो इस मामले में संयम (कन्ट्रोल) न रख सकें उनकी निन्दा भी न करो।

अख़लाक़ और सामाजिकता के बन्धन जब इतने ढीले हो गए तो रोम में वासना, नग्नता, अश्लीलता और बेहयाई की बाढ़ आ गई। थियेटरों में बेहयाई और अश्लीलता की नुमाइश होने लगी। नंगी और बहुत ही गंदी तस्वीरें हर घर की सजावट के लिए ज़रूरी हो गईं। वेश्यावृत्ति के कारोबार को वह तरक़्क़ी हासिल हुई कि क़ैसर टाइबेरियस (सन् 14 37 ई.) के दौर में शरीफ़ ख़ानदान की औरतों को पेशेवर वेश्या बनने से रोकने के लिए एक क़ानून लागू करने की ज़रूरत पेश आ गई। फ़्लोरा (Flora) नामक एक खेल रोमवासियों में बहुत मशहूर हुआ, क्योंकि उसमें नंगी औरतों की दौड़ हुआ करती थी। औरतों और मर्दों के खुले आम इकट्ठा नहाने का रिवाज भी उस दौर में आम था। रोमन साहित्य में बेहयाई और अश्लीलता की बातें बे-झिझक बयान की जाती थीं और आम और ख़ास लोगों में वही साहित्य पसन्द किया जाता था जिसमें यौन-सम्बन्धी बातों को बयान करने में सांकेतिक शैली तक का परदा भी न रखा गया हो।

हैवानी ख़ाहिशों और वासनापूर्ण इच्छाओं में इस हद तक जकड़ जाने के बाद रोम के वैभव का महल इस तरह धरती पर ढहा कि फिर उसकी एक ईंट भी अपनी जगह पर क़ायम न रही।

ईसाई यूरोप

पश्चिमी दुनिया की इस नैतिक गिरावट का इलाज करने के लिए ईसाइयत पहुँची और शुरू-शुरू में उसने बड़ी अच्छी सेवाएँ कीं। बेहयाई और

अश्लीलता की रोक-थाम की, नम्रता को ज़िंदगी के हर हिस्से से निकाला और वेश्यावृत्ति को बन्द करने के उपाय किए। वेश्याओं, गायिकाओं और नर्तकियों को उनके पेशे से तौबा कराई और पवित्र नैतिक धारणाएँ लोगों में पैदा कीं। मगर औरत और यौन-सम्बन्धों के बारे में ईसाइयों के धर्मगुरु जो विचार रखते थे, वे एक दूसरी ही चरम सीमा पर थे, और साथ ही यह इंसान के स्वभाव के ख़िलाफ़ लड़ाई का एलान भी था।

उनका आरंभिक और बुनियादी नज़रिया यह था कि औरत गुनाह की जननी और बुराई की जड़ है। पाप के विकास का स्रोत और जहंन्नम का दरवाज़ा है। सारी इंसानी मुसीबतों की शुरुआत इसी से हुई है। उसका औरत होना ही उसके शर्मनाक होने के लिए काफ़ी है। उसको अपने हुस्न और ख़ूबसूरती पर शरमाना चाहिए, क्योंकि वह शैतान का सबसे बड़ा हथियार है। उसको हमेशा ही इसका प्रायश्चित करते रहना चाहिए, क्योंकि वह दुनिया और दुनियावालों पर लानत और मुसीबत लाई है। तरतूलियान (Tertullian), जो शुरू दौर के ईसाई गुरुओं में से था, औरत के बारे में ईसाई विचारों को इन शब्दों में व्यक्त करता है –

> "वह शैतान के आने का दरवाज़ा है, वह वर्जित वृक्ष की ओर ले जानेवाली,[1] ख़ुदा के क़ानून को तोड़नेवाली, ख़ुदा की तस्वीर–मर्द को ग़ारत करनेवाली है।"

क्राइसोस्टम (Chrysostum), जो ईसाइयों के बड़े सरपरस्तों में गिना जाता है, औरत के बारे में कहता है –

> "एक ज़रूरी बुराई, एक पैदाइशी वसवसा, एक पसन्दीदा आफ़त,

---

1. 'वर्जित वृक्ष' अर्थात् वह पेड़ जिसकी ओर जाने से, बाइबल के (और क़ुरआन के भी) अनुसार, स्वर्ग में अल्लाह ने आदम व हव्वा को मना किया था। क़ुरआन के अनुसार शैतान के बहकाने से दोनों ने एक साथ इस आदेश की अवहेलना की, किन्तु बाइबल के अनुसार शैतान के बहकावे में आकर हव्वा ने आदम को बहकाया, अतः हव्वा ही अस्ल मुजरिम थीं। इस तरह वे 'शैतान के आने का दरवाज़ा' हुईं और मर्द को तबाह व ग़ारत करनेवाली। (प्रकाशक)

एक घरेलू ख़तरा, एक तबाह करनेवाली प्रीति, एक सजी-सजाई मुसीबत।"

उनका दूसरा दृष्टिकोण यह था कि औरत और मर्द का यौन-सम्बन्ध अपने आपमें एक गन्दगी और एक आपत्तिजनक चीज़ है, चाहे वह विवाह की शक्ल ही में क्यों न हो। नैतिकता की यह संन्यासवादी धारणा जो पहले से नव-प्लेटोनिज़्म (Neo-Platonism) के प्रभाव से पश्चिम में जड़ पकड़ रही थी, ईसाइयत ने आकर इसे हद को पहुँचा दिया। अब अविवाहित साधु और अविवाहिता साध्वी बने रहना नैतिकता का आदर्श बना और गृहस्थी की ज़िंदगी नैतिक दृष्टिकोण से निकृष्ट और तुच्छ समझी जाने लगी। लोग शादियों से बचने को नेकी, पवित्रता और अख़लाक़ की बुलन्दी की चीज़ समझने लगे। पाक मज़हबी ज़िंदगी बसर करने के लिए यह ज़रूरी हो गया कि या तो आदमी विवाह ही न करे, या अगर विवाह कर लिया हो तो शौहर और बीवी एक-दूसरे से दाम्पत्य-सम्बन्ध न रखें। बहुत-सी मज़हबी मज्लिसों में यह क़ानून बना दिया गया कि चर्च के पदाधिकारी अकेले में अपनी बीवियों से न मिलें, मियाँ और बीवी की मुलाक़ात हमेशा खुली जगह में हो और कम से कम दो पराए आदमी वहाँ मौजूद हों। दाम्पत्य-सम्बन्ध के नापाक होने का विचार तरह-तरह से ईसाइयों के मन में बिठाया जाता था, जैसे कि एक क़ायदा यह था कि जिस दिन चर्च का कोई त्योहार हो, उससे पहले की रात जिन मियाँ-बीवी ने एक साथ गुज़ारी हो, वे त्योहार में शरीक नहीं हो सकते। मानो उन्होंने कोई गुनाह किया है जिसमें लिप्त होने के बाद वे किसी पवित्र मज़हबी काम में हिस्सा लेने के क़ाबिल नहीं रहे। इस संन्यासवादी धारणा ने तमाम ख़ानदानी ताल्लुक़ात, यहाँ तक कि माँ और बेटे तक के ताल्लुक़ में कड़वाहट पैदा कर दी और हर वह रिश्ता गन्दगी और गुनाह बन कर रह गया जो विवाह का नतीजा हो।

इन दोनों नज़रियों ने न सिर्फ़ नैतिकता और सामाजिकता में औरत की हैसियत हद से ज़्यादा गिरा दी, बल्कि सांस्कृतिक नियमों को भी इतना प्रभावित किया कि एक ओर दाम्पत्य जीवन मर्दों और औरतों के लिए मुसीबत बनकर रह गया और दूसरी ओर समाज में औरत का दर्जा हर पहलू से गिर गया। ईसाई

शरीअत के प्रभाव-स्वरूप जितने क़ानून पश्चिमी दुनिया में लागू हुए, उन सबकी विशेषताएँ ये थीं –

1. आर्थिक रूप से औरत को बिलकुल बेबस करके मर्द के क़ाबू में दे दिया गया। विरासत में उसके हक़ बहुत सीमित थे और मिल्कियत में उससे भी ज़्यादा सीमित। वह ख़ुद अपनी मेहनत की कमाई पर भी इख़्तियार न रखती थी, बल्कि उसकी हर चीज़ का मालिक उसका शौहर था।

2. तलाक़ और ख़ुलअ[1] की तो सिरे से इजाज़त ही न थी। मियाँ-बीवी में चाहे कितनी ही दूरी और कटुता हो, आपसी ताल्लुक़ात की ख़राबी से भले ही घर जहन्नम बन गया हो, मज़हब और क़ानून दोनों उनको ज़बरदस्ती एक-दूसरे के साथ बँधे रहने पर मजबूर करते थे। कुछ अत्यन्त गंभीर हालात में ज़्यादा से ज़्यादा अगर कोई हल निकल सकता था तो वह सिर्फ़ यह था कि मियाँ-बीवी में अलगाव (Separation) करा दिया जाए, यानी वे एक-दूसरे से बस अलग कर दिए जाएँ। अलग होकर दूसरे विवाह का हक़ न औरत को था, न मर्द को। सच तो यह है कि यह हल पहली शक्ल से भी बुरा था, क्योंकि इसके बाद उनके लिए इसके सिवा कोई रास्ता न था कि या तो वे दोनों राहिब (संन्यासी) और राहिबा (संन्यासिनी) बन जाएँ या फिर तमाम उम्र बदकारी और दुष्कर्म करते रहें।

3. शौहर के मरने पर बीवी के लिए और बीवी के मरने पर शौहर के लिए दूसरा विवाह करना ज़बरदस्त ऐब की बात, बल्कि गुनाह क़रार दिया गया था। ईसाई उलमा कहते थे कि यह सिर्फ़ हैवानी ख़ाहिशों की दासता और मात्र वासनापूर्ति है। उनकी भाषा में इस कर्म का नाम 'परिष्कृत व्यभिचार' था। चर्च के क़ानून में मज़हबी ओहदेदारों के लिए दूसरा विवाह करना जुर्म था। देश के आम क़ानूनों में कुछ जगहों पर इसकी सिरे से इजाज़त ही न थी, और जहाँ क़ानून इजाज़त देता था वहाँ भी जनमत, जो मज़हबी धारणाओं के अधीन था, उसको जायज़ न रखता था।

---

1. 'ख़ुलअ़' – अर्थात पत्नी का, अपनी ओर से, पति से तलाक़ लेना। (प्रकाशक)

आधुनिक यूरोप

अठारहवीं सदी ईस्वी में यूरोप के दार्शनिकों और लेखकों ने जब समाज के ख़िलाफ़ व्यक्ति के अधिकारों की हिमायत में आवाज़ उठाई और व्यक्ति की आज़ादी का बिगुल बजाया तो उनके सामने वही ग़लत सांस्कृतिक व्यवस्था थी जो ईसाई नैतिक व्यवस्था और जीवन-दर्शन और जागीरदारी व्यवस्था (Feudal System) के अशुभ मेल से पैदा हुई थी और जिसने इंसानी रूह को अप्राकृतिक ज़ंजीरों में जकड़कर तरक़्क़ी के सारे दरवाज़े बन्द कर रखे थे। इस व्यवस्था को तोड़कर एक नई व्यवस्था बनाने के लिए जो नज़रिये आधुनिक यूरोप के निर्माताओं ने पेश किए, उनके नतीजे में फ़्रांस की क्रान्ति हुई और उसके बाद पाश्चात्य संस्कृति व सभ्यता की तरक़्क़ी की रफ़्तार उन रास्तों पर लग गई, जिनपर बढ़ते-बढ़ते वह आज की मंज़िल पर पहुंची है।

इस नए दौर की शुरुआत में औरत-जाति को पस्ती से उठाने के लिए जो कुछ किया गया, सामाजिक ज़िंदगी में उसके अच्छे नतीजे निकले। विवाह व तलाक़ के पिछले क़ानूनों की सख़्ती कम की गई। औरतों के आर्थिक हक़, जो बिलकुल छीन लिए गए थे, बड़ी हद तक उन्हें वापस दिए गए। उन अख़्लाक़ी नज़रियों को सुधारा गया जिनकी वजह से औरत को अपमानित और तिरस्कृत समझा जाता था। रहन-सहन के उन नियमों में काँट-छाँट कर दी गई जिनकी वजह से औरत सचमुच दासी बनकर रह गई थी। ऊँचे दर्जे की शिक्षा-दीक्षा के दरवाज़े मर्दों की तरह औरतों के लिए भी खोले गए। इन विविध उपायों से धीरे-धीरे औरतों की योग्यताएँ, जो रहन-सहन के ग़लत क़ानूनों और अज्ञानतापूर्ण नैतिक धारणाओं के भारी बोझों तले दबी हुई थीं, उभर आईं। उन्होंने घरों को सँवारा, रहन-सहन में सुथराई पैदा की, जनता की भलाई के बहुत-से फ़ायदेमंद काम किए, आम लोगों की सेहत की तरक़्क़ी, नई नस्लों की अच्छी तर्बियत, बीमारों की ख़िदमत और गृहस्थकला की तरक़्क़ी, ये सब कुछ उस जागृति के आरंभिक फल थे जो नई सभ्यता की वजह से औरतों में पैदा हुए, लेकिन जिन नज़रियों की कोख से यह नया आन्दोलन जन्मा था उनमें शुरू ही से एक दूसरी अति (Extreme) तक पहुँचने का रुझान मौजूद था। उन्नीसवीं सदी में इस रुझान ने बड़ी तेज़ी के साथ तरक़्क़ी की और बीसवीं सदी तक

पहुँचते-पहुँचते पश्चिमी समाज असंतुलन के दूसरे चरम बिन्दु पर पहुँच गया।

ये नज़रिये, जिनपर आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता की बुनियाद रखी गई थी, तीन शीर्षकों के तहत आते हैं –

1. औरतों और मर्दों की बराबरी,
2. औरतों की आर्थिक स्वतंत्रता (Economic Independence of Women)
3. औरत-मर्द का स्वच्छंद (आज़ादाना) मेल-मिलाप।

इन तीन बुनियादों पर समाज को निर्मित करने का जो नतीजा होना चाहिए था, आख़िर वही ज़ाहिर हुआ।

1. बराबरी का मतलब यह समझ लिया गया कि औरत और मर्द न सिर्फ़ अख़लाक़ी मर्तबों और इंसानी हक़ों में बराबर हों, बल्कि सांस्कृतिक जीवन में औरत भी वही काम करे जो मर्द करते हैं, और अख़लाक़ी बन्धन औरत के लिए भी उसी तरह ढीले कर दिए जाएँ, जिस तरह मर्द के लिए पहले से ढीले हैं।

बराबरी की इस ग़लत अवधारणा ने औरत को उसके उन प्राकृतिक कामों से ग़ाफ़िल और दूर कर दिया जिनके पूरा करने पर संस्कृति, बल्कि इंसानी नस्ल, ज़िंदा रहती है। आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक कामों ने उसके व्यक्तित्व को पूरी तरह अपने भीतर सिमो लिया। चुनाव की दौड़-धूप, दफ़्तरों और कारख़ानों की नौकरी, स्वतंत्र व्यवसायिक और औद्योगिक पेशों में मर्दों के साथ मुक़ाबले, खेलों और व्यायामों की दौड़-धूप, समाज के मनोरंजक कामों में भागीदारी, क्लब और स्टेज और नाच और गाने की व्यवस्ताएँ, ये और इनके अलावा और भी बहुत-सी न करने और न कहने की चीज़ें उसपर कुछ इस तरह छा गईं कि दाम्पत्य-जीवन की ज़िम्मेदारियाँ, बच्चों की तर्बियत, ख़ानदान की ख़िदमत, घर का प्रबन्ध, सारी चीज़ें उसके प्रोग्राम से बाहर होकर रह गईं, बल्कि ज़ेहनी तौर पर उसे इन कामों—अपने असली स्वाभाविक कामों—से नफ़रत पैदा हो गई। अब पश्चिम में ख़ानदान की व्यवस्था, जो संस्कृति की

नींव का पत्थर है, बुरी तरह बिखर रही है[1] । घर की ज़िंदगी, जिसके सुकून पर इंसान की कार्य-क्षमता का विकास निर्भर है, अमली तौर पर ख़त्म हो रही है। विवाह का रिश्ता जो संस्कृति की सेवा में औरत और मर्द के सहयोग की सही शक्ल है, मकड़ी के जाले से भी ज़्यादा कमज़ोर हो गया है। नस्लों की वृद्धि को बर्थ कन्ट्रोल, गर्भपात और औलाद के क़त्ल के ज़रीए से रोका जा रहा है। नैतिक समानता की ग़लत अवधारणा ने औरतों और मर्दों के बीच अनैतिकता में बराबरी क़ायम कर दी है। वे बेहयाइयाँ जो कभी मर्दों के लिए भी शर्मनाक थीं, अब वे औरतों तक के लिए शर्मनाक नहीं रहीं।

2. औरतों की आर्थिक स्वतन्त्रता ने उनको मर्द से बे-नियाज़ (बेपरवाह) कर दिया है। वह पुराना उसूल कि मर्द कमाए और औरत घर का इन्तिज़ाम करे, अब इस नए क़ायदे से बदल गया है कि औरत और मर्द दोनों कमाएँ और घर का इन्तिज़ाम बाज़ार के सुपुर्द कर दिया जाए। इस क्रान्ति के बाद दोनों की ज़िंदगी में सिवाय एक यौन-सम्बन्ध के और कोई ताल्लुक़ ऐसा बाक़ी नहीं रहा जो उनको एक-दूसरे के साथ जुड़े रहने पर मजबूर करता हो, और ज़ाहिर है कि सिर्फ़ कामेच्छाओं को पूरा करना कोई ऐसा काम नहीं है जिसके लिए मर्द और औरत लाज़िमी तौर पर अपने आप को एक स्थायी ताल्लुक़ के बंधन में बाँधने और एक घर बनाकर संयुक्त ज़िंदगी गुज़ारने पर मजबूर हों। जो औरत अपनी रोटी आप कमाती है, अपनी तमाम ज़रूरतों को ख़ुद पूरा करती है, अपनी ज़िंदगी में दूसरे की हिफ़ाज़त और मदद की मुहताज नहीं है, वह आख़िर सिर्फ़ अपनी काम-इच्छा की तृप्ति के लिए क्यों एक मर्द की पाबन्द हो? क्यों अपने

---

1. आज स्थिति यह है कि पश्चिमी देशों में 'माता-पिता व संतान' की पारिवारिक व्यवस्था ने बिखरते-बिखरते संतान के लिए "Single Parenthood" का रूप लेना शुरू कर दिया है, जिसके अन्तर्गत अब शिशुओं का पालन-पोषण व शिक्षा-दीक्षा या तो मात्र पिता को या मात्र माता को करनी होती है क्योंकि माता या पिता एक-दूसरे को सहज ही छोड़कर किसी और से सम्बन्ध बना लेते हैं। बुढ़ापे के लिए उनके लिए 'Old-age Homes' बन गए हैं। यदि दोनों के दोनों संतान को छोड़कर मौज-मस्ती की कोई दूसरी राह निकाल लें तो संतान कहीं और पलती है, माता-पिता की ममता और स्नेह से वंचित रहकर। (प्रकाशक)

ऊपर बहुत-सी अख़लाक़ी और क़ानूनी पाबन्दियाँ लगाए? क्यों एक ख़ानदान की ज़िम्मेदारियों का बोझ उठाए? ख़ास तौर से जबकि अख़लाक़ी बराबरी की अवधारणा ने उसकी राह से वे तमाम रुकावटें भी दूर कर दी हों जो उसे आज़ादाना तरीक़े से वासना पूरी करने में पेश आ सकती थीं, तो वह अपनी ख़ाहिशों की तस्कीन के लिए आसान, मज़ेदार और सुन्दर रास्ता छोड़कर क़ुर्बानियों और ज़िम्मेदारियों के बोझ से लदा हुआ पुराना दक़ियानूसी (Old Fashioned) रास्ता क्यों अपनाए? गुनाह का ख़्याल मज़हब के साथ विदा हुआ। समाज का डर यूँ दूर हो गया कि समाज अब उसे बदचलन होने पर उसकी निन्दा नहीं करता, बल्कि हाथों हाथ लेता है। आख़िरी ख़तरा हरामी (अवैध) बच्चे के जन्म का था, सो उससे बचने के लिए गर्भ रोकने के साधन मौजूद हैं। इन साधनों के बावजूद गर्भ ठहर जाए तो उसे गिरा देने में भी कोई झिझक नहीं। इसमें भी कामयाबी न हो तो बच्चे को ख़ामोशी के साथ क़त्ल किया जा सकता है और अगर कमबख़्त मातृत्त्वभाव (ममता) ने (जो बद-क़िस्मती से अभी बिलकुल लुप्त नहीं हो सका है) बच्चे को हलाक करने से रोक भी दिया तो हरामी बच्चे की माँ बन जाने में भी कोई दोष नहीं, क्योंकि अब 'कुँवारी माँ' और 'अवैध जन्म' के हक़ में इतना प्रचार हो चुका है कि जो समाज उनको नफ़रत की निगाह से देखने की जुर्रत करेगा, उसे ख़ुद अंधविश्वासी होने का उल्टा इलज़ाम अपने सिर लेना पड़ेगा।

यह वह चीज़ है जिसने पाश्चात्य समाज की जड़ें हिलाकर रख दी हैं। आज हर देश में लाखों जवान औरतें अविवाहित रहना पसन्द करती हैं, जिनकी ज़िंदगियाँ आज़ादाना वासना पूरी करने में गुज़र रही हैं। उनमें से बहुत ज़्यादा वे औरतें हैं जो क्षणिक मुहब्बत की भावनाओं के ज़ोर से शादियाँ कर लेती हैं। मगर चूँकि अब वासनात्मक ताल्लुक़ के सिवा मर्द और औरत के बीच कोई ऐसा ज़रूरी ताल्लुक़ बाक़ी नहीं रहा है जो उन्हें स्थायी रूप से एक-दूसरे से जुड़े रहने पर मजबूर करता हो, इसलिए विवाह के रिश्ते में अब कोई मज़बूती और स्थिरता नहीं रही। पति और पत्नी, जो एक-दूसरे से बिलकुल बे-नियाज़ हो चुके हैं, आपस के ताल्लुक़ात में किसी आपसी रियायत और किसी समझौते (Compromise) के लिए तैयार नहीं होते। मात्र वासनात्मक प्रेम की भावनाएँ

बहुत जल्दी ठंडी हो जाती हैं, फिर मतभेद की एक छोटी-सी वजह, बल्कि कभी-कभी उदासीनता ही उन्हें एक-दूसरे से जुदा कर देने के लिए काफ़ी होती है। यह कारण है कि अधिकांशतः विवाहों का परिणाम तलाक़ या सम्बन्ध-विच्छेद पर होता है। गर्भनिरोध, गर्भपात, औलाद का क़त्ल, जन्म-दर में कमी और नाजायज़ बच्चों की बढ़ती हुई तादाद बड़ी हद तक इन्हीं कारणों की देन है। बदकारी, बेहयाई और यौन रोगों के फैलने में भी इस स्थिति का बड़ा दख़ल है।

3. मर्दों और औरतों के आज़ादाना मेल-मिलाप ने औरतों में हुस्न की नुमाइश, नग्नता और अश्लीलता को ग़ैर-मामूली तरक़्क़ी दे दी है। लैंगिक आकर्षण (Sexual Attraction), जो पहले ही से स्वाभाविक रूप में मर्द और औरत के बीच मौजूद है और काफ़ी ताक़तवर है, दोनों पक्षों के आज़ादाना मेल-जोल के कारण बहुत आसानी के साथ ग़ैर-मामूली हद तक तरक़्क़ी करता जाता है, फिर इस क़िस्म की मिली-जुली सोसाइटी में क़ुदरती तौर पर दानों पक्षों के भीतर यह जज़्बा उभर आता है कि प्रतिपक्ष के लिए ज़्यादा से ज़्यादा आकर्षक (Attractive) और मनमोहक बनें। और जबकि नैतिक दृष्टिकोणों के बदल जाने की वजह से ऐसा करना कोई दोष भी न रहा हो, बल्कि एलानिया मनमोहकता की शान पैदा करने को अच्छा और पसन्दीदा समझा जाने लगा हो, तो हुस्न व सौन्दर्य की नुमाइश धीरे-धीरे तमाम हदों को तोड़ती चली जाती है, यहाँ तक कि नग्नता की आख़िरी हद को पहुँचकर ही दम लेती है। यही स्थिति इस वक़्त पाश्चात्य सभ्यता में पैदा हो गई है। विपरीत लिंग के लिए चुम्बक बनने की ख़ाहिश औरत में इतनी बढ़ गई है और इतनी बढ़ती चली जा रही है कि भड़कीले पहनावों, पॉवडरों, सुर्ख़ियों और बनाव-सिंगार के नित नए सामानों से उसकी तृप्ति नहीं होती। बेचारी तंग आकर अपने कपड़ों से बाहर निकली पड़ती है, यहाँ तक कि कभी-कभी तार तक लगा नहीं रहने देती। इधर मर्दों की ओर से हर वक़्त 'कुछ और, कुछ और' का तक़ाज़ा है, क्योंकि भावनाओं में जो आग लगी हुई है वह हुस्न के बार-बार बे-परदा होने पर बुझती नहीं, बल्कि और ज़्यादा भड़कती है और ज़्यादा बे-परदा होने की माँग करती है। इन बेचारों की प्यास भी बढ़ते-बढ़ते तौंस बन गई है, जैसे किसी को

लू लग गई हो और पानी का हर घूँट प्यास को बुझाने के बजाय और भड़का देता हो। हद से बढ़ी हुई वासना की प्यास से बेचैन होकर बेचारे हर वक़्त हर मुमकिन तरीक़े से उसकी तस्कीन का सामान जुटाते रहते हैं। ये नंगी तस्वीरें, ये गंदे लिट्रेचर, ये इश्क़ व मुहब्बत की कहानियाँ, ये नंगे और जुड़वाँ नाच, ये कामोत्तेजना से भरी हुई फ़िल्में, (और ब्लू फ़िल्में) आख़िर क्या हैं? सब इसी आग को बुझाने—बल्कि अस्ल में भड़काने—के सामान हैं, जो इस ग़लत सामाजिकता ने हर सीने में लगा रखी है और अपनी इस कमज़ोरी को छिपाने के लिए इसका नाम उन्होंने रखा है 'आर्ट' (कला)।

यह घुन बड़ी तेज़ी के साथ पश्चिमी क़ौमों की ज़िंदगी की ताक़त को खा रहा है। यह घुन लगने के बाद आज तक कोई क़ौम नहीं बची। यह उन तमाम ज़ेहनी और जिस्मानी ताक़तों को खा जाता है जो कुदरत ने इंसान को ज़िंदगी और तरक़्क़ी के लिए दे रखी हैं। ज़ाहिर है कि जो लोग हर ओर से वासना पर उभारनेवाली चीज़ों से घिरे हों, जिनकी भावनाओं को हर समय एक नए आन्दोलन और एक नई उत्तेजना से वास्ता पड़े, जिनपर एक बड़ा सनसनी भरा माहौल पूरी तरह छा गया हो, जिनके ख़ून को नग्न तस्वीरें, अश्लील लिट्रेचर, उत्तेजक गाने, भड़कानेवाले नाच, इश्क़ व मुहब्बत की फ़िल्में, दिल छीननेवाले ज़िंदा दृश्य और विपरीत लिंग से हर वक़्त की मुठभेड़ के मौक़े बराबर एक जोश की हालत में रखते हों, वे कहाँ से वह अम्न, वह सुकून और वह इत्मीनान ला सकते हैं जो रचनात्मक और सृजनात्मक कामों के लिए ज़रूरी है। यही नहीं, बल्कि ऐसी उत्तेजनाओं के बीच उनको, और ख़ास तौर से उनकी जवान नस्लों को, वह ठंडा और सुकून भरा माहौल कहाँ से मिल सकता है जो उनकी ज़ेहनी और अख़लाक़ी ताक़तों के विकास के लिए ज़रूरी है। होश सँभालते ही तो हैवानी ख़ाहिशों का दैत्य उनको दबोच लेता है। उसके चँगुल में फँसकर वे पनप कैसे सकते हैं?

मानवीय चिन्तन की दर्दनाक नाकामी

तीन हज़ार साल के ऐतिहासिक उतार-चढ़ाव की यह लम्बी दास्तान एक बड़े भू-भाग से ताल्लुक़ रखती है जो पहले भी दो महान संस्कृतियों का गहवारा

रह चुका है, और अब फिर जिसकी संस्कृति का डंका दुनिया में बज रहा है। ऐसी ही दास्तान मिस्र, बाबिल, ईरान और दूसरे देशों की भी है और ख़ुद हमारा देश भारत भी सदियों से दो इन्तिहाओं (अतियों) में फँसा हुआ है। एक ओर औरत दासी बनाई जाती है, मर्द उसका स्वामी और पतिदेव यानी मालिक और माबूद (पूज्य) बनता है। उसको बचपन में बाप की, जवानी में शौहर की और विधवा होने पर औलाद की दासी बनकर रहना पड़ता है। उसे शौहर की चिता पर भेंट चढ़ाया जाता है। उसको मिल्कियत और विरासत के अधिकारों से वंचित रखा जाता है। उसपर विवाह के बड़े कड़े क़ानून लाद दिए जाते हैं जिनके मुताबिक़ वह अपनी मर्ज़ी और पसन्द के बिना एक मर्द के हवाले की जाती है और फिर ज़िंदगी की आख़िरी साँस तक उसकी दासता से किसी हाल में नहीं निकल सकती। उसको यहूदियों और यूनानियों की तरह गुनाह और अख़लाक़ और रूह की पस्ती की प्रतिमा समझा जाता है और उसके स्थायी व्यक्तित्त्व को मानने से इंकार कर दिया जाता है। दूसरी ओर जब उसपर कृपा-दृष्टि होती है तो उसे हैवानी ख़ाहिशों का खिलौना बना लिया जाता है। वह मर्द के दिल व दिमाग़ पर सवार हो जाती है, और ऐसी सवार होती है कि ख़ुद भी डूबती है और अपने साथ सारी क़ौम को भी ले डूबती है। यह लिंग और योनि की पूजा, यह उपासनाग्रहों व गुफाओं में नंगी और युगल मूर्तियाँ, ये देवदासियाँ (Religious Prostitutes), ये होली के खेल, ये नदियों के अर्द्धनग्न स्नान आख़िर किस चीज़ की यादगारें हैं? उस वाममार्गी आन्दोलन की बची-खुची ख़राबियाँ ही तो हैं जो ईरान, बाबिल, यूनान और रोम की तरह भारत में भी संस्कृति व सभ्यता की अत्योन्नति के बाद छूत की बीमारी की तरह फैली और हिन्दू क़ौम को सदियों के लिए गिरावट और पस्ती के गढ़े में फेंक गई।

इस दास्तान को गहरी नज़र से देखिए तो मालूम होगा कि औरत के मामले में संतुलन-बिन्दु को पाना और उसे समझना और उसपर क़ायम होना इंसान के लिए कितना कठिन साबित हुआ है। संतुलन-बिन्दु यही हो सकता है कि एक ओर औरत को अपने व्यक्तित्त्व और अपनी योग्यताओं की तरक़्क़ी का पूरा मौक़ा मिले और उसे इस क़ाबिल बनाया जाए कि वह ज़्यादा से ज़्यादा उन्नत योग्यताओं के साथ इंसानी संस्कृति व सभ्यता की तरक़्क़ी में अपना हिस्सा

अदा कर सके। मगर दूसरी ओर उसको अख़लाक़ी गिरावट और पस्ती का ज़रीआ और इंसानी तबाही का हथियार न बनने दिया जाए, बल्कि मर्द के साथ उसके सहयोग का ऐसा रास्ता-निकाल दिया जाए कि दोनों को मिलकर काम करना हर हैसियत से संस्कृति के लिए स्वास्थ्यप्रद हो। इस संतुलन-बिन्दु को दुनिया सदियों से खोजती रही है, मगर आज तक नहीं पा सकी। कभी एक इंतिहा की ओर जाती है और इंसानियत के पूरे आधे हिस्से को बेकार बनाकर रख देती है, कभी दूसरी इंतिहा की ओर जाती है और इंसानियत के दोनों हिस्सों को मिलाकर अपंग बनाकर रख देती है।

संतुलन-बिन्दु विलुप्त नहीं, मौजूद है, मगर हज़ारों साल तक दोनों इंतिहाओं के बीच भटकते रहने की वजह से लोगों का सर कुछ इतना चकरा गया है कि वह संतुलन-बिन्दु सामने आता है और ये पहचान नहीं सकते कि यही तो वह वांछित वस्तु है जिसे हमारी प्रकृति ढूँढ रही थी। इस वास्तविक वांछित वस्तु को देखकर वे नाक-भौं चढ़ाते हैं, उस पर फबतियाँ कसते हैं और जिसके पास यह नज़र आता है, उलटा उसी को शर्मिन्दा करने की कोशिश करते हैं। उनकी मिसाल उस बच्चे की-सी है जो एक कोयले की खान में पैदा हुआ हो और वहीं जवानी की उम्र तक पहुँचे। ज़ाहिर है कि उसे वही कोयले की मारी हुई जलवायु और वही काली-काली फ़िज़ा ही ठीक फ़ितरी चीज़ मालूम होगी, और जब वह उस खान से निकालकर बाहर लाया जाएगा तो प्रकृति की पवित्र फ़िज़ा में हर चीज़ को देखकर पहले-पहल वह ज़रूर घबराएगा। मगर इंसान आख़िर इंसान है। उसकी आँखें कोयले की छत और तारों भरे आसमान का फ़र्क़ महसूस करने से कब तक इंकार कर सकती हैं? उसके फेफड़े गन्दी हवा और साफ़ हवा में आख़िर कब तक फ़र्क़ महसूस न करेंगे?

आधुनिक युग का मुसलमान

दो इंतिहाओं (अतियों) की भूल-भुलैयों में भटकनेवाली दुनिया को अगर संतुलन का रास्ता दिखानेवाला कोई हो सकता था तो वह सिर्फ़ मुसलमान था, जिसके पास सामाजिक ज़िंदगी की सारी गुत्थियों के सही हल मौजूद हैं। मगर दुनिया की बदनसीबी का यह भी एक अजीब दर्दनाक पहलू है कि इस अंधेरे में जिसके पास चिराग़ था, वही कमबख़्त रतौंध के रोग का शिकार हो गया और दूसरों को रास्ता दिखाना तो दूर की बात, ख़ुद अंधों की तरह भटक रहा है और एक-एक भटकनेवाले के पीछे दौड़ता फिरता है।

'परदा' शब्द जिस विधान-समूह के लिए शीर्षक के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है, वह अस्ल में अपने अन्दर रहन-सहन सम्बन्धी इस्लामी सामाजिक क़ानूनों के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवयवों (अंशों) पर आधारित है। इस पूरे वैधानिक ढाँचे में इन हुक्मों को इनकी सही जगह पर रखकर देखा जाए तो कोई ऐसा व्यक्ति, जिसमें थोड़ी-सी भी फ़ितरी सूझ-बूझ बाक़ी हो, यह माने बिना न रहेगा कि सामाजिकता में उसके सिवा संतुलित और न्याय-संगत प्रणाली और कोई हो ही नहीं सकती, और अगर इस क़ानून को उसकी असली रूह के साथ अमली ज़िंदगी में बरत कर दिखा दिया जाए तो उसपर एतिराज़ करना तो दूर की बात, मुसीबतों की मारी हुई दुनिया सलामती के इस स्रोत की ओर ख़ुद दौड़ती चली आएगी और इससे अपने सामाजिक रोगों की दवा हासिल करेगी। मगर यह काम कौन करे? जो इसे कर सकता था, वह ख़ुद एक मुद्दत से बीमार पड़ा है। आइए, आगे बढ़ने से पहले तनिक एक नज़र डालकर उसके इस रोग का भी जायज़ा ले लें।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अठारहवीं सदी का अंतिम और उन्नीसवीं सदी का आरंभिक ज़माना था जब पश्चिमी क़ौमों की साम्राज्यवाद की बाढ़ एक तूफ़ान की तरह इस्लामी देशों पर उमड़ आई और मुसलमान अभी कुछ सोई और कुछ जागि हुई हालत ही में

थे कि देखते-देखते यह तूफ़ान पूरब से लेकर पश्चिम तक पूरी इस्लामी दुनिया पर छा गया। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम उत्तरार्द्ध (निस्फ़ आख़िर) तक पहुँचते-पहुँचते अधिकतर मुसलमान क़ौमें (देश) यूरोप की ग़ुलाम हो चुकी थीं और जो ग़ुलाम न हुई थीं वे भी पश्चिमी साम्राज्य के रौब से ग्रस्त व प्रभावित ज़रूर हो गई थीं। जब यह इनक़िलाब पूरा हो गया तो मुसलमानों की आँखें खुलनी शुरू हुईं। वह जातीय गौरव जो सदियों तक सत्ता व शासन के क्षेत्रों में ऊँचे पद पर रहने की वजह से पैदा हो गया था, यकायक मिट्टी में मिल गया और उस शराबी की तरह जिसका नशा किसी ताक़तवर दुश्मन की लगातार चोटों ने उतार दिया हो, उन्होंने अपनी हार और अंग्रेज़ों की जीत के कारणों पर विचार करना शुरू किया लेकिन अभी दिमाग़ ठीक नहीं हुआ था, हाँ, नशा उतर गया था मगर सन्तुलन अभी तक बिगड़ा हुआ था। एक ओर अपमानित होने का ज़बरदस्त एहसास था जो इस हालत को बदल देने की माँग कर रहा था, दूसरी ओर सदियों की आराम-तलबी और सहूलत-पसन्दी थी जो हालात की तब्दीली का सबसे आसान और सबसे ज़्यादा क़रीब का रास्ता ढूँढना चाहती थी। तीसरी ओर समझ-बूझ और सोच-विचार की ज़ंग खाई हुई ताक़तें थीं, जिनसे काम लेने की आदत वर्षों से छूटी हुई थी। इन सबके साथ ही दुश्मनों का रोब व दबदबा तथा भय और आतंक छाया हुआ था, जो हर हारी हुई ग़ुलाम क़ौम में स्वाभाविक रूप से पैदा हो जाता है। इन विभिन्न कारणों ने मिल-जुलकर सुधारवादी मुसलमानों को बहुत-सी अक़्ली और अमली गुमराहियों में लिप्त कर दिया। इनमें से ज़्यादातर तो अपनी पस्ती और यूरोप की तरक़्क़ी के वास्तविक कारणों को समझ ही न सके। और जिन्होंने इनको समझा, उनमें भी इतनी हिम्मत, संघर्षकारी और मुजाहिदाना स्प्रिट न थी कि तरक़्क़ी के कठिन रास्तों को अपनाते। उनपर दुश्मन का छाया हुआ रौब अलग था जिसमें उपरोक्त दोनों गरोह बराबर के शरीक थे। इस बिगड़ी हुई ज़ेहनियत के साथ तरक़्क़ी का सबसे आसान रास्ता जो उनको नज़र आया, वह यह था कि पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता की प्रतिछाया अपनी ज़िंदगी में उतार लें और उस आईने की तरह बन जाएँ जिसके भीतर बाग़ व बहार के दृश्य तो सब के सब मौजूद हों, मगर हक़ीक़त में न बाग़ हो, न बहार।

मानसिक दासता

यही संकट का वह समय था जिसमें पश्चिमी पहनावा, पश्चिमी रहन-सहन, पश्चिमी तौर-तरीक़े, यहाँ तक कि चाल-ढाल और बोल-चाल तक में पश्चिमी तरीक़ों की नक़्ल उतारी गई। मुस्लिम समाज को पश्चिमी साँचों में ढालने की कोशिशें की गईं। नास्तिकता, धर्मविमुखता और भौतिकवाद को फ़ैशन के तौर पर बिना समझे-बूझे स्वीकार कर लिया गया। हर उस कच्चे-पक्के विचार पर, जो पश्चिम से आया, आँखें बन्द करके ईमान ले आना और अपनी मजलिसों में उसको वार्ता का विषय बनाना रौशनख़्याली के लिए ज़रूरी समझा गया। शराब, जुआ, लाटरी, रेस, थिएटर, नाच-गाने और पश्चिमी सभ्यता की अन्य बुराइयों को हाथों-हाथ लिया गया। शिष्टता, अख़्लाक़, रहन-सहन, खान-पान, राजनीति, क़ानून, यहाँ तक कि मज़हबी अक़ीदों और इबादतों के मुताल्लिक़ भी जितने पश्चिमी नज़रिये या अमल थे, उनको बिना किसी आलोचना और बिना किसी ग़ौर व फ़िक्र के इस तरह मान लिया गया कि जैसे वे आसमान से उतरी हुई वह्य (प्रकाशना) हैं, जिनको मानना और जिनका पालन करना अनिवार्य है।

इस्लामी इतिहास की घटनाएँ, इस्लामी शरीअ़त के हुक्म और क़ुरआन व हदीस के बयानों में जिस-जिस चीज़ को इस्लाम के पुराने दुश्मनों ने नफ़रत या एतिजराज़ की निगाह से देखा उसपर मुसलमानों को भी शर्म आने लगी और उन्होंने कोशिश की कि इस दाग़ को किसी तरह धो डालें। उन्होंने जिहाद पर एतिराज़ किया। मुसलमानों ने कहा कि हुज़ूर! भला हम कहाँ और जिहाद कहाँ? उन्होंने ग़ुलामी पर एतिराज़ किया। मुसलमानों ने कहा कि ग़ुलामी तो हमारे यहाँ बिल्कुल ही नाजायज़ है। उन्होंने बहुपत्नित्व पर एतिराज़ किया तो मुसलमानों ने तुरन्त क़ुरआन की उस आयत को निरस्त कर दिया जिसमें बहुपत्नित्व की अनुमति दी गई है। उन्होंने कहा कि औरत और मर्द में पूरी बराबरी होनी चाहिए तो मुसलमानों ने कहा कि यही हमारा मज़हब भी है। उन्होंने शादी व तलाक़ के क़ानूनों पर एतिराज़ किए तो मुसलमान उन सब में काँट-छाँट करने पर तुल गए। उन्होंने कहा कि इस्लाम कला का दुश्मन है तो मुसलमानों ने कहा कि इस्लाम तो हमेशा से नाच-गाने, तस्वीर बनाने और बुत तराशने की सरपरस्ती करता रहा है।

परदे के सम्बन्ध में बहस की शुरुआत

मुसलमानों के इतिहास का यह दौर, जिसका ऊपर उल्लेख हुआ है, सब से ज़्यादा शर्मनाक है। यही दौर है जिसमें परदे के सवाल पर बहस छिड़ी। अगर सवाल सिर्फ़ इतना होता कि इस्लाम में औरत के लिए आज़ादी की क्या हद तय की गई है तो जवाब कुछ भी मुश्किल न होता। ज़्यादा से ज़्यादा जो मतभेद इस सिलसिले में पाया जाता है, वह सिर्फ़ इस हद तक है कि चेहरे और हाथों को खोलना जायज़ है या नहीं। और यह कोई बहुत अहम मतभेद नहीं है। लेकिन अस्ल में यहाँ मामला कुछ और है।

मुसलमानों में यह मस्ला इसलिए पैदा हुआ कि यूरोप ने 'हरम' ज़नानख़ाना और परदा व नक़ाब को बड़ी नफ़रत की निगाह से देखा। अपने लिट्रेचर में उसकी बड़ी घिनौनी और हास्यास्पद तस्वीरें खींचीं। इस्लाम के ऐबों और ख़राबियों की लिस्ट में औरतों की 'क़ैद' को ख़ास जगह दी। अब कैसे मुमकिन था कि मुसलमानों को इस चीज़ पर भी शर्म न आने लगती। उन्होंने जो कुछ जिहाद, ग़ुलामी और बहुपत्नीत्व और ऐसे ही दूसरे मसलों में किया था, वही इस मसले में भी किया। क़ुरआन, हदीस और धार्मिक विद्वानों के मत और निष्कर्षों के पृष्ठ इस मक़सद से उलटे गए कि वहाँ इस 'बदनुमा दाग़' को धोने के लिए कुछ सामान मिलता है या नहीं। मालूम हुआ कि कुछ धर्मशास्त्रियों (फ़िक़ही इमामों) ने हाथ और मुँह खोलने की इजाज़त दी है। यह भी पता चला कि औरत अपनी ज़रूरत के लिए घर से बाहर भी निकल सकती है। यह भी मालूम हुआ कि औरत लड़ाई के मैदान में सिपाहियों को पानी पिलाने और घायलों की मरहम-पट्टी करने के लिए भी जा सकती है। मस्जिदों में नमाज़ के लिए जाने और इल्म (ज्ञान) सीखने और शिक्षा देने की भी गुंजाइश पाई गई। बस इतनी चीज़ें काफ़ी थीं। दावा कर दिया गया कि इस्लाम ने औरत को पूरी आज़ादी दे रखी है। परदा सिर्फ़ एक अज्ञानतापूर्ण रस्म है। जिसको तंगनज़र और अंधविश्वासी मुसलमानों ने शुरू के दौर के बहुत बाद अपनाया है। क़ुरआन और हदीस परदे के हुक्मों से ख़ाली हैं। उनमें तो सिर्फ़ शर्म व हया की अख़लाक़ी तालीम दी गई है। कोई ऐसा नियम नहीं बनाया गया जो औरत की गतिविधियों पर कोई पाबन्दी लगाता हो।

मूल प्रेरक

इंसान की यह स्वाभाविक कमज़ोरी है कि अपनी ज़िंदगी के मामलों में जब वह कोई रास्ता अपनाता है तो आम तौर से उसके चुनाव की शुरुआत एक जज़्बाती, ग़ैर-अक़्ली रुझान से होती है और उसके बाद वह अपने इस रुझान को सही साबित करने के लिए अक़्ल व दलील से मदद लेता है। परदे (हिजाब) की बहस में भी ऐसी ही शक्ल पेश आई। इसकी शुरुआत किसी अक़्ली या शरई ज़रूरत के एहसास से नहीं हुई, बल्कि अस्ल में उस रुझान से हुई है जो एक ग़ालिब-क़ौम (विजेताजाति) की आकर्षक संस्कृति से प्रभावित होने और इस्लामी संस्कृति के ख़िलाफ़ उस क़ौम के ग़लत प्रचार से भयभीत हो जाने का नतीजा है।

हमारे (तथाकथित) सुधारकों ने जब भय से फटी हुई आँखों के साथ फ़िरंगी औरतों की साज-सज्जा, बनाव शृंगार, उनकी आज़ादी के साथ चलत-फिरत और फ़िरंगी समाज में उनकी गतिविधियों को देखा तो बेचैनी के तौर पर उनके दिलों में यह तमन्ना पैदा हुई कि काश! हमारी औरतें भी इसी रविश पर चलें, ताकि हमारी संस्कृति भी पश्चिमी संस्कृति के समकक्ष हो जाए। फिर वे औरतों की आज़ादी, औरतों की शिक्षा और औरत-मर्द की बराबरी के उन नए नज़रियों से भी प्रभावित हुए जो तर्कपूर्ण सशक्त भाषा में और शानदार छपाई के साथ वर्षा की तरह लगातार उनपर बरस रहे थे। इस लिट्रेचर की ज़बरदस्त ताक़त ने उनकी जाँचने-परखने की ताक़त को ख़त्म कर दिया और उनकी चेतना में यह बात उतर गई कि इन नज़रियों पर आँखें मूँदकर ईमान लाना और लेखन व भाषण में उनकी वकालत करना और (ज़ुरअत व साहस के साथ) अमली ज़िंदगी में भी उनको लागू कर देना हर उस आदमी के लिए ज़रूरी है जो अपने को 'आधुनिक और उदारवादी' कहलाना पसंद करता हो और 'दक़ियानूसी' (रुढ़िवादिता) के घिनौने इलज़ाम से बचना चाहता हो। नक़ाब के साथ सादा वस्त्रों में छिपी हुई औरतों पर जब 'चलते-फिरते ख़ेमे' और 'कफ़न पहने हुए जनाज़े' की फबतियाँ कसी जाती थीं तो ये बेचारे शर्म के मारे ज़मीन में गड़-गड़ जाते थे। आख़िर कहाँ तक सहन करते? मजबूर होकर या उनके जादू में आकर बहरहाल इस शर्म के धब्बे को धोने पर तैयार हो ही गए।

उन्नीसवीं सदी के आख़िरी ज़माने में नारी-स्वतंत्रता का जो आन्दोलन मुसलमानों में चला, उसके असली प्रेरक यही भावनाएँ और यही रुझान थे। कुछ लोग बिना समझे-बूझे इन भावनाओं के शिकार हो गए थे, और उनको ख़ुद भी मालूम न था कि वास्तव में क्या चीज़ है जो उन्हें इस आन्दोलन की ओर ले जा रही है। ये लोग अपने आपको धोखे में डाले हुए थे। कुछ को अपनी उन भावनाओं का अच्छी तरह एहसास था, मगर उन्हें अपनी असली भावनाओं को ज़ाहिर करते शर्म आती थी। ये ख़ुद तो धोखे में न थे, लेकिन इन्होंने दुनिया को धोखे में डालने की कोशिश की। बहरहाल दोनों गिरोहों ने काम एक ही किया और वह यह था कि अपने आन्दोलन के अस्ल प्रेरकों को छिपाकर उसको एक भावनात्मक आन्दोलन के बजाए एक बौद्धिक आन्दोलन बनाने की कोशिश की। औरतों की सेहत, उनकी बौद्धिक व व्यावहारिक उन्नति, उनके स्वाभाविक और पैदाइशी अधिकार, उनकी आर्थिक दृढ़ता, मर्दों के ज़ालिमाना चंगुल से उनकी रिहाई और क़ौम का आधा हिस्सा होने की हैसियत से उनकी तरक़्क़ी पर पूरी सभ्यता की तरक़्क़ी की निर्भरता और ऐसे ही दूसरे हीले-बहाने, जो सीधे तौर पर यूरोप से हासिल किए गए थे, इस आन्दोलन के समर्थन में पेश किए गए, ताकि आम मुसलमान धोखे में पड़ जाएँ और उनपर यह हक़ीक़त न खुल सके कि इस आन्दोलन का असूल मक़सद मुसलमान औरत को उस रविश पर चलाना है जिसपर यूरोप की औरत चल रही है और सामाजिक व्यवस्था में उन तरीक़ों की पैरवी करना है जो इस वक़्त फ़िरंगी क़ौमों में प्रचलित हैं।

सबसे बड़ा धोखा

लेकिन सबसे ज़्यादा सख़्त और घिनौना धोखा जो इस सिलसिले में दिया गया है वह यह है कि क़ुरआन व हदीस से दलीलें लाकर इस आन्दोलन को इस्लाम के अनुकूल साबित करने की कोशिश की गई है, हालांकि इस्लाम और पश्चिमी सभ्यता के मक़सदों और समाज-निर्माण के उसूलों में ज़मीन व आसमान की दूरी है। इस्लाम का मक़सद, जैसाकि हम आगे चलकर बताएँगे, इंसान की काम-शक्ति (Sexul Energy) को अख़लाक़ी डिसिपलिन (नैतिक अनुशासन) में लाकर इस तरह नियंत्रित करना है कि वह व्यावहारिक भटकाव

और कामोत्तेजना में बर्बाद होने के बजाए एक अच्छी और स्वच्छ संस्कृति की रचना में लगे। इसके विपरीत पश्चिमी संस्कृति का मक़सद यह है कि ज़िंदगी के मामलों और ज़िम्मेदारियों में औरत और मर्द को बराबर का शरीक करके भौतिक उन्नति की रफ़्तार तेज़ कर दी जाए और उसके साथ काम-भावनाओं को ऐसी कलाओं और कामों में इस्तेमाल किया जाए जो जीवन-संघर्ष की कड़वाहटों को हर्ष और आनन्द में बदल दें। मक़सदों के इस फ़र्क़ का ज़रूरी तक़ाज़ा यह है कि रहन-सहन और सामाजिक व्यवस्था के गठन के तौर-तरीक़ों में भी इस्लाम और पश्चिमी संस्कृति के बीच बुनियादी मतभेद है। इस्लाम अपने मक़सद के लिहाज़ से रहन-सहन और समाज की ऐसी व्यवस्था बनाता है जिसमें औरत और मर्द के कार्य-क्षेत्र बड़ी हद तक अलग कर दिए गए हैं। मर्द और औरत के आज़ादाना मेल-मिलाप को रोका गया है और उन तमाम कारणों की जड़ काट दी गई है जो इस व्यवस्था और अनुशासन में बिखराव पैदा करते हैं। इसके मुक़ाबले में पश्चिमी संस्कृति के सामने जो मक़सद है, उसका फ़ितरी तक़ाज़ा यह है कि मर्दों और औरतों, दोनों को ज़िंदगी के एक ही मैदान में खींच लाया जाए और उनके बीच से वे तमाम परदे उठा दिए जाएँ जो उनके स्वतंत्र मेलजोल और मामला करने में रुकावट बनें और उनको एक-दूसरे के हुस्न और लैंगिक विशेषताओं से आनन्दित होने के व्यापक मौक़े जुटा दिए जाएँ।

अब हर अक़्लमंद इंसान यह अन्दाज़ा कर सकता है कि जो लोग एक ओर पश्चिमी संस्कृति पर चलना चाहते हैं और दूसरी ओर इस्लामी सामाजिक व्यवस्था और रहन-सहन के नियमों को भी अपने लिए अनिवार्य मानते हैं, वे ख़ुद कितने बड़े धोखे में पड़े हुए हैं या दूसरों को धोखे में डाल रहे हैं। इस्लामी सामाजिक व्यवस्था में तो औरतों के लिए आज़ादी की आख़िरी हद यह है कि ज़रूरत के मुताबिक़ हाथ और मुँह खोले और अपनी जाइज़ ज़रूरतों के लिए घर से बाहर निकले, मगर ये लोग आख़िरी हद को अपने सफ़र का आरंभिक बिन्दु समझते हैं। जहाँ पहुँचकर इस्लाम रुक जाता है वहाँ से ये चलना शुरू करते हैं और यहाँ तक बढ़ जाते हैं कि हया और शर्म ताक़ पर रख दी जाती है। हाथ और मुँह ही नहीं, बल्कि ख़ूबसूरत माँग निकले हुए सिर, कंधों तक खुली हुई बाहें और अर्द्धनग्न सीने भी निगाहों के सामने पेश कर दिए जाते हैं, और

जिस्म के बाक़ी हिस्सों के सौन्दर्य को भी ऐसे बारीक और चुस्त कपड़ों में लपेटा जाता है कि हर वह चीज़ उनमें से नज़र आ सके जो मर्दों की काम-वासना की प्यास को बुझा सकती हो। फिर इन वस्त्रों और शृंगारों के साथ महरमों[1] के सामने नहीं, बल्कि दोस्तों की महफ़िलों में बीवियों, बहनों और बेटियों को लाया जाता है और उनको परायों के साथ हँसने-बोलने और खेलने में वह आज़ादी बख़्शी जाती है जो मुसलमान औरत अपने सगे भाई के साथ भी नहीं बरत सकती। घर से निकलने की जो इजाज़त सिर्फ़ ज़रूरत पड़ने पर और अच्छी तरह शरीर को ढककर हयादारी की शर्त के साथ दी गई थी, उसको आकर्षक साड़ियों और अधखुले ब्लाउज़ों और बेबाक निगाहों के साथ सड़कों पर फिरने, पार्कों में टहलने, होटलों के चक्कर लगाने और सिनेमाघरों की सैर करने में इस्तेमाल किया जाता है। औरतों को ख़ानादारी के अलावा दूसरे मामलों में हिस्सा लेने की जो सीमित और सशर्त आज़ादी इस्लाम में दी गई थी, उसको दलील व प्रमाण बनाया जाता है, ताकि मुसलमान औरतें भी अंग्रेज़ औरतों की तरह घर की ज़िंदगी और उसकी ज़िम्मेदारियों को तलाक़ देकर राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक गतिविधियों में मारी-मारी फिरें और प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में मर्दों के साथ दौड़-धूप करें।

भारत में तो मामला यहीं तक है। मिस्र, तुर्की और ईरान में सियासी आज़ादी रखनेवाले ज़ेहनी ग़ुलाम इससे भी दस क़दम आगे निकल गए हैं। वहाँ 'मुसलमान' औरतें ठीक वही वस्त्र पहनने लगी हैं जो यूरोपीय औरतें पहनती हैं, ताकि असल और नक़ल में कोई फ़र्क़ ही न रहे। और इससे भी बढ़कर कमाल यह है कि तुर्की औरतों के फ़ोटो अधिकतर इस हालत में देखे गए हैं कि नहाने का कपड़ा पहनकर समुद्र के किनारे नहा रही हैं — वही वस्त्र, जिसमें तीन चौथाई जिस्म नंगा रहता है और एक चौथाई हिस्सा इस तरह ढका होता है कि जिस्म के सारे उतार-चढ़ाव कपड़े की सतह पर उभर आते हैं।

---

1. 'महरमों' से तात्पर्य हैं ऐसे व्यक्ति, जिनके सामने स्त्री के बे-परदा आने को इस्लाम ने मना नहीं किया है। इस्लामी शरीअत में ये वे निकट-सम्बन्धी हैं जिनके साथ स्त्री का निकाह (विवाह) नहीं हो सकता, जैसे—बाप, बेटा, भाई, भांजा, भतीजा, चाचा, मामा, ख़ालू (मौसा), नाना, दादा इत्यादि।

क्या क़ुरआन और किसी हदीस से इस शर्मनाक जीवन-शैली के लिए भी जायज़ होने का कोई पहलू निकाला जा सकता है? जब तुमको उस राह पर जाना है तो साफ़ एलान करके जाओ कि हम इस्लाम से और उसके क़ानून से बग़ावत करना चाहते हैं। यह कैसी ज़लील मुनाफ़िक़त (नीचतापूर्ण कपटाचार) और बद-दियानती है कि जिस सामाजिक व्यवस्था और जीवन-शैली के नियम, उद्देश्यों और व्यावहारिक अंगों में से एक-एक चीज़ को क़ुरआन हराम कहता है उसे एलानिया अपनाते हो, मगर इस रास्ते पर पहला क़दम क़ुरआन ही का नाम लेकर रखते हो, ताकि दुनिया इस धोखे में रहे कि बाक़ी क़दम भी क़ुरआन ही के मुताबिक़ होंगे।

हमारा मक़सद

यह नये दौर के 'मुसलमान' का हाल है। अब हमारे सामने बहस के दो पहलू हैं, और इस किताब में इन्हीं दोनों पहलूओं को ध्यान में रखा जाएगा।

एक यह कि हमको तमाम इंसानों के सामने, चाहे वे मुसलमान हों या ग़ैर-मुस्लिम, इस्लाम की सामाजिक व्यवस्था और रहन-सहन के तरीक़ों की व्याख्या करनी है और यह बताना है कि इस व्यवस्था में परदे के आदेश किस लिए दिए गए हैं।

दूसरे यह कि हमें नये दौर के इन 'मुसलमानों' के सामने क़ुरआन व हदीस के हुक्म और पश्चिमी संस्कृति, सभ्यता और सामाजिकता के सिद्धान्तों और परिणामों दोनों को एक-दूसरे के आमने-सामने रख देने हैं, ताकि यह दोरंगी चाल, जो उन्होंने अपना रखी है, ख़त्म हो और वे शरीफ़ इंसानों की तरह दो स्थितियों में से कोई एक स्थिति अपना लें। या तो इस्लामी हुक्मों की पैरवी करें अगर मुसलमान रहना चाहते हैं या इस्लाम से ताल्लुक़ तोड़ लें अगर उन शर्मनाक नतीजों को क़बूल करने के लिए तैयार हैं जिनकी ओर पश्चिमी सामाजिक व्यवस्था आख़िरकार उनको ले जानेवाली है।

—●—

अध्याय-3

विचारधाराएँ

परदे का विरोध जिन कारणों से किया जाता है वे सिर्फ़ नकारात्मक (Negative) ही नहीं हैं, बल्कि असल में एक सकारात्मक बुनियाद पर क़ायम हैं। इनकी बुनियाद सिर्फ़ यही नहीं है कि लोग औरतों के घर में रहने और नक़ाब के साथ बाहर निकलने को बेजा क़ैद समझते हैं और बस उसे मिटा देना चाहते हैं। अस्ल मामला यह है कि उनकी नज़रों के सामने औरत के लिए ज़िंदगी का एक दूसरा नक़्शा है। मर्द और औरत के ताल्लुक़ात के बारे में वे अपनी एक स्थायी सोच रखते हैं। वे चाहते हैं कि औरतें यह न करें, बल्कि कुछ और करें और परदे पर उनका एतिराज़ इस वजह से है कि औरत अपने इस तरह घर बैठे रहने और छिपे रहने के साथ न तो ज़िंदगी का वह नक़्शा जमा सकती है, न वह 'कुछ और' कर सकती है।

अब हमें यह देखना चाहिए कि वह 'कुछ और' क्या है, उसकी तह में कौन-से दृष्टिकोण और कौन-से सिद्धान्त हैं, वह अपने आप में कहाँ तक ठीक और सही है और अमली तौर पर उसके क्या नतीजे निकले हैं। यह ज़ाहिर है कि अगर इनके दृष्टिकोणों और सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों मान लिया जाए तब तो परदा और वह सामाजिक व्यवस्था जिसका अंग यह परदा है, वाक़ई सरासर ग़लत क़रार पाएगी। मगर हम बिना किसी आलोचना और बिना किसी बौद्धिक और व्यावहारिक इम्तिहान के आख़िर क्यों उनकी विचारधाराओं को मान लें? क्या सिर्फ़ आधुनिक होना या सिर्फ़ यह वाक़िआ कि एक चीज़ दुनिया में ज़ोर व शोर से चल रही है इस बात के लिए बिल्कुल काफ़ी है कि आदमी किसी जाँच-पड़ताल के बग़ैर उसके आगे हथियार डाल ही दे?

अठारहवीं सदी की आज़ादी की अवधारणा

जैसा कि मैं इससे पहले इशारा कर चुका हूँ, अठारहवीं सदी में जिन दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और साहित्यकारों ने सुधार की आवाज़ उठाई थी, उनको अस्ल में संस्कृति की एक ऐसी व्यवस्था का सामना करना पड़ रहा था जिसमें

तरह-तरह की जकड़बन्दियाँ थीं, जिसमें किसी भी पहलू से लोच और लचक नाम को भी न थी, जो ना-मुनासिब रिवाजों, जड़ता व कठोरतापूर्ण नियमों और बुद्धि और प्रकृति के ख़िलाफ़ खुले टकरावों से भरा हुआ था। एक ओर नई, बौद्धिक और व्यावहारिक जागरूकता मध्यवर्ग (Bourgeois) में उभरने और व्यक्तिगत जिद्दोजुहद से आगे बढ़ने का जोशीला जज़्बा पैदा कर रही थी और दूसरी ओर सरदारों और धर्म के पेशवाओं का वर्ग उनके ऊपर बैठा हुआ परम्पराओं के बंधन की गांठों को मज़बूत करने में लगा हुआ था। चर्च से लेकर फ़ौज व अदालत के विभागों तक, शाही महलों से लेकर खेतों और वित्तीय लेन-देन की कोठियों तक, ज़िंदगी का हर क्षेत्र और सामूहिक संगठनों की हर संस्था इस तरह काम कर रही थी कि सिर्फ़ पहले से क़ायम किए हुए हक़ों के बल पर कुछ ख़ास वर्ग उन नए उभरनेवाले लोगों की मेहनतों और योग्यताओं के फल छीन ले जाते थे, जो मध्यवर्ग से सम्बन्ध रखते थे। हर वह कोशिश जो इस स्थिति में सुधार लाने के लिए की जाती थी, सत्ता में बैठे वर्गों के स्वार्थ और अज्ञान के मुक़ाबले में नाकाम हो जाती थी। इन कारणों से सुधार और परिवर्तन की माँग करनेवालों में दिन-ब-दिन अंधा इनक़िलाबी जोश पैदा होता चला गया, यहाँ तक कि आख़िर में इस पूरी सामूहिक व्यवस्था और इसके हर विभाग और हर अंग के ख़िलाफ़ बग़ावत का जज़्बा फैल गया और व्यक्ति की आज़ादी की एक ऐसी सोच जड़ पकड़ गई जिसका मक़सद समाज के मुक़ाबले में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता और सम्प्रभुत्व प्रदान कर देना था। कहा जाने लगा कि व्यक्ति को पूरी आज़ादी के साथ अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ हर वह काम करने का अधिकार होना चाहिए जो उसे पसन्द आए और हर उस काम से अलग रहने की आज़ादी मिलनी चाहिए जो उसे पसन्द न आए। समाज को उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता छीन लेने का कोई अधिकार नहीं। सरकार की ज़िम्मेदारी सिर्फ़ यह है कि व्यक्ति के काम करने की आज़ादी को सुरक्षित रखे, और सामूहिक संस्थाएँ सिर्फ़ इसलिए होनी चाहिएँ कि व्यक्ति को उसके मक़सद हासिल करने में मदद दें।

स्वतंत्रता की यह अतिशयोक्तिपूर्ण धारणा, जो वास्तव में एक अत्याचारपूर्ण सामूहिक व्यवस्था के ख़िलाफ़ ग़ुस्से का नतीजा थी, अपने भीतर

एक बड़े और भीषण फ़साद और बिगाड़ के कीटाणु रखती थी। जिन लोगों ने इसे शुरू में पेश किया, वे ख़ुद भी पूरी तरह उसके तार्किक परिणामों से अवगत न थे। शायद उनकी रूह काँप उठती अगर वे परिणाम उनके सामने असली रूप धारण करके आ जाते, जो ऐसी खुली छूट और ऐसी सरफिरी व्यक्तिगत आज़ादी का ज़रूरी परिणाम होते हैं। उन्होंने ज़्यादातर उन बेजा सख़्तियों और अनुचित बन्धनों को तोड़ने के लिए इसे एक हथियार के तौर पर इस्तेमाल करना चाहा था जो उनके ज़माने के समाज में पाए जाते थे, लेकिन आख़िरकार इस धारणा ने पश्चिमी ज़ेहन में जड़ पकड़ ली और पलना-बढ़ना शुरू कर दिया।

उन्नीसवीं सदी की तब्दीलियाँ

फ्रांस की क्रान्ति स्वतंत्रता की इसी परिकल्पना के प्रभावस्वरूप सामने आई।[1] इस क्रान्ति में बहुत-से पुराने नैतिक विचारों और धार्मिक तथा सांस्कृतिक नियमों की धज्जियाँ उड़ा दी गईं और जब उनका उड़ना तरक़्क़ी का ज़रीआ साबित हुआ तो क्रान्तिप्रिय दिमाग़ों ने इससे यह नतीजा निकाला कि हर वह दृष्टिकोण और हर वह कर्म-सिद्धान्त जो पहले से चला आ रहा है, तरक़्क़ी की राह का रोड़ा है, इसे हटाए बिना क़दम आगे नहीं बढ़ सकता। अतः मसीही आचार-शास्त्र के ग़लत नियमों को तोड़ने के बाद बहुत जल्दी उनकी

---

1. व्यक्ति की आज़ादी के इस विचार से वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था, सभ्यता की लोकतांत्रिक व्यवस्था और नैतिक आवारापन (Licentiousness) पैदा हुआ और लगभग डेढ़ सदी के भीतर उसने यूरोप और अमरीका में इतने ज़ुल्म ढाए कि इंसानियत उसके ख़िलाफ़ बग़ावत करने पर मजबूर हो गई, क्योंकि इस व्यवस्था ने व्यक्ति को सामाजिक-हित के ख़िलाफ़ स्वार्थ भरे काम का लाइसेंस देकर समाज-कल्याण की हत्या कर दी और सामाजिक जीवन को टुकड़े-टुकड़े कर दिया। सोशलिज़्म (समाजवाद) और फ़ासिज़्म (फ़ासीवाद) दोनों इसी बग़ावत के परिणाम हैं। लेकिन इस नवनिर्माण में आरंभ से ही ख़राबी और बिगाड़ का एक रूप छिपा हुआ है। यह असल में एक इंतिहा का इलाज दूसरी इंतिहा से है। अठारहवीं सदी की व्यक्तिगत आज़ादी की सोच की ग़लती यह थी कि वह समाज को व्यक्ति पर क़ुरबान करती थी। और इस बीसवीं सदी के समाज की सोच की ग़लती यह है कि यह व्यक्ति को समाज पर क़ुरबान करना चाहती है। इंसानियत की भलाई के लिए एक संतुलित सोच आज भी वैसे ही लुप्त है जैसी कि अठारहवीं सदी में थी।

आलोचना की क़ैंची इंसानी आचार-शास्त्र की मूलधारणाओं पर चलने लगी। यह पाकदामनी (सतीत्व) क्या बला है? यह जवानी पर 'अल्लाह के डर और परहेज़गारी की मुसीबत' आख़िर क्यों डाली गई है? विवाह के बिना अगर कोई किसी से मुहब्बत करे तो क्या बिगड़ जाता है? और विवाह के बाद क्या दिल आदमी के सीने से निकल जाता है कि उससे मुहब्बत करने का हक़ छीन लिया जाए? इस क़िस्म के सवाल नई इनक़िलाबी सोसाइटी में हर ओर से उठने लगे और ख़ास तौर से रोमानी कथाकारों के गरोह (Romantic School) ने इनको सबसे ज़्यादा ज़ोर के साथ उठाया। उन्नीसवीं सदी के शुरू में 'जॉर्ज साँ' (George Sand) इस गरोह की लीडर थी। उस औरत ने ख़ुद उन तमाम नैतिक नियमों को तोड़ा जिनपर हमेशा से इंसानी शराफ़त और ख़ास तौर से औरत की इज़्ज़त का आधार रहा है। उसने एक शौहर की बीवी होते हुए विवाह के दायरे से बाहर आज़ादी के साथ ताल्लुक़ात क़ायम किए। आख़िरकार शौहर से जुदाई हुई। इसके बाद यह दोस्त पर दोस्त बदलती चली गई और किसी के साथ साल दो साल से ज़्यादा निबाह न किया। उसकी जीवनी में कम से कम छः ऐसे आदमियों के नाम मिलते हैं जिनके साथ उसकी एलानिया और बाक़ायदा आशनाई (अवैध सम्बन्ध) रही है। उसके इन्हीं दोस्तों में से एक उसकी तारीफ़ इन लफ़्ज़ों में करता है —

"जॉर्ज साँ पहले एक परवाने को पकड़ती है और उसे फूलों के पिंजरे में क़ैद करती है—यह उसकी मुहब्बत का दौर होता है, फिर वह अपनेपन से उसको चुभोना शुरू करती है और उसके फड़फड़ाने से आनन्द लेती है — यह उसकी उदासीनता का दौर होता है और देर या सवेर यह दौर भी ज़रूर आता है फिर वह उसके पर नोचकर और उसका विश्लेषण करके उसे उन परवानों के समूह में शामिल कर लेती है जिनसे वह अपने उपन्यासों के लिए हीरो का काम लिया करती है।"

फ़्रांसीसी कवि अलफ़रेड मुसे (Alfred Mosse) भी उसके आशिक़ों में से एक था, और आख़िरकार वह उसकी बे-वफ़ाइयों से इतना हताश हुआ कि मरते वक़्त उसने वसीयत की कि जॉर्ज साँ उसके जनाज़े (शव) पर न आने पाए। यह था उस औरत का निजी कैरेक्टर जो लगभग तीस साल तक अपनी

सरस रचनाओं से फ्रांस की नौजवान नस्लों पर गहरा असर डालता रहा। अपने उपन्यास लेलिया (Lelia) में वह लेलिया की ओर से स्तेनियों (Stanio) को लिखती है –

"जितना ही ज़्यादा मुझे दुनिया को देखने का मौक़ा मिलता है, मैं महसूस करती जाती हूँ कि मुहब्बत के बारे में हमारे नौजवानों के विचार कितने ग़लत हैं। यह ख़याल ग़लत है कि मुहब्बत एक ही से होनी चाहिए और उसका दिल पर पूरा क़ब्ज़ा होना चाहिए और वह हमेशा के लिए होनी चाहिए। निस्संदेह तमाम विभिन्न विचारों को गवारा करना चाहिए। मैं यह मानने के लिए तैयार हूँ कि कुछ ख़ास आत्माओं को दाम्पत्य जीवन में वफ़ादार रहने का हक़ है, मगर अक्सर कुछ दूसरी ज़रूरतें और कुछ दूसरी योग्यताएँ रखती हैं। इसके लिए ज़रूरत है कि दोनों पक्ष (मियाँ-बीवी) एक-दूसरे को आज़ादी दें, आपसी उदारता से काम लें और उस निजी स्वार्थ को दिल से निकाल दें जिसकी वजह से ईर्ष्या और दुश्मनी की भावनाएँ पैदा होती हैं। तमाम मुहब्बतें सही हैं, चाहे वे अत्यन्त तीव्र हों या शांत, वासना से भरी हुई हों या रूहानी हों, स्थिर हों या परिवर्तनशील, लोगों को आत्महत्या की ओर ले जाएँ या सुख और आनंद की ओर।"

अपने एक दूसरे नावेल जाक (Joacues) में वह उस शौहर का कैरेक्टर पेश करती है जो उसके नज़दीक शौहरपने का सबसे अच्छा नमूना हो सकता था। उसके हीरो जाक की बीवी अपने आप को एक ग़ैर मर्द की गोद में डाल देती है मगर उदार हृदय शौहर उससे नफ़रत नहीं करता और नफ़रत न करने की वजह यह बयान करता है कि जो फूल मेरे बजाय किसी और को ख़ुश्बू देना चाहता है, मुझे क्या हक़ है कि उसे पाँव तले रौंद डालूँ। आगे चलकर इसी नावेल में वह जाक की ज़बान से ये विचार सामने लाती है –

"मैंने अपनी राय नहीं बदली, मैंने समाज से समझौता नहीं किया, मेरी राय में विवाह तमाम सामूहिक तरीक़ों में वह सबसे ज़्यादा वहशी तरीक़ा है जिसकी कल्पना की जा सकती है। मुझे यक़ीन है

कि आख़िरकार यह तरीक़ा समाप्त हो जाएगा, अगर इंसानी नस्ल ने इंसाफ़ और अक़्ल की ओर कोई वाक़ई तरक़्क़ी की। फिर उसकी जगह एक दूसरा तरीक़ा लेगा जो विवाह से कम मुक़द्दस (पवित्र) न होगा, मगर इससे ज़्यादा इंसानी तरीक़ा होगा। उस वक़्त इंसानी नस्ल ऐसे मर्दों और औरतों से आगे चलेगी जो कभी एक दूसरे की आज़ादी पर कोई पाबन्दी न लगाएँगे। फ़िलहाल तो मर्द इतने स्वार्थी और औरतें इतनी बुज़दिल हैं कि इनमें से कोई भी मौजूदा क़ानूनों से ज़्यादा शरीफ़ाना क़ानून की माँग नहीं करता। हाँ, जिनमें ज़मीर (अन्तरात्मा) और नेकी की कमी है उनको तो भारी ज़ंजीरों में जकड़ा ही जाना चाहिए।''

ये वे विचार हैं जो 1833 ई. और उसके लगभग ज़माने में ज़ाहिर किए गए थे। जॉर्ज साँ सिर्फ़ इसी हद तक जा सकी। इस विचार को आख़री तर्कसंगत नतीजों तक पहुँचाने की उसे भी हिम्मत न हुई। इस आज़ाद-ख़्याली और रौशन-दिमाग़ी के बाद भी, पुराने चले आ रहे अख़लाक़ की अंधियारी, फिर भी कुछ न कुछ उसके दिमाग़ में मौजूद थी। इसके तीस-पैंतीस साल बाद फ़्रांस में नाटककारों, साहित्यकारों और नैतिक दार्शनिकों की एक दूसरी फ़ौज ज़ाहिर हुई, जिसके सरदार अलेक्ज़ेंडर दूमा (Alexander Dumos) और अलफरेड नाके (Alfred Naquet) थे। इन लोगों ने सारा ज़ोर इस विचार के फैलाने में लगा दिया कि आज़ादी और जीवन का आनंद अपने आप में इंसान का पैदाइशी हक़ है और इस हक़ पर अख़लाक़ी नियमों और कल्चर की जकड़बन्दियाँ लगाना व्यक्ति पर समाज का ज़ुल्म है। इससे पहले व्यक्ति के लिए अमल की आज़ादी की माँग सिर्फ़ मुहब्बत के नाम पर की जाती थी, बादवालों को यह निरी भावनात्मक बुनियाद कमज़ोर महसूस हुई, इसलिए उन्होंने व्यक्ति की स्वच्छन्दता, आवारगी और निरंकुश स्वतंत्रता को बुद्धि, दर्शन और तत्त्वदर्शिता की मज़बूत बुनियादों पर क़ायम करने की कोशिश की, ताकि नौजवान मर्द और औरतें जो कुछ भी करें, दिल व दिमाग़ के पूरे इत्मीनान के साथ करें और समाज सिर्फ़ यही नहीं कि उनकी जवानी की उच्छृंखलता को देखकर दम न मार सके, बल्कि नैतिक रूप से उसे ही जायज़ और बेहतर समझे।

उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दौर में पॉल एडम (Paul Adam), हेनरी बताली (Henry Bataille), पेरे लूई (Pierre Louis) और दूसरे बहुत-से साहित्यकारों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति नौजवानों में उच्छृंखलता और दुस्साहस उत्पन्न करने पर लगा दी ताकि पारम्परिक नैतिक विचारों के बचे-खुचे प्रभावों से जो झिझक और रुकावट स्वभावों में बाक़ी है, वह निकल जाए। अतएव पॉल एडम अपनी किताब 'La Morale De L' Mour' में नौजवानों की उनकी इस अज्ञानता और मूर्खता पर दिल खोलकर भर्त्सना करता है कि वे जिस लड़की या लड़के से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उसको झूठ-मूठ यह यक़ीन दिलाने की कोशिश करते हैं कि वे उसपर मर-मिटे हैं और उससे सच्चा इश्क़ (प्रेम) रखतें है और हमेशा उसी के होकर रहेंगे।

फिर कहता है—

"ये सब बातें इसलिए की जाती हैं कि दैहिक आनन्द की वास्तविक इच्छा को, जो स्वाभाविक रूप से प्रत्येक व्यक्ति में होती है और जिसमें, सचमुच कोई बात गुनाह या बुराई की नहीं है, पुराने विचारों के कारण ऐब की बात समझी जाती है और इसलिए मनुष्य व्यर्थ ही मिथ्या शब्दों के आवरण में उसको छिपाने का प्रयास करता है। लेटिनी प्रजातियों (क़ौमों) की यह बड़ी कमज़ोरी है कि उनमें प्रेमी-युगल एक-दूसरे पर इस बात को साफ़-साफ़ प्रकट करते हुए झिझकते हैं कि मिलन से उनका मक़सद केवल एक शारीरिक इच्छा को पूरा करना और आनन्द लेना है।"

और इसके बाद नौजवानों को मशविरा देता है—

"शिष्ट और सभ्य मनुष्य बनो। अपनी इच्छाओं और वासनाओं की पूर्ति करानेवाले सेवकों[1] को अपना आराध्य न बना लो। मूर्ख है वह जो प्रेम का मन्दिर निर्मित करके उसमें एक ही बुत (आराध्य) का पुजारी बनकर बैठ जाता है। आनन्द की हर घड़ी में एक नए मेहमान का चयन करना चाहिए।"

1. इसका अर्थ समझने में ग़लती न कीजिए। इनसे अभिप्राय वे औरतें या मर्द हैं, जिनको एक मर्द या औरत अपनी वासना की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करे।

पेरे लूई ने इन सबसे चार क़दम आगे बढ़कर पूरे ज़ोर के साथ इस बात का एलान किया कि नैतिकता के बन्धन असल में इंसानी ज़ेहन और दिमाग़ी ताक़तों के विकास में रुकावटें डालते हैं, जब तक इनको बिल्कुल तोड़ न दिया जाए और इंसान पूरी आज़ादी के साथ शारीरिक सुखों का आनन्द न ले, कोई बौद्धिक एवं ज्ञानात्मक तथा भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास संभव नहीं है। अपनी किताब अफ़रोडाइट (Aphrodite) में वह अपनी पूरी शक्ति के साथ यह सिद्ध करने की कोशिश करता है कि बाबिल, अस्कन्दरिया, एथेंस, रोम, वेनिस और संस्कृति एवं सभ्यता के अन्य सभी केन्द्रों की बहार और उत्थान तथा उत्कर्ष का ज़माना वह था जब वहाँ नशा, आवारगी और नफ़्सपरस्ती (Licentiousness) पूरे ज़ोर पर थी, मगर जब वहाँ अख़लाक़ी और क़ानूनी बन्धन इंसानी इच्छाओं पर लगाए गए तो इच्छाओं के साथ-साथ आदमी की रूह भी उन्हीं बन्धनों में जकड़ गई।

यह पेरे लूई वह आदमी है जो अपने दौर में फ़्रांस का नामी साहित्यकार, अपनी ख़ास शैलीवाला लेखक और साहित्य की एक ख़ास विचारधारा का रहनुमा था। उसके अनुकरण में कहानीकारों, नाटककारों और अख़लाक़ी मसलों (समस्यायों) पर लिखनेवालों की एक फ़ौज थी जो उसके विचारों को फैलाने में लगी हुई थी। उसने अपने क़लम की पूरी ताक़त नंगेपन और मर्द व औरत की स्वच्छन्दता को सराहने में लगा दी।

अपनी इस किताब 'अफ़रोडाइट' में वह यूनान के उस दौर का महिमागान करता है—

> "जबकि नंगी मानवता—पूर्णतम रूप, जिसकी हम कल्पना कर सकते हैं और जिसके सम्बन्ध में धर्मवालों ने हमें विश्वास दिलाया है कि ईश्वर ने उसे स्वयं अपनी सूरत पर पैदा किया है—एक पवित्र वेश्या के रूप में हज़ारों भाव-भंगिमाओं (नाज़ो-अदा) के साथ अपने आपको 20 हज़ार दर्शनार्थियों के सामने पेश कर सकती थी, जबकि उच्च स्तरीय वासनामय प्रेम—वही महिमामय अलौकिक प्रेम, जिससे हम सब पैदा हुए हैं न पाप था, न लज्जा की वस्तु थी, न गन्दी और न अपवित्र थी।"

हद यह है कि समस्त पद्यात्मक आवरणों को हटाकर उसने स्पष्ट शब्दों में यहाँ तक कह दिया कि हमको—

"अत्यन्त शक्तिशाली नैतिक शिक्षा के द्वारा इस घृणित विचार का उन्मूलन कर देना चाहिए कि औरत का माँ होना किसी स्थिति में लज्जास्पद, अवैध, अपमानजनक और मर्यादाओं से गिरा हुआ भी होता है।"

बीसवीं सदी की तरक़्क़ी

उन्नीसवीं सदी में विचारों की तरक़्क़ी यहाँ तक पहुँच चुकी थी। बीसवीं सदी के शुरू में नव-आरोही सामने आते हैं, जो अपने अगलों से भी ऊँची उड़ान भरने की कोशिश करते हैं। सन् 1908 ई. में पेरे वोल्फ़ (Pierre Wolf) और गैस्तां लेरो (Gaston Leroux) का एक नाटक Lalys प्रकाशित हुआ, जिसमें दो लड़कियाँ अपने जवान भाई के सामने अपने बाप से इस मसले पर बहस करती नज़र आती हैं कि उन्हें आज़ादी के साथ मुहब्बत करने का हक़ है और यह कि 'दिल-लगी' के बग़ैर ज़िंदगी गुज़ारना एक जवान लड़की के लिए कितना दुखद होता है। एक बूढ़ा बाप अपनी बेटी की इस बात पर निंदा करता है कि वह एक नौयुवक से अवैध सम्बन्ध रखती है। उसके जवाब में बेटी कहती है—

> "मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ, तुमने कभी यह समझा ही नहीं कि किसी व्यक्ति को किसी लड़की से, भले ही वह उसकी बहन या बेटी ही क्यों न हो, यह माँग करने का हक़ नहीं है कि वह मुहब्बत किए बिना बूढ़ी हो जाए।"

महायुद्ध ने इस स्वतंत्रता आन्दोलन को और ज़्यादा बढ़ाया, बल्कि उच्चतम शिखर तक पहुँचा दिया। गर्भ-निरोधक आन्दोलन का असर सबसे ज़्यादा फ़्रांस पर हुआ था। लगातार चालीस साल से फ़्रांस की जन्म-दर घट रही थी। फ़्रांस के 87 ज़िलों में से सिर्फ़ बीस ज़िले ऐसे थे जिनमें जन्म-दर, मृत्यु-दर से ज़्यादा थी, बाक़ी 67 ज़िलों में मृत्य-दर, जन्म-दर से बढ़ी हुई थी। देश के कुछ हिस्सों का तो यह हाल था कि वहाँ हर सौ बच्चों की पैदाइश के मुक़ाबले में 130, 140 और 160 तक मृत्यु-संख्या का औसत था। लड़ाई

छिड़ी तो ठीक उस वक़्त जबकि फ़्रांसीसी क़ौम की मौत और ज़िंदगी का फ़ैसला सामने था। फ़्रांस के व्यवस्थापकों को मालूम हुआ कि क़ौम की गोद में लड़ने के क़ाबिल नौजवान बहुत ही कम हैं। अगर इस वक़्त इन छोटी-सी तादादवाले जवानों को भेंट चढ़ाकर क़ौमी ज़िंदगी की हिफ़ाज़त भी कर ली गई तो दुश्मन के दूसरे हमले में बच जाना मुश्किल होगा। इस एहसास ने यकायक तमाम फ़्रांस में जन्म-दर बढ़ाने का जुनून पैदा कर दिया और हर ओर से लेखकों, पत्रकारों, वक्ताओं ने और हद यह है कि संजीदा उलमा और नेताओं तक ने एक आवाज़ होकर पुकारना शुरू किया कि बच्चे जनो और जनवाओ और विवाह के पारम्परिक प्रतिबन्धों की कुछ परवाह न करो। हर वह कुंवारी लड़की और विधवा, जो वतन के लिए अपने गर्भाशय को स्वेच्छा से पेश करती है, निंदा की नहीं, इज़्ज़त की हक़दार है। उस ज़माने में आज़ादी-पसन्द लोगों को स्वाभाविक रूप से प्रोत्साहन मिल गया, इसलिए उन्होंने समय को अनुकूल देखकर वे सारी विचारधाराएँ फैला दीं जो शैतान के थैले में बची-खुची रह गई थीं।

उस ज़माने का एक मशहूर पत्रकार, जो 'लालियोन रिपब्लिकन' (Lalyon Republican) का एडीटर था, इस सवाल पर बहस करते हुए कि 'बलात्कार' आख़िर क्यों अपराध है? यूँ अपने विचार प्रकट करता है –

> "ग़रीब लोग जब भूख से मजबूर होकर चोरी और लूट-मार करने पर उतर आते हैं तो कहा जाता है कि उनको रोटी उपलब्ध कराओ, लूट-मार आप से आप बन्द हो जाएगी। मगर अजीब बात है कि हमदर्दी और समानता की जो भावना देह की एक स्वाभाविक ज़रूरत के मुक़ाबले में उभर आती है, वह दूसरी वैसी ही स्वाभाविक और उतनी ही अहम ज़रूरत, यानी मुहब्बत के लिए क्यों नहीं उभरती? जिस तरह चोरी आम तौर से भूख की ज़्यादती का नतीजा होती है, वैसे ही वह चीज़ जिसका नतीजा बलात्कार और कभी-कभी क़त्ल की शक्ल में निकलता है, उस ज़रूरत के ज़बरदस्त तक़ाज़े से पेश आती है जो भूख और प्यास से कुछ कम स्वाभाविक नहीं है। एक तन्दुरुस्त आदमी, जो सेहतमंद और जवान हो, अपनी

वासना को नहीं रोक सकता, जिस तरह वह अपनी भूख को इस वादे पर नहीं रोक सकता कि अगले हफ़्ते रोटी मिल जाएगी। हमारे शहरों में जहाँ सब कुछ बहुतायत के साथ मौजूद है, एक जवान आदमी की वासना का उपवास भी उतना ही अफ़सोसनाक है जितना कि ग़रीब आदमी के पेट का उपवास। जिस तरह भूखों को रोटी मुफ़्त बाँटी जाती है, ऐसे ही दूसरे क़िस्म की भूख से जो लोग मर रहे हैं, उनके लिए भी हमें कोई इन्तिज़ाम करना चाहिए।''

बस इतना और समझ लीजिए कि यह कोई हास्य-व्यंग्य लेख नहीं था, पूरी गंभीरतापूर्वक लिखा गया और गंभीरतापूर्वक ही फ़्रांस में पढ़ा भी गया।

इसी दौर में पेरिस की फ़ैकल्टी आफ़ मेडिसिन ने एक विद्वान डाक्टर का लेख डाक्ट्रेट की डिग्री प्रदान करने के लिए चुनां और अपने सरकारी पत्र में उसे छापा, जिसमें निम्नलिखित वाक्य भी पाए जाते हैं–

''हमें उम्मीद है कि कभी वह दिन भी आएगा जब हम बिना झूठी शान और बग़ैर किसी शर्म व हया के यह कह दिया करेंगे कि मुझे बीस साल की उम्र में आतशक (सिफ़िलिस बीमारी) हुई थी, जिस तरह अब बे-तकल्लुफ़ कह देते हैं कि मुझे ख़ून थूकने की वजह से पहाड़ पर भेज दिया गया था.....ये रोग ज़िंदगी के आनन्द की क़ीमत हैं। जिसने अपनी जवानी..... इस तरह बिताई कि इनमें से कोई रोग पैदा होने की नौबत न आई वह एक अधूरा वुजूद है। उसने बुज़दिली या ठंडेपन या मज़हबी ग़लतफ़हमी की वजह से इस स्वाभाविक काम के करने में ग़फ़लत दिखाई जो उसके फ़ितरी कार्यों में शायद सब से छोटा वज़ीफ़ा (कार्य) था।''

नव-मालथसवादी आन्दोलन का साहित्य

आगे बढ़ने से पहले एक नज़र उन विचारों पर भी डाल लीजिए जो गर्भ-निरोधी आन्दोलन के सिलसिले में पेश किए गए हैं। अठारहवीं सदी के आख़िर में जब अंग्रेज़ अर्थशास्त्री (Economist) मालथस (Malthus) ने तेज़ी से बढ़ती आबादी को रोकने के लिए बर्थ-कंट्रोल का प्रस्ताव पेश किया था। उस

वक़्त उसके स्वप्न में भी यह बात न आई होगी कि उसका यही प्रस्तआव एक सदी बाद व्यभिचार और बेहयाई को बढ़ाने में सबसे बढ़कर मददगार साबित होगा। उसने उपनिवेश की जनसंख्या वृद्धि को रोकने के लिए आत्म-नियंत्रण और बड़ी उम्र में विवाह करने का परामर्श दिया था, मगर उन्नीसवीं सदी के आख़िर में जब नव-मालथसी आन्दोलन (Neo-Malthusian Movement) उठा तो उसका मूल सिद्धान्त यह था कि मन की कामना को आज़ादी के साथ पूरा किया जाए और उसके स्वाभाविक नतीजे यानी औलाद की पैदाइश को वैज्ञानिक साधनों से रोक दिया जाए। इस चीज़ ने व्यभिचार के रास्ते से वह आख़िरी रुकावट भी दूर कर दी जो स्वच्छन्द यौन-सम्बन्ध रखने में रुकावट बन सकती थी। क्योंकि अब एक औरत इस डर के बिना अपने आप को एक मर्द के हवाले कर सकती है कि उससे औलाद होगी और उसपर ज़िम्मेदारियों का बोझ आ पड़ेगा। इनके परिणाम बयान करने का यहाँ मौक़ा नहीं है। यहाँ हम उन विचारों के कुछ नमूने पेश करना चाहते हैं जो बर्थ-कन्ट्रोल के लिट्रेचर में बहुतायत से फैलाए गए हैं।

इस लिट्रेचर में नव मालथसवादी सिद्धान्त सामान्यतः जिन तर्कों के साथ प्रस्तुत किया जाता है, उसका सार यह है —

"प्रत्येक मनुष्य को स्वाभाविक रूप से तीन सर्वाधिक प्रबल और शक्तिशाली आवश्यकताओं से वास्ता पड़ता है—पहली भोजन की आवश्यकता; दूसरी आराम की आवश्यकता और तीसरी काम-वासना की आवश्यकता। प्रकृति ने इन तीनों को पूरी शक्ति के साथ मनुष्य में समाहित कर रखा है और इनकी पूर्ति में एक विशिष्ट आनन्दानुभूति रखी है, ताकि मनुष्य इनकी पूर्ति की कामना कर सके। बुद्धि और तर्क का तक़ाज़ा यह है कि आदमी इन्हें पूरा करने की ओर लपके, और पहली और दूसरी चीज़ों के मामले में उसका आचरण है भी यही। मगर यह अजीब बात है कि तीसरी चीज़ के मामले में उसका आचरण अलग है। सामूहिक शिष्टाचार ने उसपर प्रतिबंध लगा दिया है कि यौनेच्छा की पूर्ति विवाह की सीमा से बाहर न की जाए और विवाह की सीमाओं में पति-पत्नी के लिए

वफ़ादारी, पाकदामनी और पवित्रता अनिवार्य कर दी गई है और इसपर आगे बढ़कर यह शर्त भी लगा दी गई है कि सन्तानोत्पत्ति को रोका न जाए। ये सब बातें पूर्णत: निरर्थक हैं। बुद्धि और प्रकृति के विरुद्ध हैं। अपने सिद्धान्त की दृष्टि से भी ग़लत हैं और इंसानियत के लिए सब से बुरे नतीजे पैदा करने वाली हैं।"

इन भूमिकाओं पर जिन विचारों की इमारत खड़ी होती है, अब तनिक वे भी देखिए—

जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी का लीडर बेबील (Babeel) निहायत बे-तकल्लुफ़ी के साथ लिखता है —

"औरत और मर्द आख़िर हैवान ही तो हैं। क्या हैवानों के जोड़ों में विवाह और वह भी हमेशा रहनेवाले विवाह का कोई सवाल पैदा हो सकता है?"

डॉक्टर ड्रेस्डेल (Drysdale) लिखता है—

"हमारी तमाम इच्छाओं की तरह मुहब्बत भी एक बदलती रहने वाली चीज़ है। उसको एक तरीक़े के साथ ख़ास कर देना, प्रकृति के क़ानूनों को बदल देना है। नौजवान ख़ास तौर से इस परिवर्तन के प्रति आसक्ति रखते हैं और उनकी यह आसक्ति प्रकृति के उस भव्य तर्कसगंत व्यवस्था के अनुकूल है जिसका तक़ाज़ा यही है कि हमारे तजुर्बे नए-नए हों.....आज़ाद ताल्लुक़ एक उच्चतर अख़लाक़ का पता देता है, इसलिए कि वह प्रकृति के क़ानूनों से ज़्यादा मेल खाता है, और इसलिए भी कि वह सीधे तौर पर भावनाओं, एहसास और बे-ग़रज़ मुहब्बत से प्रकट होता है। जिस आसक्ति और अभिरुचि से यह सम्बन्ध स्थापित होता है, वह बड़ी अख़लाक़ी क़द्र व क़ीमत रखता है। यह बात भला उस व्यापारिक कारोबार को कहाँ प्राप्त हो सकती है जो विवाह को हक़ीक़त में पेशा (Prostitution) बना देता है।"

देखिए, अब दृष्टिकोण बदल रहा है, बल्कि उलट रहा है। पहले तो यह

कोशिश थी कि ज़िना को अख़लाक़ी तौर पर बुरा समझने का ख़्याल दिलों से निकल जाए और विवाह और अवैध यौन-सम्बन्ध दोनों दर्जे में बराबर हो जाएँ, अब आगे क़दम बढ़ाकर विवाह को बुरा और अवैध यौन सम्बन्ध को अख़लाक़ी बरतरी का दर्जा दिलवाया जा रहा है।

एक और मौक़े पर यही डाक्टर साहब लिखते हैं—

"ऐसा उपाय अपनाने की ज़रूरत है कि शादी के बिना भी मुहब्बत को एक प्रतिष्ठित चीज़ बना दिया जाए....यह ख़ुशी की बात है कि तलाक़ की आसानी इस विवाह के तरीक़े को धीरे-धीरे ख़त्म कर रही है, क्योंकि अब विवाह बस दो आदमियों के बीच मिलकर ज़िंदगी गुज़ारने का ऐसा समझौता है जिसको दोनों फ़रीक़ (पक्ष) जब चाहें ख़त्म कर सकते हैं। यह यौन-सम्बन्ध का एक ही सही तरीक़ा है।"

फ़्रांस का प्रसिद्ध नव मालथसवादी लीडर पॉल रोबिन (Poul Robin) लिखता है—

"पिछले 25 साल में हमको इतनी सफलता तो मिल ही चुकी है कि हरामी बच्चे (अवैध सन्तान) को क़रीब-क़रीब हलाली बच्चे (वैध सन्तान) के दर्जे के बराबर कर दिया गया है। अब सिर्फ़ इतनी कसर बाक़ी है कि सिर्फ़ पहली ही क़िस्म के बच्चे पैदा हुआ करें, ताकि मुक़ाबले का सवाल ही बाक़ी न रहे।"

इंग्लैंड का प्रसिद्ध दार्शनिक 'मिल' अपनी किताब 'आज़ादी' (On Liberty) में इस बात पर बड़ा ज़ोर देता है कि ऐसे लोगों को शादी करने से क़ानूनन रोक दिया जाए जो इस बात का सुबूत न दे सकें कि वे ज़िंदगी गुज़ारने के लिए काफ़ी साधन रखते हैं। लेकिन जिस वक़्त इंग्लैंड में वेश्यावृत्ति (Prostitution) की रोक-थाम का सवाल उठा तो इसी विद्वान दार्शनिक ने बड़ी सख़्ती से इसका विरोध किया। दलील यह थी कि यह व्यक्तिगत आज़ादी पर हमला है और वर्कर्ज़ (वेश्यावृत्ति में लिप्त लोगों) की तौहीन है, क्योंकि यह तो उनके साथ बच्चों जैसा सुलूक करना हुआ।

विचार कीजिए, व्यक्तिगत आज़ादी का आदर इसलिए है कि इससे फ़ायदा उठाकर व्यभिचार किया जाए। लेकिन अगर कोई मूर्ख इसी व्यक्तिगत आज़ादी से फ़ायदा उठाकर विवाह करना चाहे तो वह हरगिज़ इसका हक़दार नहीं है कि उसकी आज़ादी की हिफ़ाज़त की जाए। उसकी आज़ादी में क़ानून का हस्तक्षेप न सिर्फ़ यह कि गवारा किया जाएगा बल्कि स्वतंत्रताप्रिय दार्शनिक की अन्तरात्मा इसको पूर्णतः वांछित ठहराएगी! यहाँ नैतिक दृष्टिकोण की क्रान्ति अपने उत्कर्ष को पहुँच जाती है। जो अवगुण था, वह गुण हो गया और जो गुण था वह अवगुण हो गया।

परिणाम

लिट्रेचर पेशक़दमी करता है, जनमत उसके पीछे आता है। अन्त में सामूहिक नैतिकता, सोसाइटी के नियम और हुकूमत के क़ानून सब हथियार डालते जाते हैं। जहाँ लगातार डेढ़ सौ वर्ष तक दर्शनशास्त्र, इतिहास, नीतिशास्त्र, ज्ञान-विज्ञान, नाटक, थिएटर, आर्ट उपन्यास, तात्पर्य यह कि दिमाग़ों को तैयार करनेवाले और ज़ेहनों को ढालनेवाले तमाम औज़ार मिलकर पूरी ताक़त के साथ एक ही सोच को इंसानी ज़ेहन के एक-एक रेशे में बिठाने की कोशिश करते रहें, वहाँ उस विचार-शैली से समाज का प्रभावित न होना असंभव है। फिर जिस जगह हुकूमत और सारी सामूहिक संस्थाओं की बुनियाद लोकतांत्रिक नियमों पर हो, वहाँ यह भी संभव नहीं है कि जनमत की तब्दीली के साथ क़ानूनों में तब्दीली न हो।

औद्योगिक क्रान्ति और उसके प्रभाव

संयोगवश उसी समय दूसरे सांस्कृतिक तथा सामाजिक कारण भी अनुकूल हो गए। उसी ज़माने में औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) हुई। उससे आर्थिक जीवन में जो तब्दीलियाँ हुईं और सामाजिक जीवन पर उनके जो असर पड़े, वे सब के सब हालात का रुख़ इसी दिशा में फेर देने के लिए तैयार थे, जिधर यह क्रान्तिकारी लिट्रेचर उन्हें फेरना चाहता था। व्यक्ति की आज़ादी की जिस अवधारणा पर पूँजीवादी व्यवस्था का निर्माण हुआ था, उसको मशीन के आविष्कारों और उत्पादन की वृद्धि (Mass production) की संभावनाओं ने असाधारण शक्ति प्रदान कर दी। पूँजीपतियों ने बड़े-बड़े औद्योगिक संस्थान और व्यापारिक केन्द्र स्थापित किए। उद्योग और व्यापार के नए केन्द्र धीरे-धीरे शानदार शहर बन गए। देहातों और दूर-दूर के इलाक़ों से लाखों-करोड़ों इंसान खिंच-खिंचकर उन शहरों में जमा होते चले गए। ज़िंदगी हद से ज़्यादा महँगी हो गई। मकान, कपड़ा, खाना और ज़िंदगी की दूसरी ज़रूरतों पर आग बरसने लगी। कुछ सांस्कृतिक प्रगति की वजह से और कुछ पूँजीपतियों की कोशिशों

से ऐश की अनगिनत नई चीज़ें भी ज़िंदगी की आवश्यकताओं में दाख़िल हो गईं।

मगर पूँजीवादी व्यवस्था ने दौलत का बँटवारा इस तरीक़े पर नहीं किया कि जिन सुविधाओं, लज़्ज़तों और सजावटों को उसने ज़िंदगी की ज़रूरतों में दाख़िल किया था, उन्हें हासिल करने के लिए साधन भी उसी पैमाने पर सब लोगों को जुटाता। उसने तो आम लोगों को आजीविका के इतने साधन भी न जुटाए कि जिन बड़े-बड़े शहरों में वह उनको घसीट लाया था, वहाँ कम से कम ज़िंदगी की हक़ीक़ी ज़रूरतें—मकान, खाना और कपड़ा वग़ैरह—भी आसानी से उनको हासिल हो सकतीं। इसका नतीजा यह हुआ कि शौहर पर बीवी और बाप पर औलाद तक भारी बोझ बन गई। हर आदमी के लिए ख़ुद अपने आप ही को सँभालना मुश्किल हो गया, कहाँ यह कि वह दूसरे मुताल्लिक़ लोगों का बोझ उठाए। आर्थिक परिस्थितियों ने मजबूर कर दिया कि हर आदमी कमाने वाला आदमी बन जाए, कुँवारी और शादीशुदा और विधवा सब ही क़िस्म की औरतों को धीरे-धीरे रोज़ी कमाने के लिए निकल आना पड़ा। फिर जब मर्दों और औरतों के मेल-जोल और ताल्लुक़ के मौक़े ज़्यादा बढ़े और उसके स्वाभाविक नतीजे ज़ाहिर होने लगे तो उसी वैयक्तिक आज़ादी की अवधारणा और उसी नैतिकता के नए दर्शन ने आगे बढ़कर बापों और बेटियों, बहनों और भाइयों, शौहरों और बीवियों, सबको इत्मीनान दिलाया कि कुछ घबराने की बात नहीं। जो कुछ हो रहा है, अच्छा हो रहा है। यह पतन नहीं, उत्थान (Emancipation) है, यह दुराचार नहीं, ज़िंदगी का सही आनन्द है। यह गढ़ा जिसमें पूँजीपति तुम्हें फेंक रहा है, दोज़ख़ नहीं, जन्नत है जन्नत !

पूँजीवादी स्वार्थ

और मामला यहीं तक नहीं रहा। वैयक्तिक आज़ादी की इस अवधारणा पर जिस पूँजीवादी व्यवस्था की नींव डाली गई थी, उसने व्यक्ति को हर संभव तरीक़े से दौलत कमाने का, बिना किसी शर्त और बिना किसी हद-बन्दी के, इजाज़तनामा दे दिया और नैतिकता के नए दर्शन ने हर उस तरीक़े को हलाल (वैध) और पाक ठहराया जिससे दौलत कमाई जा सकती हो, भले ही एक

आदमी की दौलतमंदी कितने ही लोगों की तबाही का नतीजा हो। इस तरह सम्पूर्ण सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था ऐसे तरीक़े पर बनी जो समूह के मुक़ाबले में हर दृष्टि से व्यक्ति का समर्थक था और व्यक्तिगत स्वार्थों की तुलना में समूह के लिए सुरक्षा क़ा कोई उपाय न था। स्वार्थी व्यक्तियों के लिए समाज पर डाका डालने के सारे रास्ते खुल गए। उन्होंने तमाम इंसानी कमज़ोरियों को चुन-चुन कर ताका और उन्हें अपने स्वार्थों के लिए इस्तेमाल (Exploit) करने के नित नए तरीक़े अपनाने शुरू किए। एक आदमी उठता है और वह अपनी जेब भरने के लिए लोगों को मदिरापान की लानत में फँसाता चला जाता है। कोई नहीं जो समाज को इस प्लेग के चूहे से बचाए। दूसरा उठता है और वह सूदख़ोरी (ब्याज खाने-खिलाने) का जाल दुनिया में फैला देता है, कोई नहीं जो इस जोंक से लोगों के जीवन-रक्त की सुरक्षा करे, बल्कि सारे क़ानून उसी जोंक के हित की रक्षा कर रहे हैं, ताकि कोई उससे ख़ून की एक बूँद भी न बचा सके। — तीसरा उठता है और वह जुएबाज़ी के अजीब तरीक़े को रिवाज देता है, यहाँ तक कि व्यापार के भी किसी विभाग को जुएबाज़ी के तत्त्व से ख़ाली नहीं छोड़ता। कोई नहीं जो इस तेज़ बुख़ार से मनुष्य की आजीविका की सुरक्षा करे।

वैयक्तिक स्वच्छन्दता, अवज्ञाकारिता, ज़ुल्म और अत्याचार के इस नापाक दौर में असंभव था कि स्वार्थी लोगों की नज़र इंसान की इस बड़ी और बहुत गंभीर कमज़ोरी—काम वासना—पर न पड़ती, जिसको भड़काकर बहुत कुछ फ़ायदा उठाया जा सकता था। अतः उससे भी काम लिया गया और इतना काम लिया गया, जितना लेना मुम्किन था। थिएटरों में, नाचघरों में और फ़िल्मसाज़ी के केन्द्रों में सारे कारोबार की धुरी ही यह बनी कि ख़ूबसूरत औरतों की सेवाएँ प्राप्त की जाएँ। उनको अधिक से अधिक नग्न और अधिक से अधिक उत्तेजक रूप में लोगों के सामने लाया जाए और इस तरह लोगों की वासना की प्यास को अधिक से अधिक भड़काकर उनकी जेबों पर डाका डाला जाए। कुछ दूसरे लोगों ने औरतों को किराए पर चलाने का इन्तिज़ाम किया और वेश्यावृत्ति को बढ़ावा देकर एक अत्यन्त संगठित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हद तक पहुँचा दिया। कुछ और लोगों ने बनाव-शृंगार और साज-सज्जा के

अजीब-अजीब सामान निकाले और उनको ख़ूब फैलाया, ताकि औरतों की जन्मजात सौन्दर्यप्रियता की भावना को बढ़ावा देकर दीवानगी तक पहुँचा दें। और इस तरह दोनों हाथों से दौलत समेटें। कुछ और लोगों ने पहनावे के नए वासनामय और नग्नतापूर्ण फ़ैशन निकाले और ख़ूबसूरत औरतों को इसलिए मुक़र्रर किया कि वे इन्हें पहनकर समाज में फिरें, ताकि नौजवान मर्द ज़्यादा से ज़्यादा उनकी ओर आकर्षित हों और नौजवान लड़कियों में इन पहनावों को पहनने का शौक़ पैदा हो और इस तरह उस पहनावे को ईजाद करनेवाले का व्यापार फले-फूले। कुछ और लोगों ने नंगी तस्वीरें और अश्लील लेख के प्रकाशन को रुपये ऐंठने का ज़रीआ बनाया और इस तरह आम लोगों को नैतिक कोढ़ में ग्रस्त करके ख़ुद अपनी जेबें भरनी शुरू कर दीं। धीरे-धीरे नौबत यहाँ तक पहुँची कि मुश्किल ही से व्यापार का कोई विभाग ऐसा बाक़ी रह गया जिसमें काम-वासना का कोई तत्त्व शामिल न हो। किसी व्यापारिक कारोबार के विज्ञापन को देख लीजिए, औरत की नग्न या अर्द्धनग्न तस्वीर उसका अभिन्न अंग होगी। मानो औरत के बिना कोई विज्ञापन विज्ञापन ही नहीं हो सकता।

होटल, रेस्तराँ, शोरूम, कोई जगह आपको ऐसी न मिलेगी जहाँ औरत इस मक़सद से न रखी गई हो कि मर्द उसकी ओर खिंचकर आएँ। बेचारी सोसाइटी जिसकी हिफ़ाज़त करनेवाला कोई नहीं, सिर्फ़ एक ही ज़रीए से अपने हित की हिफ़ाज़त कर सकती थी कि ख़ुद अपनी नैतिक धारणाओं से इन हमलों से बचाव करती और इस वासना को अपने ऊपर सवार न होने देती। मगर पूँजीवादी व्यवस्था ऐसी कच्ची बुनियादों पर नहीं खड़ी हुई थी कि यूँ उसके हमलों को रोका जा सकता। उसके साथ एक मुकम्मल दर्शन और एक ज़बरदस्त शैतानी फ़ौज—लिट्रेचर—भी तो था जो साथ-साथ नैतिक दृष्टिकोणों को ध्वस्त और पराजित भी करता जा रहा था। हत्यारे का कमाल यही है कि जिसे क़त्ल करने जाए उसे राज़ी-ख़ुशी से क़त्ल होने के लिए तैयार कर दे।

लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था

मुसीबत इतने पर भी ख़त्म न हुई। बल्कि इससे भी अधिक यह कि

आज़ादी की इसी धारणा ने पश्चिम में लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था को जन्म दिया, जो इस नैतिक क्रान्ति के पूरा करने में एक ताक़तवर ज़रीआ बन गया।

आधुनिक लोकतंत्र का मूल सिद्धान्त यह है कि लोग स्वयं अपने और अपने शासक के लिए विधि-निर्माता हैं, जैसे क़ानून चाहें, अपने लिए बनाएँ और जिन क़ानूनों को पसन्द न करें, उनमें जैसा चाहें संशोधन और निरस्तीकरण करें। उनके ऊपर कोई ऐसी उच्चतर सत्ता नहीं जो मानवीय दुर्बलताओं से रहित हो और जिसके मार्गदर्शन के आगे सर झुकाकर इंसान पथभ्रष्टता से बच सकता हो। उनके पास कोई ऐसा बुनियादी क़ानून नहीं जो अटल हो और इंसान के हस्तेक्षप से बाहर हो और जिसके नियमों को अपरिवर्तनीय माना जाए। उनके लिए कोई ऐसा मानदण्ड नहीं है जो सही और ग़लत में फ़र्क़ करने की कसौटी हो और मानवीय इच्छओं के साथ बदलनेवाला न हो, बल्कि चिरस्थायी और टिकाऊ हो। इस तरह लोकतंत्र की नई धारणा ने इंसान को बिल्कुल स्वेच्छाधारी और ग़ैरज़िम्मेदार मानकर स्वयं अपना विधि निर्माता बना दिया और हर प्रकार का क़ानून बनाने का आधार केवल जनमत पर रख दिया।

अब यह स्पष्ट है कि जहाँ सामूहिक जीवन के सारे क़ानून जनमत के अधीन हों और जहाँ सत्ता इसी आधुनिक लोकतंत्र के ख़ुदा की ग़ुलाम हो, वहाँ क़ानून और राजनीति की ताक़तें किसी तरह समाज को नैतिक बिगाड़ और अनाचार से नहीं बचा सकतीं। बल्कि बचाने का क्या मतलब, आख़िरकार वे ख़ुद उसको तबाह करने में मददगार बनकर रहेंगी। आम राय के प्रत्येक परिवर्तन के साथ क़ानून भी बदलता चला जाएगा। ज्यों-ज्यों जनसामान्य की सोच बदलेगी, क़ानून के नियम और सिद्धांत भी उनके मुताबिक़ ढलते जाएँगे। सत्य, कल्याण और भलाई का कोई मानदण्ड इसके सिवा न होगा कि वोट किस तरफ़ ज़्यादा हैं। एक प्रस्ताव, चाहे वह अपने आप में कितना ही बुरा क्यों न हो, अगर आम लोगों में इतनी मक़बूलियत हासिल कर चुका है कि वह 100 में से 51 वोट हासिल कर सकता है, तो उसको प्रस्ताव के दर्जे से उन्नति करके क़ानून बन जाने से कोई चीज़ रोक नहीं सकती। इसकी बदतरीन और आँखें खोलनेवाली मिसाल वह है जो नाज़ी दौर से पहले जर्मनी में प्रकट हुई। जर्मनी

में एक साहब डॉक्टर मैगनस हिर्शफ़िल्ड (Magnus Hirschfield) हैं जो दुनिया की लैंगिक सुधार सभा (World League of Sexual Reform) के अध्यक्ष रह चुके हैं। उन्होंने पुरुषों के बीच समलैंगिक सम्बन्ध के पक्ष में छः साल तक प्रचार किया। आख़िरकार लोकतंत्र का ख़ुदा इस हराम को हलाल कर देने पर राज़ी हो गया और जर्मन पार्लियामेंट ने बहुमत से तय कर दिया कि अब यह कर्म अपराध नहीं है, बस शर्त यह है कि दोनों पक्षों की रज़ामंदी से यह काम किया जाए और जिसके साथ यह काम हो उसके नाबालिग़ होने की शक्ल में उसका वली (सरपरस्त) इस सम्बन्ध को मान्यता देने की रस्म अदा करे।

क़ानून लोकतंत्र रूपी इस ख़ुदा की इबादत में अपेक्षाकृत थोड़ा सुस्त पड़ जाता है। उसके हुक्मों की पाबन्दी करता तो है, मगर सुस्ती और काहिली के साथ करता है। यह कमी जो बन्दगी के पूरा करने में बाक़ी रह गई है, इसे हुकूमत के इन्तिज़ामी कलपुर्ज़े पूरी कर देते हैं। जो लोग इन लोकतांत्रिक हुकूमतों के कारोबार चलाते हैं, वे क़ानून से पहले उस लिट्रेचर और उन नैतिक दर्शनों का और उन आम रुझानों का असर क़बूल कर लेते हैं जो उनके चारों ओर फैले हुए होते हैं। उनकी मेहरबानी से प्रत्येक वह दुराचरण सरकारी मान्यता पा लेता है जिसका चलन आम हो गया हो। जो चीज़ें क़ानूनन अभी तक निषिद्ध हैं, उनके मामले में अमली तौर पर पुलिस और अदालतें क़ानून लागू करने से बचती हैं और इस तरह वे मानो हलाल (वैध) के दर्जे में हो जाती हैं।

उदाहरण स्वरूप गर्भपात ही को ले लीजिए जो पश्चिमी क़ानूनों में अब भी हराम (अवैध) है। मगर कोई देश ऐसा नहीं है जहाँ खुल्लम-खुल्ला और बड़ी संख्या में गर्भपात न हो रहा हो। इंग्लैंड में कम-से-कम अन्दाज़े के अनुसार हर साल 90 हज़ार गर्भपात कराए जाते हैं। शादीशुदा औरतों में से कम से कम 25 प्रतिशत ऐसी हैं जो या तो स्वयं गर्भपात कर लेती हैं या किसी विशेषज्ञ की मदद लेती हैं। ग़ैर-शादीशुदा औरतों में गर्भपात का अनुपात इससे भी ज़्यादा है। कुछ स्थानों पर तो बाक़ायदा गर्भपात क्लब क़ायम हैं जिनको औरतें साप्ताहिक फ़ीस अदा करती हैं, ताकि मौक़ा पेश आने पर एक गर्भपात विशेषज्ञ की सेवाएँ आसानी से प्राप्त हो जाएँ। लन्दन में ऐसे बहुत-से नर्सिंग होम हैं जहाँ ज़्यादातर

ऐसी रोगी औरतें होती हैं जिन्होंने गर्भपात कराया होता है।[1] इसके बावजूद इंग्लैंड के क़ानून की किताब में गर्भपात अभी तक अपराध है।

हक़ीक़तें और गवाहियाँ

अब मैं ज़रा विस्तारपूर्वक बताना चाहता हूँ कि ये तीनों चीज़ें, यानी आधुनिक नैतिक दृष्टिकोण, पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था और लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था मिल-जुलकर सामूहिक आचरण और स्त्री-पुरुष के लैंगिक सम्बन्ध को किस प्रकार प्रभावित कर रही हैं और उनसे वास्तव में किस प्रकार के परिणाम सामने आए हैं। चूँकि इस वक़्त तक मैंने ज़्यादातर फ़्रांस देश की बात की है, जहाँ से इस आन्दोलन का आरंभ हुआ था, इसलिए मैं सबसे पहले फ़्रांस ही को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करूँगा।[2]

नैतिक चेतना का अभाव

पिछले पन्नों में जिन दृष्टिकोणों का ज़िक्र किया जा चुका है, उनके प्रचार का सबसे पहला असर यह हुआ कि औरत-मर्द के यौन सम्बन्ध के मामले में लोगों का नैतिक एहसास निष्क्रिय होता चला गया। शर्म व हया और ग़ैरत दिन-ब-दिन ख़त्म होती चली गई विवाह और व्यभिचार का अन्तर दिलों से निकल गया और व्यभिचार एक ऐसी मासूम (निर्दोष) चीज़ बन गई जिसे अब कोई ऐब या बुराई का काम समझा हा नहीं जाता कि उसको छिपाने की कोशिश की जाए।

उन्नीसवीं सदी के मध्य, बल्कि अन्त तक सामान्य फ़्रांसीसियों के नैतिक दृष्टिकोण में सिर्फ़ इतनी तब्दीली हुई थी कि मर्दों के लिए व्यभिचार को बिल्कुल एक मामूली, स्वाभाविक चीज़ समझा जाता था। माँ-बाप अपने

---

1. ये विवरण प्रोफ़ेसर जोड (Joad) ने अपनी किताब Guide to Modern Wickedness में बयान की हैं। (अब भारत की स्थिति भी ऐसी ही हो चुकी है – प्रकाशक)
2. मैंने ज़्यादातर ये जानकारियाँ एक मशहूर फ़्रांसीसी समाजशास्त्री पोल ब्यूरो (Poul Bureau) की किताब 'Towards Moral Bankruptcy' से हासिल की हैं जो सन् 1925 ई. में लन्दन से छपी है।

नौजवान लड़कों की आवारगी को (बशर्ते कि वह गुप्त रोगों या किसी अदालती कार्रवाई का कारण न बन जाए) ख़ुशी से गवारा करते थे, बल्कि अगर वह भौतिक दृष्टि से लाभदायक हो तो उसपर ख़ुश भी होते थे। उनके विचार में किसी मर्द का किसी औरत से विवाह के बिना (यौन) सम्बन्ध रखना कोई ऐब का काम न था। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि माँ-बाप ने अपने नौजवान लड़कों पर ख़ुद ज़ोर दिया कि किसी प्रभावशाली या धनी औरत से सम्बन्ध स्थापित करके अपना भविष्य उज्जवल बनाएँ। लेकिन उस समय तक औरत के मामले में दृष्टिकोण इससे बहुत अलग था। औरत का सतीत्व (इस्मत) बहरहाल एक क़ीमती चीज़ समझा जाता था। वही माँ-बाप जो अपने लड़के की आवारगी को जवानी की तरंग समझकर गवारा कर लेते थे, अपनी लड़की के दामन पर कोई दाग़ देखना गवारा न करते थे। व्यभिचारी पुरुष जिस तरह निर्दोष समझा जाता था, व्यभिचारिणी स्त्री उस तरह निर्दोष न समझी जाती थी। पेशावर वेश्याओं का उल्लेख जिस घृणा और अपमान के साथ किया जाता था, उसके पास जानेवाले पुरुष के हिस्से में वह घृणा और अपमान न आता था। इसी तरह दाम्पत्य सम्बन्ध में भी स्त्री-पुरुष की नैतिक ज़िम्मेदारी बराबर न थी। पति ने अगर किसी के साथ व्यभिचार और कुकर्म किया है तो उसे सहन कर लिया जाता था, लेकिन पत्नी का व्यभिचार या कुकर्म करना एक अत्यन्त घृणित चीज़ समझी जाती थी।

बीसवीं सदी के शुरू तक पहुँचते-पहुँचते यह परिस्थिति बदल गई। औरतों की आज़ादी के आन्दोलन ने औरत और मर्द की नैतिक समानता का जो सूर फूँका था, उसका असर यह हुआ कि लोग आम तौर पर औरत के व्यभिचार को भी उसी तरह निष्कलंक समझने लगे जिस तरह मर्द के व्यभिचार को समझते थे और विवाह के बिना किसी मर्द से सम्बन्ध रखना औरत के लिए भी कोई ऐसा कर्म न रहा जिससे उसकी शराफ़त और इज़्ज़त पर बट्टा लगता हो। पोल ब्यूरो लिखता है —

> ''न केवल बड़े शहरों में, बल्कि फ़्रांस के क़स्बों और देहातों तक में अब नौजवान पुरुष इस सिद्धान्त को मानते हैं कि जब हम सच्चरित्र नहीं हैं तो हमें अपनी मंगेतर से भी सच्चरित्रता की माँग करने का

और यह चाहने का कि वह हमें कुँवारी मिले, कोई हक़ नहीं है। बरगंडी, बोन और दूसरे इलाक़ों में अब यह आम बात है कि एक लड़की शादी से पहले बहुत-सी 'दोस्तियाँ' कर चुकती है और शादी के समय उसे अपनी मंगेतर से अपनी पिछली ज़िंदगी के हालात छिपाने की कोई ज़रूरत नहीं होती। लड़की के क़रीबी रिश्तेदारों में भी उसके दुराचरण पर किसी प्रकार की ना-पसन्दीदगी नहीं पाई जाती। वे उसकी 'दोस्तियों' का उल्लेख आपस में इस तरह बे-तकल्लुफ़ी से करते हैं, मानो किसी खेल या रोज़गार का उल्लेख है और विवाह के अवसर पर दूल्हा साहब, जो अपनी दुल्हन की पिछली ज़िंदगी ही से नहीं, बल्कि उसके उन 'दोस्तों' तक से परिचित हैं, जो अब तक उसकी देह से आनन्द लेते रहे हैं, इस बात की पूरी कोशिश करते हैं कि किसी को इस बात का सन्देह तक न होने पाए कि उन्हें अपनी दुल्हन के इन कामों पर किसी दर्जे में भी कोई आपत्ति है।''

आगे चलकर लिखता है—

''फ़्रांस में मध्यवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों में यह स्थिति ज़्यादातर देखी जाती है और अब इसमें पूर्णतः कोई ग़ैर-मामूलीपन नहीं रहा है कि एक अच्छे ख़ानदान की पढ़ी-लिखी लड़की, जो किसी ऑफ़िस या व्यापारिक फ़र्म में एक अच्छी जगह पर काम करती है और सभ्य समाज में उठती-बैठती है, किसी नौजवान से परिचित हो गई और उसके साथ रहने लगी। अब यह बिल्कुल ज़रूरी नहीं कि वे आपस में शादी कर लें। दोनों शादी के बिना ही एक साथ रहना बेहतर समझते हैं, केवल इसलिए कि दोनों को दिल भर जाने के बाद अलग हो जाने और कहीं और दिल लगाने की आज़ादी हासिल रहे, सोसाइटी में उनका इस तरह का सम्बन्ध सबको मालूम होता है। सभ्य लोगों में दोनों मिलकर आते-जाते हैं, न वे ख़ुद अपने सम्बन्ध को छिपाते हैं, न कोई दूसरा उनकी ऐसी ज़िन्दगी में किसी प्रकार की बुराई महसूस करता है। आरंभ में यह तरीक़ा कारख़ानों में काम

करनेवाले लोगों ने शुरू किया था, पहले पहल तो उसे अत्यन्त अश्लील समझा गया, पर अब यह ऊँचे लोगों में आम हो गया है और सामूहिक जीवन में उसने वही स्थान प्राप्त कर लिया है जो कभी विवाह का था।" — पृष्ठ 94-96

इस तरह की रखैल को अब विधिवत रूप से स्वीकार किया जाने लगा है। मोस्यो बर्थलेमी (M. Berthelemy), पेरिस यूनिवर्सिटी में क़ानून का प्रोफ़ेसर, लिखता है कि धीरे-धीरे 'रखैल' को वही क़ानूनी हैसियत प्राप्त होती जा रही है, जो पहले 'पत्नी' की थी। पार्लियामेंट में उसकी चर्चा होने लगी है। सरकार उसके हित की सुरक्षा करने लगी है। एक सिपाही की रखैल को वही गुज़ारा भत्ता दिया जाता है, जो उसकी पत्नी के लिए निर्धारित है। सिपाही अगर मर जाए तो उसकी रखैल को वही पेंशन मिलती है, जो विवाह करके लाई गई पत्नी को मिलती है।

फ़्रांसीसी नैतिक मूल्यों में व्यभिचार के निष्कलंक होने की दशा का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि 1918 ई. में एक स्कूल की टीचर कुँवारी होने के बावजूद गर्भवती पाई गई। शिक्षा विभाग में कुछ पुराने ख़्याल के लोग भी मौजूद थे, उन्होंने ज़रा शोर मचाया। इसपर प्रतिष्ठित लोगों का एक प्रतिनिधिमंडल शिक्षा-मंत्रालय में हाज़िर हुआ और उसके निम्नलिखित तर्क इतने प्रभावशाली पाए गए कि टीचर का मामला ख़त्म कर दिया गया —

1. किसी की निजी ज़िन्दगी से लोगों को क्या मतलब?
2. और फिर उसने आख़िर कौन-सा जुर्म किया है?
3. और क्या विवाह के बिना माँ बनना ज़्यादा लोकतांत्रिक तरीक़ा नहीं है ?

फ़्रांसीसी फ़ौज में सिपाहियों को जो शिक्षा दी जाती है उसमें दूसरे ज़रूरी मसलों के साथ-साथ यह भी सिखाया जाता है कि गुप्त रोगों से बचे रहने और गर्भ रोकने के क्या उपाय हैं? मानो यह बात तो सर्वमान्य है कि प्रत्येक सिपाही व्यभिचार ज़रूर करेगा। 3 मई 1919 ई. को फ़्राँस की 27वीं डिवीज़न के कमांडर ने सिपाहियों के नाम एक एलान प्रकाशित किया था, जिसके शब्द ये हैं –

"ज्ञात हुआ है कि सैनिक वेश्याओं पर बन्दूक़चियों की भीड़ के कारण आम सवार और पैदल सैनिकों को शिकायत है। वे शिकायत करते हैं कि बन्दूक़चियों ने इन जगहों पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया है और दूसरों को अवसर ही नहीं देते। हाई कमाँड प्रयास कर रहा है कि औरतों की संख्या में काफ़ी वृद्धि कर दी जाए, परन्तु जब तक यह व्यवस्था नहीं होती, बन्दूक़चियों को यह आदेश दिया जाता है कि ज़्यादा देर तक अन्दर न रहा करें और अपनी इच्छाओं के पूरा करने में ज़रा जल्दी दिखाया करें।"

विचार तो कीजिए, यह एलान संसार की सर्वाधिक सभ्य सरकार के सैनिक विभाग की ओर से सरकारी तौर पर प्रकाशित किया जाता है। इसका मतलब यह है कि व्यभिचार के नैतिक रूप से दोषपूर्ण होने का विचार तक इन लोगों के मन-मस्तिष्क में शेष नहीं रहा है। सोसाइटी, क़ानून और सरकार सबके सब इस विचार से ख़ाली हो चुके हैं।[1]

महायुद्ध से कुछ समय पहले फ़्रांस में एक एजेंसी इस उसूल पर क़ायम की गई कि हर औरत, चाहे वह अपने हालात, माहौल, आर्थिक परिस्थिति और स्वभाव, नैतिकता और आचरण की दृष्टि से कैसी ही हो, बहरहाल 'एक नए तजुर्बे' के लिए राज़ी की जा सकती है। जो साहब किसी औरत से सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हों, वे बस इतना कष्ट उठाएँ कि उन लेडी साहिबा का

---

1. जिस सेना की नैतिक स्थिति यह हो, अनुमान लगाया जा सकता है कि जब वह किसी दूसरे देश में उसपर विजयी होकर दाख़िल होती होगी, तो उसके सामने हारी हुई क़ौम की इज़्ज़त व आबरू पर क्या कुछ न गुज़र जाती होगी। सेना-सम्बन्धी नैतिकता का एक मानदंड यह है और दूसरा मानदंड वह है जो क़ुरआन पेश करता है—
"ये वे लोग हैं जिन्हें अगर हम ज़मीन में सत्ता देते हैं, तो वे नमाज़ क़ायम करते हैं, ज़कात देते हैं, भलाइयों का हुक्म देते हैं और बुराइयों से रोक देते हैं।" (क़ुरआन, 22:41)
एक वह सिपाही है जो ज़मीन में सांड बना फिरता है और एक यह सिपाही है, जो इसलिए हथेली पर सिर लेकर निकलता है कि मानवीय नैतिकता की सुरक्षा करे और संसार को शुचिता (पाकीज़गी) का पाठ पढ़ाए। क्या इंसान इतना अंधा हो गया है कि दोनों का फ़र्क़ नहीं देख सकता?

अता-पता बता दें और 25 फ़्रांक आरंभिक फ़ीस के तौर पर दाख़िल कर दें। इसके बाद उन साहिबा को मामले पर राज़ी कर लेना एजेंसी का काम है। इस एजेंसी का रजिस्टर देखने से मालूम हुआ कि फ़्रेंच सोसाइटी का कोई वर्ग ऐसा न था जिसके बहुसंख्य लोगों ने उससे 'बिज़नेस' न किया हो, और यह कारोबार हुकूमत से भी छिपा हुआ न था। (पोल ब्यूरो, पृ. 16)

इस नैतिक पतन की चरम स्थिति यह है कि —

"फ़्रांस के कुछ ज़िलों में और बड़े शहरों में घनी आबादी रखनेवाले हिस्सों में निकटतम सगे-सम्बन्धियों के बीच, यहाँ तक कि बाप और बेटी और भाई और बहन के बीच लैंगिक सम्बन्ध का पाया जाना भी अब कोई दुर्लभ घटना नहीं रही है।"[1]

अश्लीलता और बेहयाई की वृद्धि

महायुद्ध से पहले मोस्यो ब्यूलो (M. Bulot), फ़्रांस के अटार्नी जनरल, ने अपनी रिपोर्ट में उन औरतों की संख्या 5 लाख बताई थी जो अपने देह को किराए पर चलाती हैं, परन्तु वहाँ की वेश्यावृत्ति को भारत की पेशेवर वेश्याओं पर अनुमानित न कर लीजिए। वह शिष्ट, सभ्य और विकसित देश है। उसके सब काम शिष्टतापूर्ण, संगठित और बड़े पैमाने पर होते हैं। वहाँ इस पेशे में विज्ञापन-कला से पूरा काम लिया जाता है। अख़बार, चित्रकार, पोस्ट कार्ड, टेलीफ़ोन और निजी दावतनामे, मतलब यह कि सभी सभ्य तरीक़े ग्राहकों का ध्यान आकर्षित कराने के लिए इस्तेमाल किए जाते हैं और जनसाधारण को इसपर कोई आत्मग्लानि नहीं होती। बल्कि इस कारोबार में जिन औरतों को ज़्यादा 'सफलता' मिल जाती है, वे कभी-कभी देश की राजनीति, कारोबार और बड़े एवं सम्भ्रान्त वर्ग के लोगों में' काफ़ी प्रभावशाली बन जाती हैं, वही 'तरक़्क़ी' जो कभी यूनानी संस्कृति में इस वर्ग की औरतों को नसीब हुई थी।

---

1. यह 95 वर्ष पूर्व के फ़्रांस की स्थिति है। वर्तमान काल में भारत भी पाश्चात्य देशों की श्रेणी में आ चुका है। व्यभिचार व बलात्कार के संदर्भ में यह बात खुलकर सामने आ चुकी है कि बहुत-सी घटनाएँ बाप-बेटी, भाई-बहन, चचा-भतीजी, मामा-भांजी आदि "निकटतम सम्बन्धियों" के बीच घट रही हैं। (प्रकाशक)

फ़्रेंच सिनेट के एक सदस्य मोस्यो फ़र्डिनेंड ड्रीफ़्यू (M. Ferdinand Dreyfus) ने अब से कुछ साल पहले बयान किया था कि वेश्यावृत्ति का पेशा अब केवल एक व्यक्ति का व्यक्तिगत काम नहीं रहा है, बल्कि उसकी एजेंसी से जो व्यापक आर्थिक लाभ प्राप्त होते हैं, उनके कारण अब यह एक व्यापार (Business) और एक संगठित उद्योग (Organised Industry) बन गया है। इसका "कच्चा माल" (Raw Material) मुहैया करनेवाले एजेंट अलग हैं। इसकी बाक़ायदा मंडियाँ मौजूद हैं। जवान लड़कियाँ और कमसिन बच्चियाँ वह तिजारती माल हैं जिसका आयात-निर्यात होता है और दस साल से कम उम्र की लड़कियों की माँग ज़्यादा है।

पोल ब्यूरो लिखता है –

> "यह एक ज़बरदस्त व्यवस्था है जो पूरे संगठित तरीक़े से वेतनभोगी पदाधिकारियों और कार्यकर्त्ताओं के सहयोग से चल रहा है। प्रकाशक और लेखक (Publicists), भाषणकर्ता और वक्ता, विद्यार्थी और नौकरानियाँ (Midwives) और कारोबारी पर्यटक इसमें बाक़ायदा कर्मचारी हैं और विज्ञापन और प्रदर्शन के आधुनिक तरीक़े इसके लिए इस्तेमाल किए जाते हैं।"

अश्लील कर्मों के इन अड्डों के अलावा होटलों, चायख़ानों और नाचघरों में एलानिया वेश्यावृत्ति का कारोबार हो रहा है, और कभी-कभी यह पशुता अत्यन्त क्रूरता और निर्ममता की हद तक पहुँच जाती है। सन् 1912 ई. में एक बार पूर्वी फ़्रांस के एक मेयर (Mayor) को हस्तक्षेप करके एक ऐसी लड़की की जान बचानी पड़ी जिसका दिन भर में 47 ग्राहकों से पाला पड़ चुका था और अभी बहुत-से ग्राहक तैयार खड़े थे।

कारोबारी वेश्यालयों के अलावा 'ख़ैराती' (निशुल्क) वेश्यालयों की एक नई क़िस्म पैदा करने का श्रेय महायुद्ध को मिला। लड़ाई के ज़माने में जिन देशभक्त महिलाओं ने फ़्रांस की धरती की सुरक्षा करनेवाले बहादुरों की 'सेवा' की थी और जिनको इस 'सेवा' के बदले में बिन-बाप के बच्चे मिल गए थे, उन्हें 'War-God-Mothers' होने का सम्मान मिल गया—यह एक ऐसी

अछूती कल्पना है कि हमारी भाषा इसका अनुवाद करने में असमर्थ है—ये महिलाएं संगठित रूप में वेश्यावृत्ति करने लगीं और उनकी 'सहायता' करना काले धंधे करनेवालों के लिए एक नैतिक कार्य बन गया। बड़े-बड़े दैनिक समाचारपत्रों और ख़ास तौर से फ्रांस के दो मशहूर सचित्र पत्रिकाओं 'फंतासियो' (Fantasio) और 'लावी पारेज़ियाँ' (Lavie Parisienne) ने उनकी ओर 'कामी पुरुषों' का ध्यान आकर्षित करने की सेवा सबसे बढ़कर अंजाम दी। सन् 1917 ई. के शुरू में 'लावी पारेज़ियाँ' नामक समाचारपत्र का एक अंक इन औरतों के 199 विज्ञापनों पर आधारित था।

वासना और अश्लीलता की महामारी

अश्लीलता की यह अधिकता और लोकप्रियता काम-भावनाओं की जिस उत्तेजना का परिणाम है, वह लिट्रेचर, तस्वीरें, सिनेमा, थिएटर, नाच, नग्नता और अश्लीलता के आम दृश्यों से प्रकट होती है।

स्वार्थी पूँजीपतियों की एक पूरी फ़ौज है जो हर संभव उपाय से जनता की काम-वासना की प्यास को भड़काने में लगी हुई है और इस ज़रीए से अपने कारोबार को बढ़ा रही है। दैनिक और साप्ताहिक अख़बार, सचित्र पत्रिकाएँ, अर्धमासिक और मासिक पत्रिकाएँ अत्यंत अश्लील लेख और शर्मनाक तस्वीरें छापते हैं, क्योंकि ग्राहक-संख्या बढ़ाने का यह सर्वाधिक प्रभावकारी साधन है। इस काम में आला दर्जे का ज़ेहन, कला और मनोविज्ञान की महारत इस्तेमाल की जाती है, ताकि शिकार किसी ओर से बचकर न जा सके। इनके अलावा लैंगिक समस्याओं पर अत्यन्त अश्लील साहित्य पम्फ़लेटों और किताबों के रूप में निकलता रहता है, जिनके प्रकाशन की अधिकता का हाल यह है कि एक-एक संस्करण पचास-पचास हज़ार की संख्या में छपता है और कभी-कभी साठ-साठ संस्करणों तक नौबत पहुँच जाती है।

कुछ पब्लिशिंग हाउस तो सिर्फ़ इसी साहित्य के लिए ख़ास हैं। बहुत-से लेखक ऐसे हैं जो इसी माध्यम से लोकप्रियता प्राप्त करते हैं। अब किसी अश्लील पुस्तक का लिखना किसी के लिए बे-इज़्ज़ती नहीं है, बल्कि यदि पुस्तक लोकप्रिय हो जाए, तो ऐसे लेखकगण फ्रेंच अकादमी के सदस्य या कम

से कम क्रोए दान्योर (Croix Dhonneur) के हक़दार हो जाते हैं।

सरकार इन सभी निर्लज्जतापूर्ण और कामोत्तेजक चीज़ों को ठंढे दिल से देखती रहती है। कभी कोई बहुत ही ज़्यादा शर्मनाक चीज़ छप गई तो पुलिस ने अनचाहे मन से चालान कर दिया, परन्तु ऊपर उदार हृदय अदालतें बैठी हैं जिनके इंसाफ़ के दरबार से इस प्रकार के अपराधियों को केवल डाँट-डपटकर छोड़ दिया जाता है। क्योंकि जो लोग अदालत की कुर्सियों पर विराजमान होते हैं उनमें से ज़्यादातर इस लिट्रेचर से आनंद लेते रहते हैं और अदालत के कुछ ज़िम्मेदारों की अपनी क़लम वासनापूर्ण अश्लील साहित्य के लेखन में लगी रहती है। संयोग से अगर कोई मजिस्ट्रेट 'पुराने ख़्याल' का निकल आया और उससे 'अन्याय' का डर हुआ तो बड़े-बड़े साहित्यकार और नामवर लेखक एकमत होकर इस मामले में हस्तक्षेप करते हैं और ज़ोर-शोर से अख़बारों में लिखा जाता है कि आर्ट और लिट्रेचर की तरक़्क़ी के लिए स्वतंत्र वातावरण चाहिए। अंधकार युग की सी मानसिकता के साथ नैतिक पाबन्दियाँ लगाने का मतलब तो यह है कि ललित कलाओं का गला घोंट दिया जाए।

और यह ललित कलाओं की तरक़्क़ी होती किस-किस तरह है? उसमें एक बड़ा हिस्सा उन नग्न और व्यावहारिक चित्रों का है जिनके अलबम लाखों की संख्या में तैयार किये जाते हैं, और न सिर्फ़ बाज़ारों, होटलों और चायख़ानों में, बल्कि स्कूलों और कॉलेजों तक में फैलाए जाते हैं। एमील पोरीसी (Emile Poureisy) ने अश्लीलता-विरोधी संस्था की दूसरी आम सभा में जो रिपोर्ट पेश की है, उसमें वह लिखता है–

> "ये गन्दे फ़ोटोग्राफ़ लोगों की इन्द्रियों में तीव्र उत्तेजना और उन्माद पैदा करते हैं और अपने बद-क़िस्मत ख़रीदारों को ऐसे-ऐसे अपराधों पर उकसाते हैं जिनकी कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। लड़कों और लड़कियों पर उनका घातक प्रभाव बयान की सीमा से परे है। बहुत-से स्कूल और कॉलेज इन्हीं के कारण नैतिक और शारीरिक रूप से बर्बाद हो चुके हैं। ख़ास तौर पर लड़कियों के लिए तो कोई चीज़ इससे ज़्यादा तबाही फैलानेवाली नहीं हो सकती।"

और इन्हीं ललित कलाओं की सेवा थिएटर, सिनेमा, म्यूज़िक हॉल और कॉफ़ी हाउसों के मनोरंजनों से हो रही है। नाटक, जिनके अभिनय को फ्रेंच सोसाइटी के ऊँचे-से-ऊँचे घराने दिलचस्पी के साथ देखते हैं और जिनके लेखकों और सफल अभिनेताओं-अभिनेत्रियों पर मुबारकबाद के फूल निछावर किए जाते हैं, बिना किसी अपवाद के सब-के-सब वासना से भरे हैं और उनकी विशेषता बस यह है कि नैतिक रूप से जो चरित्र निकृष्टतम हो सकता है उसको उनमें आदर्श और नमूने की चीज़ बनाकर पेश किया जाता है। पोल ब्यूरो के अनुसार —

> ''तीस-चालीस साल से हमारे नाटककार ज़िंदगी के जो नक़्शे पेश कर रहे हैं, उनको देखकर अगर कोई व्यक्ति हमारे सामाजिक जीवन का अन्दाज़ा लगाना चाहे, तो वह बस यह समझेगा कि हमारी सोसाइटी में जितने शादीशुदा जोड़े हैं सब विश्वासघाती और दाम्पत्य जीवन की वफ़ादारी से वंचित हैं। पति या तो मूर्ख होता है या पत्नी की जान के लिए मुसीबत, और पत्नी की सबसे अच्छी ख़ूबी अगर कोई है तो वह यह कि हर समय पति से उसका मन उचाट रहे और इधर-उधर दिल लगाने के लिए तैयार रहे।''

ऊँची सोसाइटी के थिएटरों का जब यह हाल है तो आम लोगों के थिएटरों और मनोरंजन-स्थलों का जो कुछ रंग होगा उसका अन्दाज़ा आसानी से किया जा सकता है। आवारा प्रवृत्ति के निकृष्ट लोग जिस भाषा, जिन अदाओं और जिन नंगी चीज़ों से संतुष्ट हो सकते हैं, वे बिना किसी शर्म व हया और लाग-लपेट के वहाँ पेश कर दी जाती हैं और आम जनता को विज्ञापनों के माध्यम से यह यक़ीन दिलाया जाता है कि तुम्हारी वासना की प्यास जो-जो कुछ माँगती है, वह सब यहाँ हाज़िर है– 'हमारा स्टेज हिचकिचाहट और संकोच से परे और वास्तविकता पर आधारित (Realistic) है।'

एमील पोरीसी ने अपनी रिपोर्ट में बहुत-से उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जो विभिन्न मनोरंजन-स्थलों का भ्रमण करके जमा की गई थीं। नामों को उसने वर्णमाला के अक्षरों के परदे में छिपा दिया है —

"ब में अभिनेत्री (ऐक्ट्रेस) के गीत, बातचीत (Monologues) और ऐक्टिंग और हरकतें हद दर्जा अश्लील थीं और परदे पर जो बैकग्राउंड पेश किया गया था, वह बस यौन-सम्बन्ध की आख़िरी सीमा तक पहुँचते-पहुँचते रह गया था। एक हज़ार से ज़्यादा तमाशाई मौजूद थे, जिनमें सज्जन भी दिखाई पड़ रहे थे और सभी बदमस्त होकर तारीफ़ें कर रहे थे।"

"न में छोटे-छोटे गीत और उनके दर्मियान छोटे-छोटे बोल और उनके साथ अदाएँ और ऐक्टिंग बेशर्मी की इंतिहा को पहुँची हुई थीं। बच्चे और कमसिन नौजवान अपने माँ-बाप के साथ बैठे हुए इस तमाशे को देख रहे थे और पूरे जोश और उमंग के साथ प्रत्येक निकृष्ट अश्लीलता पर तालियाँ बजाते थे।"

"ल में उपस्थित लोगों की भीड़ ने पाँच बार शोर मचाकर एक ऐसी अभिनेत्री को ऐक्ट दोहराने पर मजबूर किया जो अपने ऐक्ट को एक अत्यन्त अश्लील गीत पर ख़त्म करती थी।"

"र में उपस्थित लोगों ने ऐसी ही एक और अभिनेत्री से बार-बार फ़रमाइश करके एक अत्यन्त अश्लील चीज़ की पुनरावृत्ति कराई, आख़िर उसने बिगड़ कर कहा, 'तुम कितने बेशर्म लोग हो, देखते नहीं हो कि हॉल में बच्चे भी मौजूद हैं।'— यह कहकर वह ऐक्ट पूरा किए बग़ैर हट गई। चीज़ इतनी अश्लील थी कि वह आदी मुजरिमा भी इस बात को सहन नहीं कर सकती थी कि उस अश्लील हरकत को दोहराए।"

"ज़ में तमाशा ख़त्म होने के बाद अभिनेत्रियों (ऐक्ट्रेसों) पर लॉट्री डाली गई। लॉट्री के टिकट ख़ुद अभिनेत्रियाँ दस-दस सानेतम[1] में बेच रही थीं। जिस आदमी के नाम जो अभिनेत्री निकल आती, वह उस रात के लिए उस की थी।"

1. एक सिक्का।

पॉल ब्योरो लिखता है कि कभी-कभी स्टेज पर बिल्कुल नंगी औरतें तक पेश कर दी जाती हैं, जिनके जिस्म पर कपड़े के नाम का एक तार भी नहीं होता। अडोल्फ़ ब्रेसाँ (Adolphe Briason) ने एक बार फ़्रांस के मशहूर अख़बार 'टाम' (Tamps) में इन चीज़ों का विरोध करते हुए लिखा कि अब बस इतनी कसर रह गई है कि स्टेज पर औरत-मर्द के संभोग का दृश्य प्रस्तुत कर दिया जाए, और सच यह है कि 'आर्ट' की पूर्णाहूति (तकमील) भी उसी समय होगी!

गर्भनिरोधक आंदोलन और कामशास्त्र (Sexual Science) के तथाकथित ज्ञानपरक और चिकित्सा सम्बन्धी साहित्य ने भी अश्लीलता फैलाने और लोगों के चरित्र बिगाड़ने में बड़ा हिस्सा लिया है। जन-सभाओं में भाषणों और मैजिक लैंटर्न के द्वारा और पुस्तकों में चित्रों व व्याख्याओं के द्वारा गर्भ और उससे सम्बद्ध चीज़ें और गर्भनिरोधक उपकरणों के इस्तेमाल के तरीक़े को इतने विस्तार से बताया जाता है जिनके बाद कोई चीज़ स्पष्ट करने के लिए बाक़ी नहीं रह जाती। इसी तरह कामशास्त्र की पुस्तकों में देह की व्याख्या से लेकर आख़िर तक सेक्स-सम्बन्धी मामलों के किसी पहलू को भी रौशनी में लाए बग़ैर नहीं छोड़ा जाता। देखने में तो इन सब चीज़ों पर ज्ञान और साइंस का ग़िलाफ़ चढ़ा दिया गया है, ताकि ये आरोप-मुक्त हो जाएँ। बल्कि और अधिक तरक़्क़ी करके इन चीज़ों के फैलाव को 'जन-सेवा' का नाम दे दिया जाता है और वजह यह बताई जाती है कि हम तो लोगों को सेक्स के मामलों में ग़लतियाँ करने से बचाना चाहते हैं, मगर वास्तविकता यह है कि इस लिट्रेचर और इस शिक्षा के प्रचार ने औरतों, मर्दों और कमसिन नौजवानों में ज़बरदस्त बेहयाई पैदा कर दी है। इसकी वजह से आज यह नौबत आ गई है कि एक नव-युवती, जो स्कूल में तालीम पाती है और अभी पूरी तरह बालिग़ (वयस्क) भी नहीं हुई है, सेक्स के मामलों में ऐसी जानकारियाँ रखती है जो कुछ शादीशुदा औरतों को भी मालूम नहीं। और यही हाल नव-युवक, बल्कि नाबालिग़ लड़कों का भी है। उनकी भावनाएँ वक़्त से पहले जाग जाती हैं। उनमें सेक्स के तजुर्बों का शौक़ पैदा हो जाता है। पूरी जवानी को पहुँचने से पहले ही वे अपने आपको काम-वासनाओं के चंगुल में दे देते हैं। विवाह के

लिए तो उम्र की हद मुक़र्रर की गई है, मगर इन तजुर्बों के लिए कोई हद मुक़र्रर नहीं, बारह-तेरह साल की उम्र ही से इनका सिलसिला शुरू हो जाता है।[1]

क़ौमी तबाही की निशानियाँ

दुराचार, भोग-विलासिता और शारीरिक आनन्द की दासता इस सीमा को पहुँच चुकी हो जहाँ औरत, मर्द, जवान, बूढ़े, सब के सब ऐशपरस्ती में इतने डूब गए हों और जहाँ इंसान को तीव्र कामोत्तेजना ने यूँ आपे से बाहर कर दिया हो, ऐसी जगह उन सारे कारणों का क्रियान्वित हो जाना बिल्कुल एक स्वाभाविक बात है, जो किसी क़ौम की तबाही के कारक होते हैं। लोग इसी प्रकार की गिरावट की शिकार क़ौमों को तरक़्क़ी की चोटी पर पहुँची हुई देखकर यह नतीजा निकालते हैं कि उनकी ऐशपरस्ती उनकी तरक़्क़ी में रुकावट नहीं है, बल्कि उल्टी मददगार है और यह कि एक क़ौम की इन्तिहाई तरक़्क़ी और बलन्दी का ज़माना वह होता है, जब वह भोग-विलासिता के चरम शिखर पर होती है। लेकिन यह एक सरासर ग़लत नतीजा निकालना है, जहाँ बनाव और बिगाड़ की ताक़तें मिली-जुली काम कर रही हों और समष्टीय रूप से बनाव और निर्माण का पहलू नुमायाँ नज़र आता हो, वहाँ बिगाड़ की ताक़तों को भी समान रूप से निर्माण के कारकों में गिन लेना सिर्फ़ उस आदमी का काम हो सकता है जिसकी अक़्ल मारी गई हो।

मिसाल के तौर पर अगर एक होशियार व्यापारी अपनी बुद्धि, मेहनत और अनुभव की वजह से लाखों रुपये कमा रहा है और उसके साथ वह शराब, जुआ और ऐशपरस्ती में लिप्त हो गया है तो आप कितनी बड़ी ग़लती करेंगे अगर उसकी ज़िंदगी के इन दोनों पहलुओं को उस ख़ुशहाली और तरक़्क़ी के कारकों में गिन लेंगे। असल में उसकी ख़ूबियों का पहला समूह उसके बनाव

1. अत्यंत 'सभ्य' और 'उन्नत' देशों के स्कूलों के सर्वेक्षण से सामने आए आँकड़ों के अनुसार, 20वीं सदी के अंत तक, हाई स्कूल स्तर की बहुसंख्य बालिकाएँ यौन-क्रिया का अनुभव कर चुकी होती हैं। गर्भनिरोधक साधनों के बावजूद उनमें से कुछ गर्भवती भी हो जाती हैं। फिर गर्भपात का व्यापक प्रावधान उन्हें इस मुसीबत से नजात दिलाता है। (प्रकाशक)

की वजह है और दूसरा समूह उसके बिगाड़ में लगा हुआ है। पहले समूह की ताक़त से अगर इमारत क़ायम है तो इसका मतलब यह नहीं है कि दूसरे समूह की बिगाड़वाली ताक़त अपना असर नहीं कर रही है। ज़रा गहरी नज़र से देखिए तो पता चलेगा कि ये बिगाड़ पैदा करनेवाली ताक़तें उसके दिमाग़ और जिस्म की ताक़तों को निरन्तर खाए जा रही हैं, उसकी मेहनत से कमाई हुई दौलत पर डाका डाल रही हैं और उसको क्रमशः तबाह करने के साथ हर वक़्त इस ताक में लगी हुई हैं कि कब एक निर्णायक हमले का मौक़ा मिले और ये एक ही बार में उसका ख़ात्मा कर दें। जुए का शैतान किसी बुरी घड़ी में उसकी उम्र भर की कमाई को एक सेकेंड में ग़ारत कर सकता है और वह उस घड़ी के इंतिज़ार में बैठा है। मद्यपान (शराबनोशी) का शैतान समय आने पर उससे मदहोशी की हालत में एक ग़लती करा सकता है, जो एक ही झटके में उसे दीवालिया बनाकर छोड़ दे, और वह भी घात में लगा हुआ है। दुराचार (बदकारी) का शैतान भी उस घड़ी का इन्तिज़ार कर रहा है, जब वह उसे क़त्ल या आत्महत्या या किसी और अचानक तबाही में डाल दे। आप अन्दाज़ा नहीं कर सकते कि अगर वह इन शैतानों के चंगुल में फँसा हुआ न होता तो उसकी तरक़्क़ी का क्या हाल होता।

ऐसा ही मामला एक क़ौम का भी है। वह तामीरी ताक़तों के बल पर तरक़्क़ी करती है, मगर सही रहनुमाई न मिलने की वजह से तरक़्क़ी की तरफ़ कुछ ही क़दम बढ़ाने के बाद ख़ुद अपने बिगाड़ के सामान जुटाने लगती है। कुछ मुद्दत तक तामीरी ताक़तें अपने ज़ोर में उसे आगे बढ़ाए लिए जाती हैं, मगर उसके साथ-साथ विघटनकारी ताक़तें उसकी ज़िंदगी की ताक़त को अन्दर-ही-अन्दर घुन की तरह खाती रहती हैं, यहाँ तक कि अन्ततः उसे इतना खोखला करके रख देती हैं कि एक अचानक सदमा उसके बड़प्पन के महल को आन-की-आन में धराशायी कर सकता है। यहाँ संक्षिप्त रूप में हम तबाही के उन बड़े-बड़े मुख्य कारणों को बयान करेंगे जो फ़्रांसीसी क़ौम की उस त्रुटिपूर्ण सामाजिक व्यवस्था ने उसके लिए पैदा किए हैं।

शारीरिक शक्तियों की गिरावट

काम-वासना के इस वर्चस्व का पहला नतीजा या हुआ है कि फ़्रांसीसियों की शारीरिक शक्ति धीरे-धीरे जवाब देती चली जा रही है। हर समय भड़कती रहनेवाली भावनाओं ने उनकी इन्द्रियों को कमज़ोर कर दिया है। इच्छाओं की दासता ने उनमें संयम और सहनशक्ति कम ही बाक़ी छोड़ी है और गुप्त रोगों की अधिकता ने उनकी सेहत पर अत्यन्त घातक असर डाला है। बीसवीं सदी के शुरू से यह हाल है कि फ़्रांस की फ़ौज के अधिकारियों को मजबूर होकर हर कुछ साल के बाद नये रंगरूटों के लिए शारीरिक योग्यता के पैमाने को घटा देना पड़ता है, क्योंकि योग्यता का जो स्तर पहले था, अब उस पैमाने के नौजवान क़ौम में कम से कमतर होते जा रहे हैं।

यह एक विश्वसनीय पैमाना है जो थरमामीटर की तरह क़रीब-क़रीब शुद्ध रूप में बताता है कि फ़्रेंच क़ौम की शारीरिक शक्तियाँ कितनी तेज़ी के साथ क्रमशः घट रही हैं। गुप्त रोग इस गिरावट के कारणों में से एक अहम कारण हैं। महायुद्ध के आरंभिक दो सालों में जिन सिपाहियों को सिर्फ़ आतशक की वजह से छुट्टी देकर अस्पतालों में भेजना पड़ा उनकी संख्या 75000 थी। सिर्फ़ एक औसत दर्जे की फ़ौजी छावनी में एक ही वक़्त में 242 सिपाही इस रोग के शिकार हुए।

एक ओर उस वक़्त की नज़ाकत देखिए कि फ़्रांसीसी क़ौम की मौत और ज़िंदगी का फ़ैसला सामने था और उसके अस्तित्त्व के लिए एक-एक सिपाही को जान लड़ा देने की ज़रूरत थी, एक-एक फ़्रांक क़ीमती था और वक़्त, ताक़त, साधन हर चीज़ की ज़्यादा से ज़्यादा मात्रा रक्षा में ख़र्च होने की ज़रूरत थी। दूसरी ओर उस क़ौम के जवानों को देखिए कि कितने हज़ार लोग इस ऐयाशी की वजह से न सिर्फ़ कई-कई महीनों के लिए बेकार हुए, बल्कि उन्होंने अपनी क़ौम की दौलत और साधनों को भी उस आड़े वक़्त में अपने इलाज पर बरबाद कराया।

एक फ़्रांसीसी अनुभवी चिकित्सक लेरीड (Dr. Laridde) का बयान है कि फ़्रांस में हर साल सिर्फ़ आतशक और उससे उत्पन्न रोगों की वजह से 30

हज़ार जानें तबाह होती हैं, और टी. बी. के बाद यह रोग सबसे ज़्यादा तबाहियों की वजह होता है। यह सिर्फ़ एक गुप्त रोग का हाल है, और गुप्त रोगों की सूची केवल इसी एक रोग पर आधारित नहीं है[1] ।

पारिवारिक व्यवस्था की बर्बादी

इस स्वच्छंद काम-वासना और आवारापन के इस आम रिवाज ने दूसरी बड़ी मुसीबत जो फ्रांसीसी सामाजिक व्यवस्था पर डाली है, वह पारिवारिक व्यवस्था की तबाही है। परिवार की व्यवस्था औरत और मर्द के उस स्थायी और मज़बूत ताल्लुक़ से बनती है जिसका नाम निकाह (विवाह) है। इसी ताल्लुक़ की वजह से व्यक्तियों की ज़िंदगी में सुकून, ठहराव और मज़बूती पैदा होती है। यही चीज़ उनके व्यक्तिक जीवन को सामूहिक जीवन में तब्दील करती है और बिखराव (Anarchy) के रुझानों को दबाकर उन्हें संस्कृति का सेवक बना देती है। इसी व्यवस्था के दायरे में मुहब्बत, अम्न और त्याग का वह पाकीज़ा माहौल पैदा होता है जिसमें नयी नस्लें सही अख़्लाक़, सही उठान और चरित्र-निर्माण के साथ पल-बढ़ सकती हैं। लेकिन जहाँ औरतों और मर्दों के ज़ेहन से विवाह और उसके मक़सद का विचार बिल्कुल ही निकल गया हो और जहाँ सेक्स के ताल्लुक़ का कोई मक़सद वासना की आग बुझा लेने के सिवा लोगों के ज़ेहन में न हो और जहाँ मौज-मस्ती के रसिया मर्दों और औरतों के जत्थे का जत्था भौंरों की तरह फूल-फूल का रस लेते फिरते हों, वहाँ यह व्यवस्था न क़ायम हो सकती है, न क़ायम रह सकती है। वहाँ औरतों और मर्दों में यह क्षमता ही बाक़ी नहीं रहती कि दाम्पत्य जीवन की ज़िम्मेदारियाँ और उसके अधिकार और कर्त्तव्य और उसके अख़लाक़ी बन्धनों का बोझ सहार सकें। उनकी इस ज़ेहनी और अख़लाक़ी स्थिति का असर यह होता है कि हर नस्ल की तर्बियत पहली नस्ल से बदतर होती है। व्यक्तियों में स्वार्थ और

---

1. सूज़ाक और आतशक जैसे पुराने गुप्त रोगों के अतिरिक्त वर्तमान काल को 'एड्स' (Aids) जैसे ख़ौफ़नाक और घातक मर्ज़ का सामना है। इसके निदान के उपायों में से सबसे प्रसिद्ध उपाय यह बताया जाता है कि (व्यभिचार व बदकारी चाहे जितनी कीजिए लेकिन सावधानी और सतर्कता बरतते हुए) 'कण्डोम' का उपयोग करना चाहिए। (प्रकाशक)

मनमानी इतनी बढ़ जाती है कि नागरिकता की व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगती है। लोगों में अनेक रंगी व अस्थिरता इतनी बढ़ जाती है कि क़ौमी सियासत और उसके अन्तर्राष्ट्रीय रवैये में भी कोई ठहराव बाक़ी नहीं रहता। घर का सुकून न मिलने की वजह से व्यक्तियों की ज़िंदगियाँ बहुत ज़्यादा कड़वी होती जाती हैं और एक स्थायी बेचैनी उनको किसी कल चैन नहीं लेने देती। यह दुनिया की जहन्नम का अज़ाब है जिसे इनसान अपनी मूर्खतापूर्ण आनन्द-प्राप्ति के जुनून में ख़ुद मोल लेता है।

फ्रांस में सालाना केवल सात-आठ प्रति हज़ार का औसत उन मर्दों और औरतों का है जो पति-पत्नी के रिश्ते में जुड़ते हैं। यह औसत ख़ुद इतना कम है कि इसे देखकर आसानी के साथ अन्दाज़ा किया जा सकता है कि आबादी का कितना बड़ा हिस्सा ग़ैर-शादीशुदा है। फिर इतनी थोड़ी तादाद जो विवाह करती है, उसमें भी बहुत कम लोग ऐसे हैं जो पाकदामन रहने और पाक अख़लाक़ी ज़िंदगी गुज़ारने की नीयत से विवाह करते हैं। इस एक उद्देश्य के सिवा हर दूसरा संभव उद्देश्य उनकी नज़रों में होता है, यहाँ तक कि सामान्य घटित उद्देश्यों में से एक यह भी है कि विवाह से पहले एक औरत ने जो बच्चा नाजायज़ तौर पर जना है, विवाह कर के उसको जायज़ बच्चा बना दिया जाए। अतः पॉल (Paul) ब्यूरो लिखता है कि —

> ''फ्रांस के कामपेशा लोगों (Working Classes) में यह आम रिवाज है कि विवाह से पहले औरत अपने होनेवाले शौहर से इस बात का वादा ले लेती है कि वह उसके बच्चे को अपना बच्चा स्वीकार करेगा। सन् 1917 ई. में सेन (Siene) की दीवानी अदालत के सामने एक औरत ने बयान दिया कि 'मैंने शादी के वक़्त ही अपने शौहर को यह बात बता दी थी कि इस शादी से मेरा उद्देश्य सिर्फ़ यह है कि हमारे विवाह से पहले आज़ादाना ताल्लुक़ात से जो बच्चे पैदा हुए हैं, उनको 'वैध' बना दिया जाए। बाक़ी रही यह बात कि मैं उसके साथ बीवी बनकर ज़िंदगी गुज़ारूँ, तो यह न उस समय मेरे ज़ेहन में थी, न अब है। इसी वजह से जिस दिन शादी हुई उसी दिन साढ़े पाँच बजे मैं अपने शौहर से अलग हो गई और आज तक

उससे नहीं मिली, क्योंकि मैं बीवी की ज़िम्मेदारी निभाने की कोई नीयत न रखती थी।'' —(पृष्ठ 55)

पेरिस के एक मशहूर कॉलेज के प्रिंसिपल ने ब्यूरो से बयान किया कि—

''आमतौर से नौजवान विवाह में सिर्फ़ यह उद्देश्य निगाहों में रखते हैं कि घर पर भी एक रखैल की सेवाएँ हासिल कर लें। दस-बारह साल तक वे हर ओर आज़ादाना मज़े चखते फिरते हैं। फिर एक समय आता है कि इस प्रकार की बे-ढंगी आवारा ज़िंदगी से थककर वे एक औरत से शादी कर लेते हैं, ताकि घर का आराम भी किसी हद तक मिले और आज़ादी के साथ ज़ौक़ पूरा करने का आनन्द भी मिलता रहे।'' (पृष्ठ 56)

''फ्रांस में शादीशुदा लागों का व्यभिचारी होना क़तई तौर पर कोई ऐब या निन्दनीय कर्म नहीं है। अगर कोई व्यक्ति अपनी बीवी के अलावा कोई स्थायी रखैल रखता है तो वह उसे छिपाने की ज़रूरत नहीं समझता और समाज इस काम को बिल्कुल एक साधारण और व्यावहारिक व संभावित बात समझता है।'' —(पृष्ठ 76-77)

इन हालात में विवाह का रिश्ता इतना कमज़ोर होकर रह गया है कि बात-बात में टूट जाता है। कभी-कभी इस बेचारे की उम्र कुछ घन्टों से आगे नहीं बढ़ पाती। अतएव फ्रांस के एक ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति ने, जो कई बार मंत्री रह चुका था, अपनी शादी से सिर्फ़ पाँच घंटे के बाद अपनी बीवी से तलाक़ हासिल कर ली। ऐसी छोटी-छोटी बातें तलाक़ का कारण बन जाती हैं जिन्हें सुनकर हँसी आती है। जैसे, दोनों में से किसी एक का सोते में ख़र्राटे लेना या कुत्ते को पसन्द न करना। सेन की दीवानी अदालत ने एक बार सिर्फ़ एक तारीख़ में 294 विवाह निरस्त कराए। सन् 1844 ई. में जब तलाक़ का नया क़ानून पास हुआ था, चार हज़ार तलाक़ों की घटना हुई थी। सन् 1900 ई. में यह संख्या साढ़े सात हज़ार तक पहुँची। सन् 1913 ई. में 16 हज़ार और सन् 1931 ई. में 21 हज़ार।

नस्ल-हत्या

बच्चों की परवरिश एक ऊँचे दर्जे का अख़लाक़ी काम है जो आत्म संयम, इच्छाओं का त्याग, कष्टों और परिश्रमों का सहन और जान व माल का बलिदान चाहता है। स्वार्थी नफ़्सपरस्त लोग, जिनपर वैयक्तिकता और पाशविकता का पूरा प्रभुत्त्व हो चुका हो, इस ख़िदमत को अंजाम देने के लिए किसी तरह राज़ी नहीं हो सकते।

साठ-सत्तर वर्ष से फ़्रांस में गर्भ-रोधक आन्दोलन का ज़बरदस्त प्रचार हो रहा है। इस आन्दोलन की वजह से फ़्रांस की धरती के एक-एक मर्द और एक-एक औरत तक को उन उपायों की जानकारी करा दी गई है जिनसे आदमी इस क़ाबिल हो सकता है कि यौन-सम्बन्ध और उसकी लज़्ज़तों और सुखों का उपभोग करने के बावजूद इस काम के स्वाभाविक परिणाम, यानी गर्भ धारण करने और नस्ल की वृद्धि, से बच सके। कोई शहर, क़स्बा या गाँव ऐसा नहीं है जहाँ गर्भ-निरोधक दवाएँ और उपकरण खुलेआम न बिकते हों और हर व्यक्ति उनको हासिल न कर सकता हो। इसका नतीजा यह है कि स्वतन्त्र यौनाचार करनेवाले लोग ही नहीं, बल्कि शादीशुदा जोड़े भी ज़्यादा से ज़्यादा इन उपायों को इस्तेमाल करते हैं और हर औरत व मर्द की यह ख़ाहिश है कि उनके बीच बच्चा, यानी वह बला जो तमाम आनन्द व सुख को किरकिरा कर देती है, किसी तरह बाधा न डालने पाए। फ़्रांस की जन्म-दर जिस रफ़्तार से घट रही है उसको देखकर विशेषज्ञों ने अन्दाज़ा लगाया है कि गर्भ-निरोधक इस आम वबा की वजह से कम से कम 6 लाख इंसानों की पैदाइश हर साल रोक दी जाती है।

इन उपायों के बावजूद जो गर्भ ठहर जाते हैं उनको गर्भपात के द्वारा बरबाद कर दिया जाता है और इस तरह, और भी तीन-चार लाख इंसान दुनिया में आने से रोक दिए जाते हैं। गर्भपात सिर्फ़ ग़ैर-शादीशुदा औरतें ही नहीं करातीं, बल्कि शादीशुदा भी इस मामले में उनके समकक्ष हैं। नैतिक रूप से इस काम को एतिराज़ के क़ाबिल नहीं समझा जाता, बल्कि औरत का हक़ समझा जाता है। क़ानून ने इसकी ओर से मानो आँखें बंद कर ली हैं। यद्यपि क़ानून की किताब में यह काम अभी तक अपराध है, लेकिन व्यावहारिक रूप से हाल यह

है कि 300 में से मुश्किल से एक के चालान की नौबत आती है और फिर जिनका चालान होता है उनमें से 75 प्रतिशत अदालत में जाकर छूट जाते हैं। गर्भपात के डॉक्टरी उपाय इतने आसान और जनता में इतने जाने-पहचाने कर दिए गए हैं कि अक्सर औरतें ख़ुद ही गर्भपात कर लेती हैं और जो नहीं कर सकतीं उन्हें डाक्टरी मदद हासिल करने में कोई परेशानी नहीं होती। पेट के बच्चे को क़त्ल कर देना उन लोगों के लिए बिल्कुल ऐसा हो गया है, जैसे किसी दर्द करनेवाले दाँत को निकलवा देना।

इस मानसिकता ने माँ की फ़ितरत को इतना तोड़-मरोड़ दिया है कि वह माँ, जिसकी मुहब्बत को दुनिया हमेशा से मुहब्बत की सबसे ऊँची मंज़िल समझती रही है, आज अपनी औलाद से विक्षुब्ध (बेज़ार) और नफ़रत करनेवाली ही नहीं, बल्कि वह उसकी दुश्मन हो गई है। गर्भ-निरोधक और गर्भपात से बच-बचाकर भी जो बच्चे दुनिया में आ जाते हैं, उनके साथ अत्यन्त निर्दयता का व्यवहार किया जाता है। इस दर्दनाक हक़ीक़त को पॉल ब्यूरो ने इन शब्दों में बयान किया है –

> "नित्य प्रति अख़बारों में उन बच्चों की मुसीबतों की ख़बरें छपती रहती हैं जिनपर उनके माँ-बाप सख़्त से सख़्त ज़ुल्म ढाते हैं। अख़बारों में तो सिर्फ़ असाधारण बातों ही का ज़िक्र आता है, मगर लोग जानते हैं कि आमतौर से इन बच्चों – अनचाहे मेहमानों – के साथ कैसी निर्दयता का व्यवहार किया ज़ाता है, जिनसे उनके माँ-बाप सिर्फ़ इसलिए दुखी हैं कि इन कमबख़्तों ने आकर ज़िंदगी का सारा मज़ा ख़राब कर दिया। साहस की कमी गर्भपात में रुकावट बन जाती है और इस तरह इन मासूमों को आने का मौक़ा मिल जाता है। मगर जब ये आ जाते हैं। तो उन्हें इसकी पूरी सज़ा भुगतनी पड़ती है।'
>
> (पृष्ठ 74)

> "यह विरक्ति और नफ़रत यहाँ तक पहुँचती है कि एक बार एक औरत का छः माह का बच्चा मर गया तो वह उसकी लाश को सामने रखकर ख़ुशी के मारे नाची और गाई और अपने पड़ोसियों से कहती फिरी कि अब हम दूसरा बच्चा न होने देंगे। मुझे और मेरे

शौहर को इस बच्चे की मौत से बड़ी शान्ति मिली है। देखो तो सही, एक बच्चा क्या चीज़ होता है। हर वक़्त रों-रों करता रहता है, गन्दगी फैलाता है और आदमी को कभी उससे छुटकारा नसीब नहीं होता।" (पृष्ठ 75)

इससे भी ज़्यादा दर्दनाक बात यह है कि बच्चों को क़त्ल करने की वबा तेज़ी के साथ बढ़ रही है और फ़्रांसीसी सरकार और उसकी अदालतें गर्भपात की तरह इस भारी जुर्म के मामले में भी कमाल दर्जे की ग़फ़लत बरत रही हैं। जैसे फ़रवरी सन् 1918 ई. में लायर (Loire) की अदालत में दो लड़कियाँ अपने बच्चों के क़त्ल के इलज़ाम में पेश हुईं और दोनों बरी कर दी गईं। इनमें से एक लड़की ने अपने बच्चे को पानी में डुबोकर हलाक किया था। उसके एक बच्चे को उसके रिश्तेदार पहले से पाल-पोस रहे थे और इस दूसरे बच्चे को भी वे पालने के लिए तैयार थे, मगर उसने फिर भी यही फ़ैसला किया कि इस बेचारे को जीता न छोड़े। अदालत की राय में उसका जुर्म माफ़ कर दिए जाने के क़ाबिल था।

दूसरी लड़की ने अपने बच्चे को गला घोंटकर मारा और जब गला घोंटने पर भी उसमें कुछ जान बाक़ी रह गई तो दीवार पर मारकर उसका सिर फोड़ दिया। यह औरत भी फ़्रांसीसी जजों और ज्यूरी की निगाह में सज़ा की हक़दार न ठहरी।

इसी 1918 ई. के मार्च महीने में सेन की अदालत के सामने एक नाचनेवाली औरत पेश हुई जिसने अपने बच्चे की ज़बान हलक़ से खींचने की कोशिश की। फिर उसका सिर फोड़ा और उसका गला काट डाला। यह औरत भी जज और ज्यूरी, किसी की राय में मुजरिम न थी।

जो क़ौम अपनी नस्ल की दुश्मनी में इस हद को पहुँच जाए उसे दुनिया का कोई उपाय मिटने से नहीं बचा सकता। नई नस्लों की पैदाइश एक क़ौम के अस्तित्त्व का क्रम जारी रखने के लिए ज़रूरी है। अगर कोई क़ौम अपनी नस्ल की दुश्मन है तो वास्तव में वह अपनी आप दुश्मन है, आत्महत्या कर रही है। कोई बाहरी दुश्मन न हो, तब भी वह आप अपनी हस्ती को मिटा देने के लिए

काफ़ी है। जैसा कि पहले बयान कर चुका हूँ, फ़्राँस की जन्म-दर पिछले साठ साल से बराबर गिरती जा रही है। किसी साल मृत्यु-दर, जन्म-दर से बढ़ जाती है, किसी साल दोनों बराबर रहती हैं और कभी जन्म-दर मृत्यु-दर की अपेक्षा मुश्किल से एक प्रति हज़ार ज़्यादा होती है।

दूसरी ओर फ़्रांस की धरती पर ग़ैर-क़ौमों के मुहाजिरों की तादाद हर दिन बढ़ रही है। अतएव 1931 ई. में फ़्रांस की 4 करोड़ 18 लाख की आबादी में 28 लाख 90 हज़ार ग़ैर-क़ौमों के लोग थे। यही स्थिति अगर यूँ ही जारी रही तो बीसवीं सदी के अन्त तक फ़्रांसीसी क़ौम आश्चर्य नहीं कि ख़ुद अपने वतन में अल्प संख्यक बनकर रह जाए।

यह अंजाम है उन दृष्टिकोणों का जिनके आधार पर औरतों की आज़ादी और नारी-अधिकार का आन्दोलन उन्नीसवीं सदी के शुरू में उठाया गया था।

अध्याय-5

कुछ और मिसालें

हमने मात्र ऐतिहासिक विवरण का क्रम जारी रखने के लिए फ्रांस के दृष्टिकोणों और फ्रांस ही के परिणामों का वर्णन किया है, लेकिन यह सोचना सही न होगा कि फ्रांस इस मामले में अकेला है। वास्तव में आज उन तमाम देशों का कम व बेश यही हाल है जिन्होंने वे नैतिक दृष्टिकोण और सामाजिकता के वे असंतुलित सिद्धान्त अपनाए हैं, जिनका ज़िक्र पिछले पन्नों में किया गया है। मिसाल के तौर पर अमरीका को लीजिए जहाँ यह सामाजिक व्यवस्था इस समय अपनी पूरी उठान पर है।

बच्चों पर वासनात्मक माहौल का असर

न्यायाधीश बेन लिंडसे (Ben Lindsey), जिसे डिनवर (Denver) की बच्चों के आपराधिक मामलों की अदालत (Juvenile Court) का प्रेसीडेंट होने की हैसियत से अमरीका के नौजवानों की नैतिक हालत को जानने का बहुत ज़्यादा मौक़ा मिला है, अपनी किताब (Revolt of Modern Youth) में लिखता है कि अमरीका में बच्चे समय से पहले ही बालिग़ होने लगे हैं और बहुत कच्ची उम्र में उनके अन्दर यौनानुभूति जागृत होने लगती हैं। उसने नमूने के तौर पर 312 लड़कियों के हालात की जाँच की तो मालूम हुआ कि उनमें से 255 ऐसी थीं जो ग्यारह और तेरह वर्ष की दर्मियानी उम्र में बालिग़ हो चुकी थीं और उनके भीतर ऐसी वासनात्मक इच्छाएँ और ऐसी शारीरिक माँगों के चिह्न पाए जाते थे जो एक 18 वर्ष और इससे भी ज़्यादा उम्र की लड़की में होने चाहिएँ। (पृष्ठ 82-86)

डॉक्टर एडिथ हॉकर (Dr. Edith Hwoker) अपनी किताब "Laws of Sex" में लिखता है कि–

> "अत्यन्त सुसभ्य और धनी वर्गों में भी यह कोई असाधारण बात नहीं है कि सात-आठ वर्ष की लड़कियाँ अपने हमउम्र लड़कों से

इश्क़ व मुहब्बत के सम्बन्ध रखती हैं, जिनके साथ कभी-कभी संभोग भी हो जाता है।''

उसका बयान है –

''एक सात वर्ष की छोटी-सी लड़की जो एक अत्यन्त भद्र (शरीफ़) परिवार की आँखों का तारा थी, ख़ुद अपने बड़े भाई और उसके कुछ दोस्तों के साथ यौनाचार में लिप्त हुई—एक दूसरी घटना यह है कि पाँच बच्चों का एक गिरोह, जिसमें दो लड़कियाँ और तीन लड़के थे और जिनके घर पास-पास ही थे, परस्पर यौन सम्बन्धों में लिप्त पाए गए और उन्होंने दूसरे हमउम्र बच्चों को भी इसपर उभारा। इनमें सबसे बड़े बच्चे की उम्र सिर्फ़ दस साल की थी — एक और घटना एक नौ साल की बच्ची की है, जो ज़ाहिर में बड़ी हिफ़ाज़त से रखी जाती थी, वह बच्ची कई 'आशिक़ों' की मंज़ूरे-नज़र बनने का सौभाग्य प्राप्त कर चुकी थी।'' (पृष्ठ 328)

बालटीमोर (Baltimore) के एक डॉक्टर की रिपोर्ट है कि एक साल के अन्दर उसके शहर में एक हज़ार से ज़्यादा ऐसे मुक़द्दमे पेश हुए जिनमें बारह वर्ष से कम उम्र वाली लड़कियों के साथ यौन-क्रिया की गई थी। (पृष्ठ 177)

यह पहला फल है उस वासना भड़कानेवाले माहौल का जिसमें हर ओर भावनाओं को उभारनेवाले सामान उपलब्ध हो गए हों। अमरीका का एक लेखक लिखता है कि –

''हमारी आबादी का अधिकतर हिस्सा आजकल जिन हालात में ज़िंदगी बिता रहा है, वे इतने अप्राकृतिक हैं कि लड़के और लड़कियों को दस-पन्द्रह वर्ष की उम्र ही में यह ख़याल पैदा हो जाता है कि वे एक-दूसरे के साथ इश्क़ रखते हैं। इसका नतीजा बहुत ही अफ़सोसनाक है। इस प्रकार की समय-पूर्व वासनात्मक अभिरुचियों से बहुत बुरे नतीजे निकल सकते हैं, और निकला करते हैं। इनका कम से कम नतीजा यह है कि कम-उम्र लड़कियाँ अपने दोस्तों के साथ भाग जाती हैं या छोटी उम्र में शादियाँ कर लेती हैं, और अगर

मुहब्बत में नाकामी का मुँह देखना पड़ता है तो आत्महत्या कर लेती हैं।"

शिक्षा का दौर

इस तरह जिन बच्चों में समय से पहले सेक्स की भावना जाग जाती है, उनके लिए पहला प्रयोग-स्थल स्कूल हैं। स्कूल दो प्रकार के होते हैं। एक में सिर्फ़ लड़के या लड़कियाँ पढ़ती हैं। दूसरे प्रकार के स्कूलों में दोनों की पढ़ाई एक साथ होती है।

पहले प्रकार के स्कूलों में समलैंगिकता (Homo-Sexuality) और हस्तमैथुन (Masturbation) की महामारी फैल रही है। क्योंकि जिन भावनाओं को बचपन ही में भड़काया जा चुका है और जिनको उत्तेजित करने के सामान वातावरण में हर ओर फैले हुए हैं, वे अपनी तृप्ति के लिए कोई न कोई शक्ल निकालने पर मजबूर हैं। डॉक्टर हॉकर लिखता है कि –

> "इस तरह के स्कूलों, कॉलेजों, नर्सों के ट्रेनिंग स्कूलों और धार्मिक पाठशालाओं में हमेशा इस प्रकार की घटनाएँ सामने आती रहती हैं, जिनमें एक ही सेक्स – मर्द या औरत – के दो व्यक्ति आपस में वासनात्मक सम्बन्ध रखते हैं और विपरीत-लिंग से उनकी दिलचस्पी समाप्त हो चुकी होती है।" (पृष्ठ 331)

इस सिलसिले में उसने बहुत-सी घटनाएँ ऐसी बयान की हैं जिनमें लड़कियाँ लड़कियों के साथ और लड़के लड़कों के साथ लिप्त हुए और दर्दनाक अंजाम को पहुँचे।

कुछ दूसरी किताबों से भी मालूम होता है कि यह 'समलैंगिक संभोग' की महामारी कितनी व्यापक रूप में फैली हुई है। डॉक्टर लोरी (Dr. Lowry) अपनी किताब 'Herself' में लिखता है –

> "एक बार एक स्कूल के हेड मास्टर ने चालीस परिवारों को गुप्त सूचना दी कि उनके लड़के अब स्कूल में नहीं रखे जा सकते, क्योंकि उनमें चरित्रहीनता की एक भयानक हालत का पता चला है।" (पृष्ठ 179)

अब दूसरे प्रकार के स्कूलों को लीजिए जिनमें लड़के और लड़कियाँ साथ मिलकर पढ़ते हैं। यहाँ उत्तेजना के कारण भी मौजूद हैं और उसको तृप्त करने की सामग्री भी। जिस कामोत्तेजना की शुरुआत बचपन में हुई थी, यहाँ पहुँचकर वह पूरी हो जाती है। बदतरीन अश्लील साहित्य नौजवान लड़कों और लड़कियों के अध्ययन में रहता है। उत्तेजक प्रेम कहानियाँ, तथाकथित 'आर्ट' के मैग्ज़ीन, यौन समस्याओं पर बहुत गन्दी किताबें और गर्भ-निरोधक जानकारियों को जुटानेवाले लेख, ये हैं वे चीज़ें जो जवानी में स्कूलों और कॉलेजों के छात्र-छात्राओं के लिए सबसे ज़्यादा आकर्षक होती हैं। प्रसिद्ध अमरीकन लेखक हेंडरिच फ़ान लून (Hendrich Fan Loon) कहता है कि –

> "यह लिट्रेचर, जिसकी सबसे ज़्यादा माँग अमरीकी यूनिवर्सिटियों में है, गन्दगी, अश्लीलता और बेहूदगी का सबसे बुरा संकलन है, जो किसी ज़माने में इतनी आज़ादी के साथ पब्लिक में पेश नहीं किया गया। इस लिट्रेचर से जो जानकारियाँ मिलती हैं, दोनों लिंगों के जवान व्यक्ति इनपर बड़ी आज़ादी और निर्भीकता से बहसें करते हैं और इसके बाद व्यावहारिक प्रयोगों की ओर क़दम बढ़ाया जाता है। लड़के और लड़कियाँ मिलकर Petting Parties के लिए निकलते हैं, जिनमें शराब और सिगरेट का इस्तेमाल ख़ूब आज़ादी से होता है और नाच-रंग से पूरा आनन्द उठाया जाता है।" (How I Can Get Married, P. 172)

लिंडसे का अन्दाज़ा है कि हाई स्कूल की कम से कम 45 प्रतिशत लड़कियाँ स्कूल छोड़ने से पहले ख़राब हो चुकती हैं और बाद की क्लासों में औसत इससे बहुत ज़्यादा है। वह लिखता है –

> "हाई स्कूल का लड़का हाई स्कूल की लड़की के मुक़ाबले में भावनाओं की तीव्रता में बहुत पीछे रह जाता है। आम तौर पर लड़की ही किसी न किसी तरह पेशक़दमी करती है और लड़का उसके इशारों पर नाचता है।"

स्कूल और कॉलेज में फिर भी एक प्रकार का डिसिप्लिन होता है जो किसी हद तक अमल की आज़ादी में रुकावट पैदा कर देता है। लेकिन ये नौजवान जब स्कूलों और कॉलेजों से उत्तेजित भावनाएँ और बिगड़ी हुई आदतें लिए हुए ज़िंदगी के मैदान में क़दम रखते हैं तो उनका उपद्रव तमाम सीमाओं और रुकावटों से आज़ाद हो जाता है। यहाँ उनकी भावनाओं को भड़काने के लिए एक पूरी आग-की भट्ठी मौजूद होती है और उनकी भड़कती हुई भावनाओं की तृप्ति के लिए हर प्रकार का सामान भी किसी परेशानी के बिना जुटा दिया जाता है।

एक अमरीकी मैग्ज़ीन में इन कारणों को, जिनकी वजह से वहाँ अनैतिकता का असाधारण प्रचार हो रहा है, इस तरह बयान किया गया है –

> ''तीन शैतानी शक्तियाँ हैं जिनकी त्रिभुजा आज हमारी दुनिया पर छा गई है, और ये तीनों एक जहन्नम तैयार करने में व्यस्त हैं। अश्लील साहित्य, जो महायुद्ध के बाद से आश्चर्यजनक गति के साथ अपनी बेशर्मी और प्रकाशन-बाहुल्य में बढ़ता चला जा रहा है। गतिशील तस्वीरें, जो वासनात्मक प्रेम की भावनाओं को न केवल भड़काती हैं बल्कि व्यावहारिक शिक्षा भी देती हैं। औरतों का गिरा हुआ नैतिक स्तर, जो उनके पहनावे और कभी-कभी उनकी नग्नता और सिग्रेट के बढ़ते इस्तेमाल और मर्दों के साथ उनके सारे प्रतिबन्धों और मर्यादाओं से मुक्त मेल-जोल की शक्ल में ज़ाहिर होता है। ये तीन चीज़ें हमारे यहाँ बढ़ती चली जा रही हैं। और इनका नतीजा मसीही सभ्यता और सामाजिक मूल्यों की गिरावट और आख़िरकार तबाही है। अगर इनको न रोका गया, तो हमारा इतिहास भी रोम और उन दूसरी क़ौमों जैसा होगा जिनको यही नफ़्सपरस्ती और मौजमस्ती, उनकी शराब और औरतों और नाच-रंग सहित, विनाश के घाट उतार चुका है।''

ये तीन कारण, जो संस्कृति और सामाजिकता की पूरी फ़िज़ा पर छाए हुए

हैं, हर उस जवान मर्द और जवान औरत की भावनाओं में एक स्थायी हलचल पैदा करते रहते हैं जिसके जिस्म में थोड़ा-सा भी गर्म ख़ून मौजूद है। अश्लीलताओं की बाढ़ इस हलचल का अवश्यम्भावी परिणाम है।

अश्लीलता का बाहुल्य

अमरीका में जिन औरतों ने व्यभिचार को स्थायी पेशा बना लिया है, उनकी संख्या का कम से कम अन्दाज़ा चार-पाँच लाख के बीच है।[1] परन्तु अमरीका की वेश्या को भारत की वेश्या के समतुल्य मत सोचिए। वह ख़ानदानी वेश्या नहीं है, बल्कि वह एक ऐसी औरत है जो कल तक कोई आज़ाद पेशा करती थी, बुरी संगति में ख़राब हो गई और वेश्यालय में आ बैठी। कुछ साल यहाँ गुज़ारेगी। फिर इस काम को छोड़कर किसी दफ़्तर या कारख़ाने में नौकर हो जाएगी। जाँच से मालूम हुआ है कि अमरीका की 50 प्रतिशत वेश्याएँ घरेलू नौकरानियों (Domestic Servants) में से भरती होती हैं और बाक़ी 50 प्रतिशत अस्पतालों, दफ़्तरों और दुकानों की नौकरियाँ छोड़कर आती हैं। आम तौर से पन्द्रह और बीस साल की उम्र में यह पेशा शुरू किया जाता है और पचीस-तीस साल की उम्र को पहुँचने के बाद वह औरत जो कल वेश्या थी, वेश्यालय से निकलकर किसी दूसरे आज़ाद पेशे में चली जाती है।[2] इससे अन्दाज़ा किया जा सकता है कि अमरीका में चार-पाँच लाख वेश्याओं की मौजूदगी की वास्तविकता का क्या अर्थ है।

जैसा कि पिछले पन्नों में कहा जा चुका है, पश्चिमी देशों में वेश्यावृत्ति एक संगठित अन्तर्राष्ट्रीय कारोबार की हैसियत रखती है। अमरीका में न्यूयार्क, रियो-डि-जेनरो और ब्यूनोस आयर्स इस कारोबार की बड़ी मंडियाँ हैं। न्यूयार्क की दो सबसे बड़ी 'तिजारती कोठियों' में से हर एक की एक-एक प्रशासनिक परिषद् (Administrative Council) है, जिसके अध्यक्ष और सिक्रेट्री बाक़ायदा चुने जाते हैं। हर एक ने क़ानूनी सलाहकार निर्धारित कर रखे हैं, ताकि किसी अदालती मुक़द्मे में फँस जाने पर उनके हित की हिफ़ाज़त करें।

1. Prostitution in the United States, P. 138-39
2. Prostitution in the United States, P. 64-69

जवान लड़कियों को बहकाने और उड़ाकर लाने के लिए हज़ारों दलाल मुक़र्रर हैं, जो हर जगह शिकार की खोज में फिरते रहते हैं। इन शिकारियों की छीन-झपट का अन्दाज़ा इससे किया जा सकता है कि शिकागो में आनेवाले मुहाजिरों की लीग के प्रेसीडेंट ने एक बार 15 महीने के आंकड़े जमा किए थे तो मालूम हुआ कि इस मुद्दत में 7200 लड़कियों के पत्र लीग के दफ़्तर को मिले, जिनमें लिखा था कि वे शिकागो पहुँचनेवाली हैं, मगर उनमें से सिर्फ़ 1700 अपनी मंज़िल को पहुँच सकीं। शेष का कुछ पता नहीं चल सका कि कहाँ गईं।

वेश्यालयों के अलावा बहुत-से मुलाक़ात ख़ाने (Assignation Houses) और Call Houses हैं, जो इस मक़सद के लिए सुसज्जित रखे जाते हैं कि 'सज्जन' लोग और औरतें जब आपस में मुलाक़ात करना चाहें तो वहाँ उनकी मुलाक़ात का इंतिज़ाम कर दिया जाए। जाँच से मालूम हुआ कि एक शहर में ऐसे 78 मकान थे, एक दूसरे शहर में 43, एक और शहर में 33।[1] इन मकानों में सिर्फ़ अविवाहित औरतें ही नहीं जातीं, बल्कि बहुत-सी विवाहित औरतों का भी वहाँ गुज़र होता रहता है।[2]

एक प्रसिद्ध समाज-सुधारक का बयान है कि –

> ''न्यूयार्क की शादीशुदा आबादी का पूरा एक तिहाई हिस्सा ऐसा है जो नैतिक और शारीरिक हैसियत से अपने दाम्पत्य कर्त्तव्यों में वफ़ादार नहीं है, और न्यूयार्क की हालत देश के दूसरे भागों से कुछ ज़्यादा भिन्न नहीं।[3]

अमरीका के नैतिकता-सुधारकों की एक समिति "Committee of Fourteen" के नाम से मशहूर है। इस समिति की ओर से अनैतिकता के केन्द्रों की खोज और देश की नैतिक स्थिति की जाँच और नैतिक सुधार के व्यावहारिक उपायों का काम बड़े पैमाने पर किया जाता है। इसकी रिपोर्टों में बताया गया है कि अमरीका के जितने नाच घर, नाइट क्लब, ब्यूटी सैलून्स

1. Prostitution in the United States, P. 38
2. Prostitution in the United States, P. 36
3. Herself, P. 116

(Beauty Saloons), हाथों को सुन्दर बनाने की दुकानें (Manicure Shops) मालिशघर (Massage Rooms) और बाल सँवारने की दुकानें (Hair Dressings) हैं, क़रीब-क़रीब सब बाक़ायदा वेश्यालय बन चुके हैं, बल्कि उनसे भी बुरे, क्योंकि वहाँ ऐसे गन्दे काम किए जाते हैं जिनको बयान करना मुमकिन नहीं।[1]

गुप्त रोग

अश्लीलता की इस ज़्यादती का अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि बड़ी तादाद में लोग गुप्त रोगों का शिकार हो गए हैं। अन्दाज़ा किया गया है कि अमरीका की क़रीब-क़रीब 90 प्रतिशत आबादी इन रोगों से प्रभावित है। इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका भाग 23, पृ. 45 से मालूम होता है कि वहाँ के सरकारी दवाख़ानों में औसत रूप से हर साल आतशक (Syphilis) के दो लाख और सूज़ाक (Gonorrhoea) के एक लाख 60 हज़ार रोगियों का इलाज किया जाता है। 65 दवाख़ाने सिर्फ़ इन्हीं रोगों के लिए ख़ास हैं, मगर सरकारी दवाख़ानों से ज़्यादा प्राइवेट सलाहकार डॉक्टरों से लोग सम्पर्क करते हैं। इनके पास आतशक के 61 प्रतिशत और सूज़ाक के 89 प्रतिशत रोगी जाते हैं।

तीस और चालीस हज़ार के दर्मियान बच्चों की मौतें सिर्फ़ आनुवंशिक (नस्ली) आतशक की वजह से होती हैं। टी. बी. के सिवा बाक़ी तमाम रोगों से जितनी मौतें होती हैं, उनमें सबसे अधिक संख्या उन मौतों की है जो सिर्फ़ आतशक की वजह से होती हैं। सूज़ाक के मुताल्लिक़ माहिरों का कम से कम अन्दाज़ा है कि 60 प्रतिशत जवान व्यक्ति इस रोग में गिरफ़्तार हैं, जिनमें शादीशुदा भी हैं और ग़ैर शादीशुदा भी। स्त्रीरोग-विशेषज्ञों का सामूहिक बयान है कि शादीशुदा औरतों के गुप्तांगों के जितने आपरेशन किए जाते हैं, उनमें से 75 प्रतिशत ऐसे निकलते हैं जिनमें सूज़ाक का असर पाया जाता है।[2]

1. 20वीं सदी की अंतिम चौथाई और 21वीं सदी के आरंभ में ऐसे केन्द्र, सैलून और दुकानें भारत में भी प्रचलित हो चुकी हैं....विशेषतः महानगरों में जहाँ से 'नारी-उद्धार', 'नारी-स्वतंत्रता', 'नारी-अधिकार' तथा 'नारी-उन्नति' के आन्दोलनों के स्रोत फूटते हैं। (प्रकाशक)
2. Laws of Sex, P. 204

तलाक़ और जुदाई

ऐसे हालात में ज़ाहिर है कि पारिवारिक व्यवस्था और पवित्र दाम्पत्य सम्बन्ध कहाँ क़ायम रह सकता है! आज़ादी के साथ अपनी रोज़ी कमानेवाली औरतें जिनको वासनात्मक आवश्यकताओं के सिवा अपनी ज़िंदगी के किसी विभाग में भी मर्द की ज़रूरत नहीं है और जिनको शादी के बिना आसानी से मर्द भी मिल सकते हैं, शादी को एक निरर्थक चीज़ समझती हैं। आधुनिक दर्शन और भौतिकवादी दृष्टिकोणों ने उनके भीतर से यह एहसास भी दूर कर दिया है कि शादी के बिना किसी आदमी से ताल्लुक़ात रखना कोई ऐब या गुनाह है। समाज को भी इस माहौल ने ऐसा चेतनाहीन बना दिया है कि वह ऐसी औरतों को घृणा का पात्र या निन्दनीय नहीं समझता।

जज लिंडसे अमरीका की आम लड़कियों के विचारों को इन शब्दों में ज़ाहिर करता है—

> "मैं शादी क्यों करूँ? मेरे साथ की जिन लड़कियों ने पिछले दो सालों में शादियाँ की हैं, हर दस में से पाँच की शादी का अंजाम तलाक़ पर हुआ। मैं समझती हूँ कि इस ज़माने की हर लड़की मुहब्बत के मामले में अमल की आज़ादी का फ़ितरी हक़ रखती है। मुझे गर्भ-निरोधक के बहुत-से उपाय मालूम हैं। इसके द्वारा यह ख़तरा भी दूर किया जा सकता है कि एक हरामी (अवैध) बच्चे का जन्म कोई उलझन की स्थिति उत्पन्न कर देगा। मुझे विश्वास है कि परंपरागत तरीक़ों को इस आधुनिक तरीक़े से बदल देना अक़्ल का तक़ाज़ा है।"

इन धारणाओं से ग्रस्त निर्लज्ज औरतों को अगर कोई चीज़ शादी पर सहमत करती है तो वह सिर्फ़ प्रेम-भावना है। लेकिन अधिकतर यह भावना भी दिल और रूह की गहराई में नहीं होती, बल्कि सिर्फ़ एक क्षणिक आकर्षण का नतीजा होती है। इच्छाओं का नशा उतर जाने के बाद दम्पत्ति में कोई प्रेम-भावना शेष नहीं रहती। प्रवृत्ति और स्वभाव का मामूली-सा अन्तर उनके बीच नफ़रत पैदा कर देता है। अन्ततः अदालत में तलाक़ या जुदाई (Separation)

का दावा पेश हो जाता है।

लिंडसे लिखता है –

"सन 1922 ई. में डेनवर में हर शादी के साथ एक घटना जुदाई की घटित हुई और दो शादियों के मुक़ाबले में एक मुक़द्दमा तलाक़ का पेश हुआ। यह हालत सिर्फ़ डेनवर ही की नहीं है। अमरीका के लगभग सारे शहरों की क़रीब-क़रीब यही हालत है।"

फिर लिखता है –

"तलाक़ और जुदाई की घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं और अगर यही हालत रही, जैसी कि उम्मीद है, तो शायद देश के अधिकतर भागों में जितने शादी के लाइसेंस दिए जाएँगे, उतने ही तलाक़ के मुक़द्दमे पेश होंगे।"[1]

डेटराय (Detroit) के अख़बार 'फ़्री प्रेस' में इन हालात पर एक लेख छपा था, जिसका एक पैरा यह है –

"विवाहों की कमी, तलाक़ों की ज़्यादती और विवाह के बिना स्थायी या अस्थायी अवैध सम्बन्धों की वृद्धि, यह अर्थ रखती है कि हम पशुता की ओर वापस जा रहे हैं। बच्चे पैदा करने की फ़ितरी ख़ाहिश मिट रही है, पैदाशुदा बच्चों से ग़फ़लत बरती जा रही है और इस बात का एहसास ख़त्म हो रहा है कि परिवार और घर का निर्माण, संस्कृति और स्वतंत्र सत्ता के अस्तित्व के लिए ज़रूरी है। इसके विपरीत संस्कृति एवं सत्ता के परिणाम से एक निर्मम उदासीनता पैदा हो रही है।"

तलाक़ और जुदाई की इस बहुलता का निवारण अब यह निकाला गया है कि Compassionate Marriage यानी 'आज़माइशी विवाह' को रिवाज दिया जाए। मगर यह इलाज असल रोग से भी बुरा है। आज़माइशी विवाह का अर्थ यह है कि मर्द और औरत 'पुराने फ़ैशन की शादी' किए बिना कुछ दिनों

1. Revolt of Modern youth, P. 211-14

तक आपस में मिलकर रहें। अगर इस साथ रहने में दिल से दिल मिल जाते हैं तो शादी कर लें, वरना दोनों अलग होकर कहीं और क़िस्मत आज़माएँ। आज़माइश के दिनों में दोनों को औलाद पैदा करने से परहेज़ करना अनिवार्य है, क्योंकि बच्चे की पैदाइश के बाद उनको बाक़ायदा विवाह करना पड़ेगा। यह वही चीज़ है जिसका नाम रूस में आज़ाद मुहब्बत (Free Love) है।[1]

राष्ट्रीय आत्महत्या

मनेच्छाओं की दासता, दाम्पत्य कर्त्तव्य पालन से नफ़रत, पारिवारिक जीवन से उदासीनता और दाम्पत्य सम्बन्धों की नापाएदारी ने औरत की उस स्वाभाविक मातृत्त्व-भावना को क़रीब-क़रीब ख़त्म कर दिया है जो औरतों की भावनाओं में सबसे ज़्यादा प्रतिष्ठित और उच्च आत्मिक भावना है और जिसके बाक़ी रहने पर न सिर्फ़ सभ्यता और संस्कृति, बल्कि मानवता का बाक़ी रहना निर्भर है। गर्भनिरोध, गर्भपात और भ्रूणहत्या इसी भावना की मौत से पैदा हुए हैं। गर्भनिरोध की जानकारियाँ, हर प्रकार की क़ानूनी पाबन्दियों के बावजूद, अमरीका के हर जवान लड़की और लड़के को हासिल हैं। गर्भनिरोधक दवाएँ और उपकरण भी आज़ादी के साथ दुकानों पर बिकते हैं। आम आज़ाद औरतें तो दूर की बात, स्कूलों और कॉलेजों की लड़कियाँ भी इस सामान को हमेशा अपने पास रखती हैं, ताकि अगर उनका दोस्त संयोग से अपना सामान भूल आए तो एक आनन्द भरी शाम बेकार न होने पाए।

जज लिंडसे लिखता है –

> "हाई स्कूल की कम उम्रवाली 495 लड़कियाँ, जिन्होंने ख़ुद मुझसे इक़रार किया कि उनको लड़कों से यौनाचार का तजुर्बा हो चुका है, उनमें सिर्फ़ 25 ऐसी थीं जिनको गर्भ ठहर गया था। बाक़ी में से, कुछ तो संयोग से बच गई थीं, लेकिन अधिकतर को गर्भरोधक उपायों की काफ़ी जानकारी थी। यह जानकारी उनमें इतनी आम हो चुकी है कि लोगों को इसका सही अन्दाज़ा नहीं है।"

---

1. और अब 'सहवासी-संबंध' (Live-in-Relation) (प्रकाशक)

कुँवारी लड़कियाँ इन उपायों को इसलिए इस्तेमाल करती हैं कि उनकी आज़ादी में फ़र्क़ न आए। शादीशुदा औरतें इसलिए उनसे लाभ उठाती हैं कि बच्चे के जन्म से न सिर्फ़ उनपर पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का बोझ पड़ जाता है, बल्कि शौहरों को तलाक़ देने की आज़ादी में भी बाधा उत्पन्न हो जाती है। और तमाम औरतें इसलिए माँ बनने से नफ़रत करने लगी हैं कि ज़िंदगी का पूरा-पूरा आनन्द उठाने के लिए उनको इस जंजाल से बचने की ज़रूरत है, साथ ही इसलिए भी कि उनके विचार में बच्चे जनने से उनके सौन्दर्य में फ़र्क़ आ जाता है।[1]

बहरहाल कारण चाहे कुछ भी हों, औरत व मर्द के 95 प्रतिशत ताल्लुक़ात ऐसे हैं जिनसे इस ताल्लुक़ के फ़ितरी नतीजे को गर्भनिरोधक के उपायों द्वारा रोक दिया जाता है। बाक़ी बची पाँच प्रतिशत घटनाएँ, जिनमें संयोगवश गर्भ ठहर जाता है, उनके लिए गर्भपात और भ्रूणहत्या के उपाय मौजूद हैं।

जज लिंडसे का बयान है कि अमरीका में हर साल कम से कम 15 लाख गर्भपात कराए जाते हैं और हज़ारों बच्चे पैदा होते ही क़त्ल कर दिए जाते हैं। (पृष्ठ : 220)

इंग्लैंड की हालत

मैं इन चिन्ताजनक विवरणों को ज़्यादा विस्तार नहीं देना चाहता, मगर उचित नहीं है कि बहस के इस हिस्से को जार्ज रायली स्काट की किताब A History of Prostitution के कुछ हिस्से उद्धृत किए बिना ख़त्म कर दिया जाए। इस किताब का लेखक एक अंग्रेज़ है और उसने ज़्यादातर अपने ही देश की नैतिक स्थिति का नक़्शा इन शब्दों में खींचा है –

> "जिन औरतों के गुज़र-बसर का एक मात्र साधन यही है कि अपने शरीर को किराये पर चलाकर रोज़ी कमाएँ, उनके अलावा एक बहुत बड़ी संख्या उन औरतों की भी है (और वह दिन प्रति दिन ज़्यादा हो

1. Macfado in Manhood and Marriage, P. 82(1)

रही है) जो अपनी ज़िंदगी की ज़रूरतें पूरी करने के लिए दूसरे साधन रखती हैं और पार्ट टाइम वेश्याओं का काम भी करती हैं, ताकि आमदनी में कुछ और वृद्धि हो जाए। ये पेशेवर वेश्याओं से कुछ भी भिन्न नहीं हैं, परन्तु इस नाम को उनपर थोपा नहीं जाता। हम उनको ग़ैर-पेशेवर वेश्याएँ (Amateur Prostitutes) कह सकते हैं।''

''इन शौक़ीन या ग़ैर-पेशेवर वेश्याओं की अधिकता आजकल जितनी है, उतनी कभी न थी। समाज के नीचे से लेकर ऊपर तक हर वर्ग में ये पाई जाती हैं। अगर उन इज़्ज़तदार औरतों को कहीं इशारे में भी 'वेश्या' कह दिया जाए तो वे आपे से बाहर हो जाएँगी, मगर उनकी नाराज़गी से हक़ीक़त नहीं बदल सकती। हक़ीक़त बहरहाल यही है कि उनमें और पकावली की किसी बड़ी से बड़ी निर्लज्ज वेश्या में भी नैतिक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है — अब जवान लड़की के लिए बद-चलनी और बेबाकी, बल्कि बाज़ारू तौर-तरीक़े तक फ़ैशन में दाख़िल हो गए हैं और सिग्रेट पीना, तेज़ नशीली शराबें इस्तेमाल करना, होंठों पर लाली लगाना, सेक्स और गर्भनिरोध के बारे में अपनी जानकारी को प्रकट करना, अश्लील साहित्य पर बातें करना, ये सब चीज़ें भी उनके लिए फ़ैशन बनी हुई हैं — ऐसी लड़कियों और औरतों की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है जो शादी से पहले यौन सम्बन्ध बिना झिझक क़ायम कर लेती हैं, और वे लड़कियाँ अब बहुत कम हैं जो चर्च की क़ुर्बानगाह के सामने विवाह का पवित्र बन्धन बाँधते वक़्त सचमुच कुँवारी होती हों।''

आगे चलकर यह लेखक उन कारणों की समीक्षा करता है जिन्होंने हालात इस हद तक पहुँचा दिए हैं, और ज़्यादा मुनासिब यही है कि इस समीक्षा को भी उसी के शब्दों में प्रस्तुत कर दिया जाए —

''सबसे पहले शृंगार के उस शौक़ को लीजिए जिनके कारण हर लड़की में नए फ़ैशन के क़ीमती वस्त्रों और सौन्दर्य बढ़ाने के विभिन्न प्रकार के प्रसाधनों की असीम लालसा पैदा हो गई है। यह उस

अव्यवस्थित अश्लीलता के कारणों में से एक बड़ा कारण है। हर व्यक्ति, जो देखनेवाली आँखें रखता है, इस बात को आसानी से देख सकता है कि वे सैंकड़ों-हज़ारों लड़कियाँ, जो उसके सामने प्रतिदिन गुज़रती हैं, सामान्यतः इतने क़ीमती कपड़े पहने हुए होती हैं कि उनकी वैध कमाई किसी तरह भी ऐसे पहनावों का भार वहन नहीं कर सकती, इसलिए आज भी यह कहना उतना ही उचित है, जितना आधी सदी पहले उचित था, कि मर्द ही उनके लिए कपड़े ख़रीदते हैं। अन्तर सिर्फ़ यह है कि पहले जो मर्द उनके लिए कपड़े ख़रीदते थे, वे उनके शौहर या बाप-भाई होते थे और अब उनकी जगह कुछ दूसरे लोग होते हैं।"

"...औरतों की आज़ादी का भी इन हालात के उत्पन्न होने में बहुत कुछ दख़ल है। पिछले कुछ सालों में लड़कियों पर से माँ-बाप की सुरक्षा व निगरानी इस हद तक कम हो गई है कि तीस-चालीस साल पहले लड़कों को भी इतनी आज़ादी हासिल न थी जितनी अब लड़कियों को हासिल है।"

"एक और महत्त्वपूर्ण कारण, जो समाज में बड़े पैमाने पर यौन-उच्छृंखलता फैलाने का साधन बना, यह है कि औरतें दिन प्रति दिन बढ़ती संख्या में तिजारती कारोबार, दफ़्तरी नौकरियों और बहुत-से दूसरे पेशों में दाख़िल हो रही हैं जहाँ रात व दिन उनको मर्दों के साथ घुलने-मिलने का मौक़ा मिलता है। इस चीज़ ने औरतों और मर्दों के नैतिक स्तर को बहुत गिरा दिया है। पुरुष की आक्रामकता के मुक़ाबले में औरत की प्रतिरक्षात्मक शक्ति को बहुत कम कर दिया है और दोनों पक्षों के वासनात्मक सम्बन्ध को सारे नैतिक बन्धनों से मुक्त करके रख दिया है। अब जवान लड़कियों के दिमाग़ में शादी और पाकदामन ज़िंदगी का ख़याल आता ही नहीं। आज़ादाना 'आनन्द-विहार' जिसे पहले कभी आवारा क़िस्म के मर्द ढूँढते फिरते थे, आज हर लड़की उसकी खोज करती फिरती है। शील और कुँवारेपन को एक पुराने ज़माने की दक़ियानूसी चीज़ समझा

जाता है और आधुनिक युग की लड़की उसको एक मुसीबत ख़याल करती है। उसके नज़दीक जीवन का आनन्द यह है कि जवानी के दौर में नफ़्स की लज़्ज़तों का जाम ख़ूब जी भरकर पिया जाए। इसी चीज़ की खोज में वह नाच घरों, नाइट क्लबों, होटलों और काफ़ी हाउसों के चक्कर लगाती है और इसी की खोज में वह बिल्कुल अजनबी मर्दों के साथ कार की सैर के लिए भी जाने पर तैयार हो जाती है। दूसरे शब्दों में वह जान-बूझकर ख़ुद अपनी इच्छा से अपने आपको ऐसे माहौल में और ऐसी स्थिति में पहुँचा देती है और पहुँचाती रहती है जो वासनात्मक भावनाओं को भड़कानेवाली है, और फिर उसके जो स्वाभाविक परिणाम हैं उनसे घबराती नहीं, बल्कि उनका स्वागत करती है।"

—•—

अध्याय-6

निर्णायक प्रश्न

हमारे देश में और इसी तरह दूसरे पूर्वी देशों में भी जो लोग परदे का विरोध करते हैं, उनके सामने असल में ज़िंदगी का वही नक़्शा है जो पिछले पृष्ठों में सामने आया है। इसी ज़िंदगी की तड़क-भड़क ने उनकी चेतना को प्रभावित किया है। यही विचारधाराएँ, यही नैतिक सिद्धान्त और यही भौतिक और इन्द्रिय-सम्बन्धी लाभ और आनन्द हैं जिनके उज्जवल पक्ष ने उनके दिल व दिमाग़ को अपील किया है। परदे से उनकी नफ़रत इसी आधार पर है कि इसका बुनियादी नैतिक-दर्शन उस पश्चिमी-दर्शन के बिल्कुल विपरीत है जिसपर ये ईमान लाए हैं और व्यावहारिक रूप से उन लाभों और लज़्ज़तों के हासिल करने में बाधक है जिनको इन लोगों ने अपना मक़सद बनाया है। अब यह सवाल कि इस जीवन-दर्शन के अंधकारपूर्ण पहलू यानी इसके व्यावहारिक परिणामों को भी ये लोग क़बूल करने के लिए तैयार हैं या नहीं ? तो इस सिलसिले में वे एकमत नहीं हैं।

एक गरोह उन परिणामों को जानता है और उन्हें क़बूल करने के लिए तैयार है। हक़ीक़त में उसके नज़दीक यह भी पाश्चात्य-जीवनशैली का उज्जवल पक्ष ही है, न कि अंधकारपूर्ण पक्ष।

दूसरा गरोह इस पक्ष को अंधकारपूर्ण समझता है, इन परिणामों को क़बूल करने के लिए तैयार नहीं है, परन्तु उन लाभों पर बुरी तरह आसक्त है जो इस जीवनशैली के साथ जुड़े हुए हैं।

तीसरा गरोह न तो सिद्धान्तों ही को समझता है, न उनके परिणामों को जानता है और न ही इस बात पर सोच-विचार करने का कष्ट उठाना चाहता है कि इन सिद्धान्तों और इन परिणामों के बीच क्या ताल्लुक़ है। उसको तो बस वह काम करना है जो दुनिया में हो रहा है।

ये तीनों गरोह आपस में कुछ इस तरह घुल-मिल गए हैं कि बातें करते

वक़्त कभी-कभी यह पहचानना मुश्किल हो जाता है कि हम जिसे सम्बोधित कर रहे हैं, वह वास्तव में किस गरोह से ताल्लुक़ रखता है। इसी घाल मेल के कारण आमतौर से बड़ी परेशानी का सामना करना पड़ता है। इस लिए ज़रूरत है कि इनको छाँटकर एक-दूसरे से अलग किया जाए और हर एक से उसकी हैसियत के मुताबिक़ बात की जाए।

पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित पूर्वी जन

पहले गरोह के लोग उस दर्शन और उन दृष्टिकोणों पर और उन सांस्कृतिक सिद्धान्तों पर पूरी सूझ-बूझ के साथ ईमान लाए हैं जिनपर पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की आधारशिला रखी गई है। वे उसी दिमाग़ से सोचते हैं और उसी दृष्टि से जीवन की समस्याओं को देखते हैं जिससे आधुनिक यूरोप के निर्माताओं ने देखा और सोचा था, और वे ख़ुद अपने-अपने देशों के सांस्कृतिक जीवन को भी उसी पाश्चात्य नक़्शे पर निर्मित करना चाहते हैं। औरत की शिक्षा का सबसे ऊँचा लक्ष्य उनके निकट वास्तव में यही है कि वह कमाने के लायक़ हो जाए और साथ ही दिल लुभाने की कला से भी भरपूर परिचित हो जाए। परिवार में औरत की सही हैसियत उनके नज़दीक वास्तव में यही है कि वह मर्द की तरह परिवार का कमानेवाला सदस्य बने और संयुक्त बजट में अपना हिस्सा पूरा-पूरा अदा करे। समाज में औरत का वास्तविक स्थान उनकी राय में यही है कि वह अपने सौन्दर्य, अपने शृंगार और अपनी अदाओं से सामूहिक जीवन में एक कोमल अवयव की वृद्धि करे, अपने मधुर बोलों और बातों से दिलों में गर्मी पैदा करे, अपने संगीत से कानों में रस भर दे, अपने नृत्य से आत्माओं को भाव-विभोर कर दे और थिरक-थिरककर अपने शरीर की सारी ख़ूबियाँ इंसानों को दिखाए, ताकि उनके दिल ख़ुश हों, उनकी निगाहें आनन्द लें और उनके ठंडे ख़ून में थोड़ी-सी गर्मी आ जाए।

राष्ट्रीय जीवन में औरत का काम उनके विचार में वास्तव में इसके सिवा कुछ नहीं है कि वह सामाजिक कार्य करती फिरे, म्युनिसिपैलिटियों और कौंसिलों में जाए, कान्फ्रेंसों और कांग्रेसों में शरीक हो, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में अपना समय और दिमाग़ लगाए,

व्यायामों और खेलों में भाग ले, तैराकी, दौड़, कूद-फांद और लम्बी-लम्बी उड़ानों में रिकार्ड तोड़ दे। अर्थात् वह सब कुछ करे जो घर से बाहर है और उससे कुछ मतलब न रखे जो घर के भीतर है। इस जीवन को वे आदर्श जीवन समझते हैं। उनके नज़दीक दुनिया की तरक़्क़ी का यही रास्ता है और इस रास्ते पर जाने में जितनी पुरानी सांस्कृतिक विचारधाराएँ बाधक हैं, वे सब की सब सिर्फ़ बकवास और बिल्कुल ग़लत हैं। इस नई ज़िंदगी के लिए पुराने नैतिक मूल्यों (Moral Values) को उन्होंने इसी तरह नए मूल्यों से बदल लिया है जिस तरह यूरोप ने बदला है। भौतिक लाभ और शारीरिक आनन्द भोग उनकी निगाह में ज़्यादा, बल्कि मौलिक महत्त्व रखते हैं और उनके मुक़ाबले में शर्म, पाकदामनी, पवित्रता, नैतिकता, दाम्पत्य जीवन की वफ़ादारी, वंश की रक्षा और इसी तरह की दूसरी तमाम चीज़ें न सिर्फ़ यह कि निरर्थक और मूल्यहीन हैं, बल्कि दक़ियानूसी और अंधविश्वास के ढकोसले हैं, जिन्हें समाप्त किए बिना तरक़्क़ी का क़दम आगे नहीं बढ़ सकता।

ये लोग असल में पाश्चात्य जीवन-व्यवस्था के सच्चे अनुयायी हैं, और जिस सिद्धांत को इन्होंने स्वीकार किया है उसको उन तमाम उपायों से, जो यूरोप में इससे पहले अपनाए जा चुके हैं, पूर्वी देशों में फैलाने की कोशिश कर रहे हैं।

नया साहित्य

सबसे पहले उनके साहित्य को लीजिए जो दिमाग़ों को तैयार करनेवाली सबसे बड़ी ताक़त है। इस तथाकथित साहित्य – वास्तव में असाहित्य – में पूरी कोशिश इस बात की की जा रही है कि नई पीढ़ी के सामने इस नए नैतिक दर्शन को सुसज्जित करके पेश किया जाए और पुराने नैतिक मूल्यों को दिल व दिमाग़ की एक-एक रग से खींचकर निकाल डाला जाए। उदाहरण स्वरूप मैं यहाँ नए साहित्य से कुछ नमूने पेश करूँगा –

हिन्दुस्तान की एक मशहूर मासिक पत्रिका में, जिसको साहित्यिक दृष्टि से इस देश में काफ़ी महत्त्व प्राप्त है, एक लेख छपा है, जिसका शीर्षक है 'शीरीं का सबक़'। लेख लिखनेवाले एक ऐसे साहब हैं जो उच्च शिक्षा प्राप्त,

साहित्य-जगत् में विख्यात और एक बड़े पद पर आसीन हैं, लेख का सार यह है कि एक नौजवान लड़की अपने शिक्षक से सबक़ पढ़ने बैठी है और पढ़ाई के दौरान अपने एक नौजवान दोस्त का मुहब्बतनामा (प्रेम-पत्र) शिक्षक के सामने पढ़ने और सलाह देने के लिए पेश फ़रमाती है। उस दोस्त से उसकी मुलाक़ात किसी चाय पार्टी में हो गई थी। वहाँ किसी लेडी ने परिचय की रस्म अदा कर दी। उस दिन से मेल-जोल और पत्राचार का सिलसिला शुरू हो गया। अब लड़की यह चाहती है कि शिक्षक महोदय उसको इस दोस्त के मुहब्बतनामों का 'नैतिक उत्तर' लिखना सिखा दें। शिक्षक कोशिश करता है कि लड़की को इन बेहूदा बातों से हटाकर पढ़ने की ओर प्रेरित करे। लड़की जवाब देती है कि –

> "पढ़ना तो मैं चाहती हूँ, मगर ऐसा पढ़ना जो मेरे जागते के सपनों की आकांक्षाओं में कामियाब होने में मदद दे। न ऐसा पढ़ना जो मुझे अभी से बुढ़िया बना दे।"
>
> शिक्षक पूछता है, "क्या इन साहब के अलावा तुम्हारे और भी कुछ नौजवान दोस्त हैं?"
>
> लायक़ शागिर्द जवाब देती है, "कई हैं, मगर उस नौजवान में यह विशेषता है कि बड़े मज़े से झिड़क देता है।"
>
> शिक्षक कहता है कि "अगर तुम्हारे बाप को तुम्हारे इस पत्राचार का पता चल जाए तो क्या हो?"
>
> लड़की जवाब देती है, "क्या बाप ने जवानी में इस प्रकार के पत्र न लिखे होंगे? अच्छे-ख़ासे फ़ैशनेबुल हैं। क्या ताज्जुब है कि अब भी लिखते हों, ख़ुदा न करे बूढ़े नहीं हो गए हैं।"
>
> शिक्षक कहता है कि "अब से पचास वर्ष पहले तो यह ख़याल भी असम्भव था कि किसी शरीफ़ लड़की को मुहब्बत का ख़त लिखा जाए।"
>
> शरीफ़ज़ादी जवाब देती हैं, "तो क्या उस ज़माने के लोग सिर्फ़ बदज़ातों से ही मुहब्बत करते थे, बड़े मज़े में थे उस ज़माने के

बदज़ात (नीच) और बड़े बदमाश थे उस ज़माने के शरीफ़।''

'शीरीं' के आख़िरी शब्द, जिनपर लेखक ने मानो अपने साहित्यिक दार्शनिकता की तान तोड़ी है, ये हैं –

> ''हम लोगों (यानी नौजवानों) की दोहरी ज़िम्मेदारी है। वे ख़ुशियाँ, जो हमारे बुज़ुर्ग खो चुके हैं, ज़िंदा करें और वे ग़ुस्से और झूठ की आदतें जो ज़िंदा हैं, उन्हें दफ़न कर दें।''

एक और प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका में अब से डेढ़ साल पहले एक लघु कथा 'पशेमानी' (पश्चात्ताप) शीर्षक से प्रकाशित हुई थी जिसका सार सीधे-सादे शब्दों में यह था कि एक शरीफ़ ख़ानदान की बिन ब्याही लड़की एक आदमी से आँख लड़ाती है। अपने बाप की ग़ैर-मौजूदगी और माँ के अनजाने में उसको चुपके से बुला लेती है। अवैध सम्बन्ध के परिणामस्वरूप गर्भ ठहर जाता है। इसके बाद वह अपने इस नापाक काम को सही और ठीक ठहराने के लिए मन ही मन में यूँ तर्क देती है —

> ''मैं परेशान क्यों हूँ? मेरा दिल क्यों धड़कता है? क्या मेरी आत्मा मुझे धिक्कारती है? क्या मैं अपनी कमज़ोरी पर लज्जित हूँ? शायद हाँ। लेकिन उस रोमानी चाँदनी रात की दास्तान तो मेरी ज़िंदगी की किताब में सुनहरे शब्दों में लिखी हुई है। जवानी के मस्त लम्हों की उस याद को तो अब भी मैं अपना सबसे ज़्यादा प्रिय ख़ज़ाना समझती हूँ। क्या मैं इन लम्हों को वापस लाने के लिए अपना सब कुछ देने के लिए तैयार नहीं?''
>
> ''फिर क्यों मेरा दिल धड़कता है? क्या गुनाह के डर से? क्या मैंने गुनाह किया? नहीं, मैंने गुनाह नहीं किया। मैंने किसका गुनाह किया? मेरे गुनाह से किसको नुक़सान पहुँचा? मैंने तो क़ुरबानी की, क़ुरबानी उसके लिए। काश कि मैं उसके लिए और भी क़ुरबानी करती। गुनाह से मैं नहीं डरती। लेकिन शायद मैं इस चुड़ैल सोसायटी से डरती हूँ। इसकी कैसी-कैसी अर्थपूर्ण सन्दिग्ध भरी नज़रें मुझपर पड़ती हैं।''

"आख़िर मैं इससे क्यों डरती हूँ? अपने गुनाह की वजह से? लेकिन मेरा गुनाह ही क्या है? क्या जैसा मैंने किया, ऐसा ही समाज की कोई और लड़की न करती? वह सुहानी रात और वह तन्हाई! वह कितना सुन्दर था! उसने कैसे मेरे मुँह पर अपना मुँह रख दिया और अपनी गोद में मुझे खींच लिया, भींच लिया। उफ़, उसके गर्म और ख़ुश्बूदार सीने से मैं किस इत्मीनान से चिमट गई। मैंने सारी दुनिया ठुकरा दी और अपना सब कुछ ऐश के लम्हों पर तज दिया। फिर क्या हुआ? कोई और क्या करता? क्या दुनिया की कोई औरत उस वक़्त उसको ठुकरा सकती थी?"

"गुनाह? मैंने हरगिज़ गुनाह नहीं किया। मैं हरगिज़ शर्मिन्दा नहीं हूँ। मैं फिर वही करने को तैयार हूँ... पाकदामनी? पाकदामनी है क्या? सिर्फ़ कुँवारपन? या ख़यालों की पाकीज़गी ? मैं कुँवारी नहीं रही, लेकिन क्या मैंने अपनी पाकदामनी (सतीत्व) खो दी?"

"फ़सादी चुड़ैल सोसायटी को जो कुछ करना हो कर ले। वह मेरा क्या कर सकती है? कुछ नहीं। मैं उसकी मूर्खतापूर्ण उँगली उठाने से क्यों झेंपूँ? मै उसकी कानाफूसी से क्यों डरूँ? क्यों अपना चेहरा पीला कर लूँ? मैं उसके निरर्थक मज़ाक़ से क्यों मुँह छिपाऊँ? मेरा दिल कहता है कि मैंने ठीक किया, अच्छा किया, ख़ूब किया। फिर मैं क्यों चोर बनूँ? क्यों न खुल्लम-खुल्ला एलान कर दूँ कि मैंने ऐसा किया और अच्छा किया ?"

यह तर्कशैली और सोचने का यह अन्दाज़ है जो हमारे ज़माने का नया साहित्यकार हर लड़की—शायद ख़ुद अपनी बहन और बेटी को भी—सिखाना चाहता है। उसकी शिक्षा यह है कि एक जवान लड़की को चाँदनी रात में जो गर्म सीना भी मिल जाए, उससे उसको चिमट जाना चाहिए, क्योंकि इस स्थिति में यही एक काम का तरीक़ा मुमकिनहै और जो औरत भी ऐसी हालत में हो, वह इसके सिवा कुछ कर ही नहीं सकती। यह काम गुनाह नहीं बल्कि क़ुरबानी है और इससे पाकदामनी (सतीत्व) पर भी कोई आँच नहीं आती। भला ख़यालात की पाकीज़गी के साथ कुँवारापन क़ुरबान कर देने से भी कहीं

पाकदामनी जाती होगी! इससे तो पाकदामनी में और बढ़ोत्तरी होती है, बल्कि यह एक ऐसा शानदार कारनामा है कि एक औरत की ज़िंदगी में सुनहरी शब्दों से लिखा जाना चाहिए और उसकी कोशिश यह होनी चाहिए कि उसकी सारी किताबे-ज़िन्दगी (जीवनचर्या) ऐसे ही सुनहरी शब्दों में लिखी हुई हो। रही सोसायटी, तो वह अगर ऐसी पाकदामन औरतों पर उँगली उठाती है, तो वह फ़सादी और चुड़ैल है। अपराधी वह ख़ुद है कि ऐसी त्याग-प्रवृत्तिवाली लड़कियों पर उँगली उठाती है, न कि वह लड़की जो एक रोमानी रात में किसी खुली गोद के अन्दर भींचे जाने से इंकार न करे। ऐसी ज़ालिम सोसायटी, जो इतने अच्छे काम को बुरा कहती है, हरगिज़ इसकी हक़दार नहीं कि उससे डरा जाए और यह नेक काम करके उससे मुँह छिपाया जाए। नहीं, हर लड़की को एलानिया और बेबाकाना इस श्रेष्ठ आचरण व नैतिकता का प्रदर्शन करना चाहिए और ख़ुद शर्मिन्दा होने के बजाए हो सके तो उलटा सोसाइटी को शर्मिन्दा करना चाहिए — यह हिम्मत और साहस कभी बाज़ार में बैठनेवाली वेश्याओं को भी नसीब न था, क्योंकि इन अभागिनों के पास ऐसा नैतिक दर्शन न था जो पाप को पुण्य और पुण्य को पाप कर देता। उस समय की वेश्या पाकदामनी तो बेचती थी, मगर अपने आपको ख़ुद रुसवा और गुनाहगार समझती थी — मगर अब नया साहित्य हर घर की बहू और बेटी को पहले ज़माने की वेश्याओं से भी दस क़दम आगे पहुँचा देना चाहता है, क्योंकि यह बदमाशी व अश्लील कर्म को सहारा देने के लिए एक नया नैतिक-दर्शन पैदा कर रहा है।

एक और पत्रिका में, जिसको हमारे देश के साहित्यिक क्षेत्रों में बड़ी लोकप्रियता मिली हुई है, एक कहानी 'देवर' के नाम से छपी है। लेखक एक ऐसे साहब हैं जिनके स्वर्गीय पिता को औरतों के लिए बेहतरीन नैतिक साहित्य तैयार करने का श्रेय प्राप्त था और इसी ख़िदमत की वजह से शायद वे हिन्दुस्तान की उर्दू पढ़नेवाली औरतों में सबसे ज़्यादा लोकप्रिय बुज़ुर्ग थे।

इस कहानी में नौजवान साहित्यकार एक ऐसी लड़की के चरित्र को ख़ुशनुमा बनाकर अपनी बहनों के लिए नमूने के तौर पर पेश करते हैं, जो शादी से पहले ही अपने 'देवर की भरपूर जवानी और शबाब के हंगामों' का ख़याल

करके 'अपने जिस्म में थरथरी' पैदा कर लिया करती थी और कुँवारपने से ही उसका नज़रिया यह था कि "जो जवानी ख़ामोश और सुकून के साथ गुज़र जाए उसमें और बुढ़ापे में कोई फ़र्क़ नहीं। मेरे नज़दीक तो जवानी के लिए हंगामे ज़रूरी हैं जिनका स्रोत हुस्न व इश्क़ का संघर्ष है।" इस दृष्टिकोण और इन इरादों को लिए हुए जब यह लड़की ब्याही गई तो अपने दाढ़ीवाले शौहर को देखकर उसकी भावनाओं पर ओस पड़ गई और उन्होंने पहले से सोचे हुए नक़्शे के मुताबिक़ फ़ैसला कर लिया कि अपने शौहर के सगे भाई से दिल लगाएगी। अतएव बहुत जल्द ही इसका मौक़ा आ गया। शौहर साहब तालीम हासिल करने के लिए विलायत चले गए और उनके पीछे बीवी ने शौहर की और भाई ने भाई की ख़ूब दिल खोलकर और मज़े ले-ले कर ख़ियानत की। कहानीकार ने इस कारनामे को ख़ुद उस अपराधी लड़की के क़लम से लिखा है। वह अपनी सहेली को, जिसकी अभी शादी नहीं हुई है, अपने तमाम करतूत अपनी क़लम से लिखकर भेजती है और वे तमाम मरहले ख़ूब विस्तार से बयान करती है जिससे गुज़रकर देवर और भाभी की यह आशनाई आख़िरी मरहले तक पहुँची। मन और देह की जितनी स्थितियाँ औरत-मर्द के मिलने की हालत में घटित हो सकती हैं, उनमें से किसी एक को भी बयान करने से वह नहीं चूकती। बस इतनी कसर रह गई है कि सम्भोग क्रिया की तस्वीर नहीं खींची गई। शायद इस कोताही में भी यह बात नज़रों में होगी कि पढ़नेवाले और पढ़ने वालियों की कल्पनाशक्ति थोड़ा-सा कष्ट उठाकर ख़ुद ही उसकी ख़ाली जगह को पूरी कर लेगी।

इस नए साहित्य का अगर फ्रांस के उस लिट्रेचर से मुक़ाबला किया जाए जिसके कुछ नमूने हमने इससे पहले पेश किए हैं, तो साफ़ नज़र आएगा कि यह क़ाफ़िला उसी रास्ते से उसी मंज़िल की ओर जा रहा है, उसी जीवन-व्यवस्था के लिए ज़ेहनों को सैद्धान्तिक और नैतिक रूप से तैयार किया जा रहा है, और निशाना ख़ास तौर से औरतों की ओर है, ताकि उनके अन्दर शर्म का कुछ अंश भी न छोड़ा जाए।

आधुनिक संस्कृति

यह नैतिक अवधारणा और यह जीवन-दर्शन मैदान में अकेला नहीं है। इसके साथ पूँजीवादी सांस्कृतिक व्यवस्था और पाश्चात्य लोकतंत्र के उसूल भी सम्मिलित हो गए हैं और ये तीनों ताक़तें मिल-जुलकर ज़िंदगी का वही नक़्शा बना रही हैं जो पश्चिमी जगत् में बन चुका है। सेक्स पर बहुत घटिया क़िस्म का अश्लील साहित्य तैयार किया जा रहा है जो स्कूलों और कालेजों के पढ़नेवालों और पढ़नेवालियों तक व्यापक रूप से पहुँचता है। नंगी और बेहया औरतों की तस्वीरें हर अख़बार, हर रिसाले, हर घर और हर दुकान की ज़ीनत (शोभा) बन रही हैं। घर-घर और बाज़ार-बाज़ार ग्रामोफ़ोन के वे रिकार्ड बज रहे हैं जिनमें बड़े घटिया और गन्दे गीत भरे जाते हैं। सिनेमा का सारा कारोबार वासनात्मक भावनाओं को भड़काने पर चल रहा है और सिनेमा के परदे पर बेहयाई और गन्दगी को इतना सजाकर पेश किया जाता है कि हर लड़की और लड़के की निगाह में ऐक्टरों और ऐक्ट्रेसों की ज़िंदगी आदर्श बनकर रह जाती है। इन शौक़ और तमन्ना बढ़ानेवाले खेलों को देखकर दोनों लिंगों के नौजवान जब तमाशाघर से निकलते हैं तो उनके बेचैन वलवले हर ओर इश्क़ और रोमांस के मौक़े ढूँढने लगते हैं। ये सब लाभ कमाने की विविध पूँजीवादी शक्लें हैं। इसी पूँजीवादी जीवन-व्यवस्था की वजह से बड़े शहरों में वे हालात तेज़ी के साथ पैदा होते चले जा रहे हैं जिनमें औरतों के लिए अपनी रोज़ी आप कमाना ज़रूरी हो जाता है। और इसी ज़ालिमाना व्यवस्था की मदद पर गर्भ-निरोध का प्रोपगंडा अपनी दवाओं और अपने उपकरणों के साथ मैदान में आ गया है।

आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था ने, जिसकी बरकतें ज़्यादातर इंग्लैंड और फ्रांस के माध्यम से पूर्वी देशों तक पहुँची हैं, एक ओर औरतों के लिए राजनीतिक और सामूहिक सरगर्मियों के रास्ते खोल दिए हैं, दूसरी ओर ऐसी संस्थाएँ क़ायम की हैं जिनमें औरतों और मर्दों के सम्मिश्रित होने की शक्लें अनिवार्यतः पैदा होती हैं, और तीसरी तरफ़ क़ानून के बन्धन इतने ढीले कर दिए हैं कि बेहयाई केवल ज़ाहिर ही नहीं की जाती, बल्कि उसपर अमल करना भी अधिकतर हालात में अपराध नहीं है।

इन हालात में जो लोग खुले दिल के साथ ज़िंदगी के इस रास्ते पर जाने का फ़ैसला कर चुके हैं, उनकी नैतिकता और उनके रहन-सहन में क़रीब-क़रीब पूरा इन्क़िलाब आ चुका है। उनकी औरतें अब ऐसे पहनावों में निकल रही हैं कि हर औरत पर फ़िल्म ऐक्ट्रेस का धोखा होता है। उनके अन्दर पूरी बेबाकी पाई जाती है, बल्कि पहनावों के नंगेपन, रंगों की शोख़ी, बनाव-सिंगार के एहतिमाम और एक-एक अदा से साफ़ मालूम होता है कि लैंगिक चुम्बक बनने के सिवा कोई दूसरा मक़सद उन औरतों की नज़र के सामने नहीं है। शर्म का यह हाल है कि नहाने का कपड़ा पहनकर मर्दों के साथ नहाना, यहाँ तक कि इस हालत में अपने फ़ोटो खिंचवाना और अख़बारों में छपवा देना भी इस वर्ग की किसी शरीफ़ औरत के लिए शर्म की बात नहीं है, बल्कि शर्म का सवाल वहाँ सिरे से पैदा ही नहीं होता। आधुनिक नैतिक धारणाओं की दृष्टि से मानव शरीर के सब अंग बराबर हैं। अगर हाथ की हथेली और पाँव के तलवे को खोला जा सकता है, तो आख़िर शर्मगाह (रान को आख़िरी हिस्से तक खोल देना) और स्तनों के उभार को दिखाने में ही क्या हरज है? ज़िंदगी का मज़ा जिसके ज़ाहिर होने का संकलित नाम आर्ट है, उन लोगों के नज़दीक हर नैतिक बन्धन से स्वतंत्र, बल्कि अपने आप में नैतिकता का मापदण्ड है। इसी वजह से बाप और भाई उस वक़्त ख़ुशी और गर्व के मारे फूले नहीं समाते जब उनकी आँखों के सामने कुँवारी बेटी और बहन स्टेज पर नाच-गाना और प्रेमिका के रूप में अदाकारी के कमालात दिखाकर सैंकड़ों जोशीले दर्शकों और सुननेवालों से वाहवाही लूटती है। भौतिक कामयाबी, जिसका दूसरा नाम 'जीवन का लक्ष्य' है, उनकी राय में हर उस संभव चीज़ से ज़्यादा क़ीमती है जिसे क़ुरबान करके यह चीज़ हासिल की जा सकती हो। जिस लड़की ने इस मूल उद्देश्य को हासिल करने की योग्यता और सोसायटी में लोकप्रिय होने की योग्यता जुटा ली, उसने अगर पाकदामनी गँवादी तो गोया कुछ भी नहीं खोया, बल्कि सब कुछ पा लिया। इसी लिए यह बात किसी तरह उनकी समझ में आती ही नहीं कि किसी लड़की का लड़कों के साथ स्कूल या कॉलेज में पढ़ना या जवानी की हालत में अकेले शिक्षा प्राप्त करने के लिए यूरोप जाना आख़िर क्यों एतिराज़ के क़ाबिल हो।

पाश्चात्य संस्कृति के समर्थकों से फ़ैसला

ये हैं वे लोग जो परदे पर सबसे ज़्यादा एतिराज़ करते हैं। इनके निकट यह परदा एक ऐसी तुच्छ, बल्कि पूर्णत: बेकार चीज़ है कि इसका मज़ाक़ उड़ा देना और फ़बतियाँ कस देना ही इसे रद्द कर देने के लिए काफ़ी दलील है। लेकिन यह रवैया बिलकुल ऐसा ही है, जैसे कोई व्यक्ति इंसानी चेहरे पर सिरे से नाक की ज़रूरत ही का क़ायल न हो, और इस आधार पर वह हर उस आदमी का मज़ाक़ उड़ाना शुरू कर दे जिसके चेहरे पर उसे नाक नज़र आए। इस तरह की जिहालत भरी बातों से सिर्फ़ जाहिल ही रोब में आ सकते हैं। उनको, अगर वे अक़्ल से काम लें, यह समझना चाहिए कि हमारे और उनके दर्मियान असूल में मूल्यों का बुनियादी मतभेद है। जिन चीज़ों को हम क़ीमती समझते हैं, वे उनके नज़दीक मूल्यहीन हैं, इसलिए अपने मूल्य-स्तर की दृष्टि से जिस व्यवहार-शैली को हम ज़रूरी समझते हैं, वे यक़ीनन उनकी निगाह में क़तई तौर पर ग़ैर-ज़रूरी, बल्कि बेकार की चीज़ ठहरना ही चाहिए। परन्तु बुनियादी मतभेद की शक्ल में वह सिर्फ़ एक अल्प बुद्धि आदमी ही हो सकता है जो मतभेद की असूल बुनियाद पर बात करने के बजाए छोटी-छोटी बातों पर हमला शुरू कर दे।

इंसानी मूल्यों के निर्धारण में निर्णायक चीज़ अगर कोई है तो वे प्राकृतिक क़ानून हैं। प्रकृति के क़ानूनों के लिहाज़ से इंसान की बनावट जिस चीज़ का तक़ाज़ा करे और जिस चीज़ में इंसान की भलाई और उसका हित हो, वही असूल में क़द्र की हक़दार है। आइए इस पैमाने पर जाँचकर देख लें कि मूल्यों के मतभेद में हम सही रास्ते पर हैं या आप हैं? ज्ञानपरक दलीलें जो कुछ आपके पास हों, आप उन्हें ले आएँ और जो दलीलें हम रखते हैं, उन्हें हम पेश करते हैं। फिर सीधे-सच्चे और अक़्ल से सोचने-समझनेवाले इंसानों की तरह देखिए कि वज़न किस तरफ़ है। इस तरीक़े से अगर हम अपने मूल्यों के पैमाने को सही साबित कर दें तो आपको इख़्तियार है, चाहे इन मूल्यों को अपनाएँ, जो बुद्धि और ज्ञान पर आधारित हैं, चाहे उन्हीं मूल्यों के पीछे पड़े रहें जिन्हें सिर्फ़ नफ़्स की ख़ाहिश की वजह से आपने पसन्द किया है। मगर इस दूसरी स्थिति में आपकी अपनी स्थिति इतनी कमज़ोर हो जाएगी कि हमारी व्यवहार-शैली की हँसी उड़ाने के बजाए आप ख़ुद अपनी हँसी उड़वाने के हक़दार बनकर रह जाएँगे।

दूसरा गरोह

इसके बाद हमारे सामने दूसरा गरोह आता है। पहले गरोह में तो, ग़ैर-मुस्लिम और तथाकथित मुसलमान, दोनों क़िस्म के लोग शामिल हैं। मगर इस दूसरे गरोह में तमाम मुसलमान शामिल हैं। इन लोगों में आजकल आधा-परदा और आधी बे-परदगी का एक अजीब मिश्रण इस्तेमाल हो रहा है। ये जैसे बीच में लटके हुए लोग हैं, न इधर के हैं, न उधर के हैं। एक ओर तो ये अपने भीतर इस्लामी भावनाएँ रखते हैं। अख़्लाक़, तहज़ीब, शराफ़त और अच्छे चरित्र की उन कसौटियों को मानते हैं जिनको इस्लाम ने पेश किया है। अपनी औरतों को शर्म और पाकदामनी के ज़ेवरों से सजा हुआ और अपने घरों को अख़लाक़ी गन्दगियों से पाक रखने के इच्छुक हैं और उन नतीजों को क़बूल करने के लिए तैयार नहीं हैं जो पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के नियमों के पालन से पैदा हुए हैं और होने चाहिएँ। परन्तु दूसरी ओर इस्लामी सामाजिक व्यवस्था के नियमों और क़ानूनों को तोड़कर कुछ रुकते, कुछ झिझकते उसी रास्ते की ओर अपनी बीवियों, बहनों और बेटियों को लिए चले जा रहे हैं जो पाश्चात्य सभ्यता का रास्ता है। ये लोग इस ग़लतफ़हमी में हैं कि आधे पाश्चात्य और आधे इस्लामी तरीक़ों को इकट्ठा करके ये दोनों सभ्यताओं के फ़ायदे और लाभ एकत्र कर लेंगे। यानी इनके घरों में इस्लामी अख़लाक़ भी सुरक्षित रहेंगे, इनकी ख़ानदानी ज़िंदगी की व्यवस्था भी बची रहेगी और इसके साथ इनकी सामाजिकता अपने भीतर पाश्चात्य सामाजिकता की बुराइयाँ नहीं, बल्कि सिर्फ़ उसकी मनमोहकता, उसकी लज़्ज़तों और उसके भौतिक लाभों को जमा कर लेगी। लेकिन प्रथमतः तो अलग-अलग मक़सदवाली और अलग-अलग बुनियादोंवाली सभ्यताओं की आधी-आधी शाखाएँ काटकर पैवन्द लगाना ही ठीक नहीं, क्योंकि इस तरह के बेजोड़ मेल से दोनों के फ़ायदों के जमा होने के बजाए दोनों के नुक़्सानों के जमा हो जाने की ज़्यादा संभावना है। दूसरे यह भी अक़्ल और प्रकृति के विरुद्ध है कि एक बार इस्लाम की मज़बूत नैतिक व्यवस्था के बन्धन ढीले करने और लोगों को क़ानून तोड़ने का आनन्द दिला देने के बाद आप इस सिलसिले को उसी हद पर रोक रखेंगे जिसको आपने नुक़्सान से ख़ाली समझ रखा है। यह आधे नंगे पहनावों का रिवाज, यह

बनाव-सिंगार का शौक़, यह दोस्तों की महफ़िलों में बेबाकी के शुरुआती तजुर्बे, यह सिनेमा और नंगी तस्वीरों और प्रेम कहानियों से बढ़ती हुई दिलचस्पी, यह पश्चिमी ढंग पर लड़कियों की तालीम बहुत मुमकिन है कि अपना तत्काल प्रभाव न दिखाए, बहुत मुमकिन है कि मौजूदा नस्ल उसके नुक़्सानों से बच जाए। लेकिन यह समझना भी कि आगे की नस्लें भी इससे सुरक्षित रहेंगी, एक खुली नादानी है। संस्कृति और सामाजिकता में हर ग़लत तरीक़े की शुरुआत बहुत मासूम होती है, मगर एक नस्ल से दूसरी नस्ल और दूसरी नस्ल से तीसरी नस्ल तक पहुँचते-पहुँचते वही छोटी-सी शुरुआत एक भयानक ग़लती बन जाती है। ख़ुद यूरोप और अमरीका में भी जिन ग़लत बुनियादों पर सामाजिकता को नए सिरे से संगठित किया गया था, इसके नतीजे फ़ौरन नहीं प्रकट हो गए थे, बल्कि इसके पूरे-पूरे नतीजे अब तीसरी और चौथी पीढ़ी में ज़ाहिर हुए हैं। अतः यह पाश्चात्य और इस्लामी तरीक़ों का मेल और यह आधी बे-परदगी असल में कोई स्थायी और टिकाऊ चीज़ नहीं है। असल में इसका फ़ितरी रुझान पाश्चात्यवाद के चरम की ओर है और जो लोग इस तरीक़े पर चल रहे हैं उनको समझ लेना चाहिए कि उन्होंने फ़िलहाल इस सफ़र की शुरुआत की है, जिसकी आख़िरी मंज़िल तक अगर वह नहीं तो उनकी औलाद और औलाद की औलाद पहुँचकर रहेगी।

निर्णायक प्रश्न

ऐसी हालत में क़दम आगे बढ़ाने से पहले इन लोगों को ख़ूब सोच-विचार करके एक बुनियादी सवाल का फ़ैसला कर लेना चाहिए, जो संक्षिप्त रूप में नीचे दिया जा रहा है –

क्या आप पाश्चात्य सामाजिकता के इन नतीजों को क़बूल करने के लिए तैयार हैं जो यूरोप और अमरीका में ज़ाहिर हो चुके हैं और जो इस सामाजिकता के फ़ितरी और यक़ीनी नतीजे हैं? क्या आप इसको पसन्द करते हैं कि आपके समाज में भी वही उत्तेजक और वासनात्मक माहौल पैदा हो ? आपकी क़ौम में भी इसी तरह निर्लज्जता, व्यभिचार और अश्लीलता का बाहुल्य हो? गुप्त रोगों की वबाएँ फैलें? परिवार और घर की व्यवस्था बिखर जाए? तलाक़ और अलगाव का ज़ोर हो? नौजवान मर्द और औरतें आज़ादाना तौर पर अपनी

वासना पूरी करने लगें? गर्भनिरोध, गर्भपात और भ्रूण हत्या करने से नस्लें तबाह की जाएँ? नौजवान लड़के और लड़कियाँ सीमा से बढ़ी हुई वासनाओं में अपनी बेहतरीन अमली ताक़तों को बर्बाद और अपने स्वास्थ्य को ख़राब करें? यहाँ तक कि कमसिन बच्चों तक में वक़्त से पहले सेक्स भरे रुझान पैदा होने लगें और इससे उनके मानसिक और शारीरिक विकास में शुरू ही से गड़बड़ी पैदा हो जाया करे?

अगर भौतिक लाभों और इन्द्रिय आनन्दों के लिए आप इन सब चीज़ों को गवारा करने के लिए तैयार हैं तो बे-झिझक पाश्चात्य सभ्यता के रास्ते पर तशरीफ़ ले जाइए और इस्लाम का नाम भी ज़बान पर न लाइए। इस रास्ते पर जाने से पहले आपको इस्लाम से सम्बन्ध-विच्छेद का एलान करना होगा, ताकि आप बाद में इस नाम को इस्तेमाल करके किसी को धोखा न दे सकें और आपकी रुसवाइयाँ इस्लाम और मुसलमानों के लिए अपमान और शर्म का कारण न बन सकें।

लेकिन अगर आप इन नतीजों को क़बूल करने के लिए तैयार नहीं हैं, अगर आपको एक ऐसी नेक और पवित्र संस्कृति की ज़रूरत है जिसमें अच्छे अख़लाक़ और ख़ूबियाँ परवरिश पा सकें, जिसमें इंसान को अपनी मानसिक, आध्यात्मिक और भौतिक प्रगति के लिए एक सुकून भरा माहौल मिल सके, जिसमें औरत और मर्द पाशविक भावनाओं की बाधाओं से सुरक्षित रहकर अपनी बेहतरीन क्षमता के मुताबिक़ अपने-अपने सांस्कृतिक कर्त्तव्य अंजाम दे सकें, जिसमें संस्कृति की आधारशिला, यानी परिवार, पूरी मज़बूती के साथ क़ायम हो, जिसमें नस्लें सुरक्षित रहें और नस्ल की भ्रष्टता का फ़ितना पैदा न हो, जिसमें इंसान की घरेलू ज़िंदगी उसके लिए सुकून व राहत की जन्नत और उसकी औलाद के लिए मुहब्बत भरी तर्बियत का गहवारा और परिवार के सारे सदस्यों के लिए आपसी सहकारी समिति हो, तो इन मक़सदों के लिए आपको पाश्चात्य सभ्यता के रास्ते का रुख़ भी न करना चाहिए, क्योंकि वह बिल्कुल विपरीत दिशा को जा रहा है और पश्चिम की ओर चलकर पूर्व की ओर पहुँच जाना अक़्ल की दृष्टि से असम्भव है। अगर हक़ीक़त में आपके मक़सद यही हैं तो आपको इस्लाम का रास्ता अपनाना चाहिए।

मगर इस रास्ते पर क़दम रखने से पहले आपको उन असन्तुलित भौतिक

लाभों और इन्द्रिय आनन्द की तलब अपने दिल से निकालनी होगी जो पाश्चात्य सभ्यता के आकर्षक दृश्यों को देखकर पैदा हो गई है। उन दृष्टिकोणों और विचारधाराओं को भी अपने दिमाग़ से निकाल देना होगा जो यूरोप से आपने उधार ले रखी हैं। उन तमाम उसूलों और मक़सदों को भी छोड़ना पड़ेगा, जो पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से आयात किए गए हैं। इस्लाम अपने अलग उसूल और मक़सद रखता है। उसके अपने स्थायी सामाजिक सिद्धांत हैं। उसने वैसी ही एक सामाजिक व्यवस्था का गठन किया है जैसा कि उसके मक़्सदों, उसके उसूलों और उसके सामाजिक सिद्धान्तों का फ़ितरी तक़ाज़ा है। फिर इस सामाजिक व्यवस्था की संरक्षा वह एक ख़ास अनुशासन और एक ख़ास ज़ाब्ते के ज़रीए से करता है, जिसको मुक़र्रर करने में हद दर्जे की हिक्मत और इंसानी इच्छाओं और मानसिकताओं की पूरी रिआयत ध्यान में रखी गई है, जिसके बिना यह सामाजिक व्यवस्था बिखराव और टूट-फूट से बची नहीं रह सकती। यह अफ़लातून के लोकतंत्र की तरह कोई काल्पनिक व्यवस्था (Utopia) नहीं है, बल्कि साढ़े तेरह सदियों के ज़बरदस्त इम्तिहान में पूरी उतर चुकी है और इस लम्बी मुद्दत में किसी मुल्क और किसी क़ौम के अन्दर भी उसके असर की वजह से उन ख़राबियों का दसवाँ हिस्सा भी ज़ाहिर नहीं हुआ है, जो पाश्चात्य सभ्यता के असर से सिर्फ़ एक सदी के अन्दर पैदा हो चुकी हैं। अतः अगर इस सुदृढ़ और आज़माई हुई सामाजिक व्यवस्था से आप लाभ उठाना चाहते हैं तो आपको उसके नियम और उसके अनुशासन की पूरी-पूरी पाबंदी करनी होगी, और यह हक़ आपको हरगिज़ हासिल न होगा कि अपनी अक़्ल से निकाले हुए या दूसरों से सीखे हुए अधपके विचारों और बिना आज़माए हुए तरीक़ों को, जो इस सामाजिक व्यवस्था के स्वभाव और उसकी प्रवृत्ति के बिलकुल ख़िलाफ़ हों, अकारण उसमें ठूसने की कोशिश करें।

तीसरा गरोह चूँकि मूर्खों और ग़फ़लत के शिकार लोगों का है, जिनमें ख़ुद सोचने-समझने और राय क़ायम करने की योग्यता ही नहीं है, इसलिए वह किसी तवज्जोह का हक़दार नहीं। बेहतर यही है कि हम उसे नज़रअंदाज़ करके आगे बढ़ें।

—•—

अध्याय-7

प्रकृति के कानून

प्रकृति ने तमाम जीवों की तरह इंसान को भी 'जोड़ों' यानी दो ऐसे लिंगों में पैदा किया है जो एक-दूसरे की ओर स्वाभाविक आकर्षण रखते हैं। परन्तु दूसरे जीवधारियों का जिस हद तक अध्ययन किया गया है, उससे मालूम होता है कि उनमें इस लैंगिक बँटवारे और इस स्वाभाविक आकर्षण का उद्देश्य सिर्फ़ वंश परम्परा को बाक़ी रखना है। इसी लिए उनमें यह आकर्षण केवल इस हद तक रखा गया है जो हर जाति को बाक़ी रखने के लिए ज़रूरी है, और उनकी प्रकृति में ऐसी नियंत्रण-शक्ति रख दी गई है जो उन्हें लैंगिक-सम्बन्धनों में उस निश्चित सीमा हद से आगे नहीं बढ़ने देती। इसके विपतीत इंसान में यह आकर्षण असीम, अनियंत्रित और दूसरे तमाम जीवों से बढ़ा हुआ है। इसके लिए समय और मौसम की कोई पाबन्दी नहीं। इसके स्वभाव में कोई ऐसी नियन्त्रण-शक्ति भी नहीं है जो उसे किसी सीमा पर रोक दे। इसके विपरीत मर्द और औरत एक-दूसरे के लिए स्थायी आकर्षण रखते हैं। उनके भीतर एक-दूसरे को आकर्षित करने और आकर्षित होने और लैंगिक आकर्षण के असीम साधन जुटा दिए गए हैं। उनके मन में आपसी प्रेम और इश्क़ की एक ज़बरदस्त माँग रख दी गई है। उनके जिस्म की बनावट और उसके अनुपात, रंग-रूप और उसके स्पर्श और उसके एक-एक अंग में विपरीत लिंग के लिए आकर्षण पैदा कर दिया गया है। उनकी आवाज़, रफ़्तार, चाल-ढाल, अदा, हर एक चीज़ में खींच लेने की शक्ति भर दी गई है, और आस-पास की दुनिया में भी बहुत-सी ऐसी चीज़ें पैदा कर दी गई हैं जो दोनों की वासनाओं को उभारतीं और उन्हें एक-दूसरे की ओर खींचती हैं। हवा की सरसराहट, पानी का बहाव, घासों की हरियाली, फूलों की महक, चिड़ियों के चहचहे, गगन की घटाएँ, चाँदनी रात की सौम्यता और मनोहरता, मतलब यह कि प्राकृतिक सौन्दर्य का कोई दृश्य और कायनात की सुन्दरता की कोई भी छवि ऐसी नहीं है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष इस प्रेरणा का कारण न बनती हो।

फिर इंसान की शारीरिक व्यवस्था का जायज़ा लीजिए तो मालूम होगा कि इसमें ताक़त का जो बहुत बड़ा ख़ज़ाना रखा गया है, वह एक ही वक़्त में जीवन-शक्ति और क्रिया-शक्ति भी है और लैंगिक सम्बन्ध-शक्ति भी। वही ग्रंथियाँ (Glands) जो उसके अंगों को जीवन-रस (Harmon) देती हैं और उसमें चुस्ती, ऊर्जा, बौद्धिक-शक्ति और क्रिया-शक्ति पैदा करती हैं। उन्हीं के सुपुर्द यह सेवा भी की गई है कि उसमें लैंगिक सम्बन्ध की शक्ति भी पैदा करें। इस शक्ति को हरकत में लाने वाली भावनाओं को विकसित करें, उन भावनाओं को उभारने के लिए सौन्दर्य, रूप, निखार और सज-धज के अलग-अलग प्रकार के उपकरण जुटाएँ और इन उपकरणों से प्रभावित होने की क्षमता उसकी आँखों, उसके कानों और उसकी सूँघने और छूनेवाली इन्द्रियों, यहाँ तक कि उसकी कल्पना-शक्ति तक में जुटा दें।

प्रकृति की यही क्रियाशीलता इंसान की भीतरी ताक़तों में भी दिखाई देती है। उसके मन में जितनी प्रेरक शक्तियाँ पाई जाती हैं, उन सबका नाता दो शक्तिशाली प्रेरणाओं से होता है। एक वह प्रेरणा जो उसे ख़ुद अपने अस्तित्व की रक्षा और अपने व्यक्तित्व की सेवा पर उभारती है। दूसरी वह प्रेरणा जो उसको अपने विपरीत लिंग से ताल्लुक़ रखने पर मजबूर करती है। जवानी के दिनों में, जबकि इंसान की अमली ताक़तें अपने पूरे उत्थान पर होती हैं, यह दूसरी प्रेरणा इतनी मज़बूत होती है कि कभी-कभी वह पहली प्रेरणा को भी दबा लेती है और इंसान इतना ज़्यादा उसका असर लेता है कि उसे अपनी जान तक गँवा देने और अपने आपको जानते-बूझते तबाही के गढ़े में डाल देने में कोई झिझक महसूस नहीं होती।

संस्कृति-रचना में यौनाकर्षण का असर

यह सब कुछ किस लिए है? क्या सिर्फ़ नस्ल को बाक़ी रखने के लिए? नहीं। क्योंकि इंसानी नस्ल को बाक़ी रखने के लिए इस मात्रा में नस्ल पैदा करने की भी ज़रूरत नहीं जितनी मछली, बकरी या ऐसे ही दूसरे जानदारों के लिए है। फिर क्या कारण है कि प्रकृति ने उन सब जानदारों से ज़्यादा लैंगिक आकर्षण इंसान में रखा है और उसके लिए सबसे ज़्यादा उभारने-उकसाने के साधन जुटा

दिए हैं ? क्या यह सिर्फ़ इंसान के भोग-विलास और लज़्ज़त लेने के लिए है ? यह भी नहीं। प्रकृति ने कहीं भी आनन्द और भोग-विलास को निरा उद्देश्य नहीं बनाया है। वह तो किसी बड़े मक़सद की सेवा पर इनसान और पशु को मजबूर करने के लिए लज़्ज़त और मज़े को सिर्फ़ चाशनी के तौर पर लगा देती है ताकि वे इस सेवा को पराया नहीं बल्कि अपना काम समझ कर करें। अब सोचिए कि इस मामले में कौन-सा बड़ा मक़सद प्रकृति के सामने है ? आप जितना सोचेंगे कोई और कारण इसके सिवा समझ में न आएगा कि प्रकृति, दूसरे सारे जीवों के विपरीत, इंसानी नस्ल को सभ्य बनाना चाहती है। इसी लिए इंसान के दिल में लैंगिक प्रेम व इश्क़ की वह प्रेरणा रखी गई है, जो न केवल शारीरिक सम्बन्ध तथा नस्ल बढ़ाने ही का तक़ाज़ा करती है, बल्कि एक स्थायी सहवास, हार्दिक मिलाप और रूहानी लगाव की माँग भी करती है।

इसी लिए इंसान में यौनाकर्षण उसकी यौन-क्रिया-शक्ति से बहुत ज़्यादा रखा गया है। उसमें जितनी कामेच्छा और यौनाकर्षण रखा गया है, अगर उसी अनुपात से बल्कि एक और दस के अनुपात से भी वह नस्ल बढ़ाने में लगे तो उसकी सेहत बिगड़ जाए और स्वाभाविक उम्र तक पहुँचने से पहले ही उसकी शारीरिक शक्तियाँ समाप्त हो जाएँ। यह बात इस वास्तविकता की खुली हुई दलील है कि इंसान में लैंगिक आकर्षण की अधिकता का होना इसलिए नहीं है कि वह सारे पशुओं से बढ़कर लैंगिक-क्रिया करे, बल्कि इसका तात्पर्य औरत और मर्द को एक-दूसरे के साथ बाँधे रखना, और उनके आपसी ताल्लुक़ में स्थायित्व और मज़बूती पैदा करना है।

इसी लिए औरत के स्वभाव में यौनाकर्षण और वासनात्मक इच्छा के साथ-साथ शर्म, हया, झिझक, फ़रार और रुकावट का तत्त्व रखा गया है जो न्यूनाधिक प्रत्येक औरत में पाया जाता है। यह फ़रार और मना करने का भाव यद्यपि दूसरे जानदारों की मादा में भी दीख पड़ता है, परन्तु इंसान की स्त्री-जाति में इसकी शक्ति और मात्रा बहुत ज़्यादा है और उसको शर्म व हया की भावनाओं के द्वारा और ज़्यादा उभार दिया गया है। इससे भी मालूम होता है कि इंसान में लैंगिक आकर्षण का उद्देश्य स्थायी सम्बन्ध पैदा करना है, न यह कि हर लैंगिक आकर्षण का नतीजा यौन-क्रिया ही हो।

इसी लिए इंसान के बच्चे को तमाम जानवरों के बच्चों से ज़्यादा कमज़ोर और बेबस पैदा किया गया है। दूसरे जानदारों के विपरीत, इंसान का बच्चा कई साल तक माँ-बाप के संरक्षण और देख-रेख का मुहताज होता है और उसमें अपने आपको संभालने और अपनी मदद आप करने की क्षमता बहुत देर में पैदा होती है। इसका भी मक़सद यह है कि औरत और मर्द का ताल्लुक़ सिर्फ़ वासना का ताल्लुक़ न रहे, बल्कि इस ताल्लुक़ का नतीजा यह निकले कि वे आपस में जुड़े रहने, एक दूसरे का साथ देने और सहयोग करने पर मजबूर हों।

इसी लिए इंसान के दिल में औलाद की मुहब्बत तमाम जानदारों से ज़्यादा रखी गई है। दूसरे जानदार थोड़े दिनों तक अपने बच्चों की देख-रेख करने के बाद उनसे अलग हो जाते हैं, फिर उनमें कोई नाता बाक़ी नहीं रहता, बल्कि वे एक-दूसरे को पहचानते भी नहीं। इसके विपरीत इंसान आरंभिक पालन-पोषण का समय बीत जाने के बाद भी औलाद की मुहब्बत में जकड़ा रहता है। यहाँ तक कि यह मुहब्बत औलाद की औलाद तक चलती रहती है और इंसान का स्वार्थी स्वभाव भी इस मुहब्बत के असर से इतना ज़्यादा पराजित हो जाता है कि वह जो कुछ अपने लिए चाहता है, उससे कहीं ज़्यादा अपनी औलाद के लिए चाहता है, और उसके दिल में भीतर से यह उमंग पैदा होती है कि संभावना की अंतिम सीमा तक औलाद के लिए बेहतर-से-बेहतर जीवन-साधन जुटाए और अपनी मेहनतों के फल उनके लिए छोड़ जाए। इस तीव्र प्रेम-भावना के पैदा करने से प्रकृति का मक़सद सिर्फ़ यही हो सकता है कि औरत और मर्द के लैंगिक सम्बन्ध को एक स्थायी सम्बन्ध में बदल दे। फिर उस स्थायी सम्बन्ध को एक ख़ानदान के गठन का साधन बनाए। फिर ख़ूनी रिश्तों से मुहब्बत का सिलसिला बहुत-से ख़ानदानों को ससुराली रिश्तों से आपस में बाँधता चला जाए। फिर मुहब्बतों और महबूबों का मेल उनके बीच सहयोग और सहानुभूति का सम्बन्ध पैदा कर दे और इस तरह एक समाज और एक सांस्कृतिक व्यवस्था अस्तित्व में आ जाए।

संस्कृति की बुनियादी समस्या

इससे मालूम हुआ कि यह यौनाकर्षण जो इंसानी जिस्म की नस-नस और

उसके दिल व आत्मा के कोने-कोने में रखा गया है और जिसकी मदद के लिए बड़े विस्तृत पैमाने पर विश्व के चप्पे-चप्पे में साधन और प्रेरणाएँ जुटाई गई हैं, इसका मक़सद मनुष्य की वैयक्तिकता को सामाजिकता की ओर अग्रसर करना है। प्रकृति ने इस रुझान को इंसानी संस्कृति की अस्ल प्रेरक-शक्ति बनाया है। इस रुझान व आकर्षण के ज़रीए इंसान की दो जातियों (औरत और मर्द) में लगाव और सम्बन्ध पैदा होता है और फिर इस लगाव और सम्बन्ध से सामाजिक ज़िंदगी की शुरुआत होती है।

जब यह बात साबित हो गई तो यह बात भी स्वतः स्पष्ट हो गई कि औरत-मर्द के ताल्लुक़ का मसला असल में संस्कृति का बुनियादी मसला है और इसी के सही या ग़लत हल पर संस्कृति का सुधार या बिगाड़, उसकी तरक़्क़ी या गिरावट और उसकी मज़बूती या कमज़ोरी निर्भर करती है। मानव-जाति के इन दोनों हिस्सों में एक ताल्लुक़ हैवानी (या दूसरे शब्दों में ख़ालिस वासनाओं से भरा हुआ) है, जिसका मक़सद इंसानी नस्ल को बाक़ी रखने के अलावा और कुछ नहीं, और दूसरा ताल्लुक़ इंसानी है, जिसका मक़सद यह है कि दोनों मिलकर संयुक्त उद्देश्यों के लिए अपनी-अपनी क्षमताओं और अपनी-अपनी प्राकृतिक योग्यताओं के मुताबिक़ सहयोग करें। इस सहयोग के लिए उनका लैंगिक प्रेम एक संयोजक माध्यम के रूप में काम देता है और वे हैवानी तथा इंसानी तत्त्व, दोनों मिलकर एक ही वक़्त में उनसे संस्कृति का कारोबार चलाने की सेवा भी लेते हैं और इस कारोबार को जारी रखने के लिए अतिरिक्त व्यक्तियों को उपलब्ध करने की सेवा भी। संस्कृति का बनाव व बिगाड़ इस बात पर निर्भर है कि इन दोनों तत्त्वों का मेल बिलकुल ठीक और संतुलित हो।

अच्छी संस्कृति के आवश्यक तत्त्व

आइए, अब हम इस मामले का विश्लेषण करके यह मालूम करें कि अच्छी संस्कृति के लिए औरत और मर्द के हैवानी और इंसानी ताल्लुक़ में संतुलित और जंचे-तुले मेल की शक्ल क्या है और इस मेल पर असन्तुलन की किन-किन शक्लों के पैदा होने से संस्कृति में बिगाड़ पैदा हो जाता है।

1. लैंगिक आकर्षण का संतुलन

सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रमुख सवाल ख़ुद उस यौनाकर्षण और रुझान का है कि उसे किस तरह क़ाबू में रखा जाए। ऊपर बयान किया जा चुका है कि इंसान के भीतर यह रुझान व आकर्षण तमाम जानदारों से ज़्यादा ताक़तवर है। न सिर्फ़ यह कि इंसानी जिस्म के भीतर यौन-उत्तेजना पैदा करनेवाली ताक़तें ज़्यादा तेज़ हैं, बल्कि बाहर भी इस फैली हुई कायनात में हर ओर अनगिनत वासना-उत्प्रेरक चीज़ें फैली हुई हैं। यह चीज़ जिसके लिए प्रकृति ने ख़ुद ही इतने इन्तिज़ाम कर रखे हैं, अगर इंसान भी अपनी तवज्जोह और अन्वेषण-शक्ति से काम लेकर उसको बढ़ाने और तरक़्क़ी देने के साधन जुटाने लगे और रहन-सहन के ऐसे ढंग अपनाए जिसमें उसकी वासना की प्यास बढ़ती चली जाए और फिर उस प्यास को बुझाने की आसानियाँ भी पैदा की जाती रहें, तो ज़ाहिर है कि इस स्थिति में यह वांछित सीमा से बहुत ज़्यादा आगे बढ़ जाएगी। इंसान की हैवानी प्रवृत्ति उसकी इंसानी प्रवृत्ति पर पूरी तरह प्रभावी हो जाएगी और यह हैवानियत उसकी इंसानियत और उसकी संस्कृति दोनों को खा जाएगी।

यौन-सम्बन्ध और उसके मूल उत्प्रेरकों में से एक-एक चीज़ को प्रकृति ने आनन्दमय बनाया है। परन्तु जैसा कि हम पहले इशारा कर चुके हैं, प्रकृति ने यह आनन्द और सुख की चाट सिर्फ़ अपने मक़सद यानी संस्कृति के निर्माण के लिए लगाई है। इस चाट का हद से बढ़ जाना और उसी में इंसान का लिप्त हो जाना न सिर्फ़ संस्कृति, बल्कि ख़ुद इंसान की भी तबाही और बिगाड़ का कारण हो सकता है, हो रहा है और बहुत बार हो चुका है। जो क़ौमें तबाह हो चुकी हैं उनके अवशेष और उनके इतिहास को देखिए, काम-वासना उनमें हद से आगे बढ़ चुकी थी। उनके लिट्रेचर (साहित्य) इसी क़िस्म के यौन-उत्तेजक लेखों से भरे पाए जाते हैं। उनके विचार, उनकी कथाएँ, उनकी कविताएँ, उनकी चित्रकारी, उनकी प्रतिमाएँ, उनके इबादतख़ाने और उनके महल, सब के सब इसपर गवाह हैं।

जो क़ौमें अब तबाही की ओर जा रही हैं, उनके हालात भी देख लीजिए।

वे अपनी वासनाओं को आर्ट, ललित साहित्य और सौन्दर्य प्रियता और ऐसे कितने ही सुन्दर नाम दे लें, मगर नाम बदल जाने से हक़ीक़त नहीं बदला करती। यह क्या चीज़ है कि समाज में औरत को औरतों से ज़्यादा मर्द की संगति और मर्द को मर्द से ज़्यादा औरतों का साथ पसन्द है? यह क्यों है कि औरतों और मर्दों में साज-सज्जा और बनने-सँवरने की रुचि बढ़ती चली जा रही है? इसकी क्या वजह है कि (मर्दों और औरतों की) मिली-जुली सोसाइटी में औरत का जिस्म लिबास से बाहर निकला पड़ता है? वह कौन-सी चीज़ है जिसकी वजह से औरत अपने जिस्म के एक-एक हिस्से को खोल-खोलकर पेश कर रही है और मर्दों की ओर से 'कुछ और' का तक़ाज़ा है? इसकी क्या वजह है कि नंगी तस्वीरें, नंगी प्रतिमाएं और नंगे नाच सबसे ज़्यादा पसन्द किए जाते हैं? इसकी क्या वजह है कि सिनेमा में उस वक़्त तक मज़ा ही नहीं आता, जब तक इश्क़ व मुहब्बत की चाशनी न हो और उसपर यौनाचार व यौन-सम्बन्ध की बहुत-सी बातें और क्रियाएँ बढ़ा न दी जाएँ?

ये और ऐसे ही बहुत-से दृश्य अगर काम-वासना नहीं ज़ाहिर करते, तो क्या ज़ाहिर करते हैं? जिस संस्कृति में ऐसा असंतुलित कामुक वातावरण पैदा हो जाए, उसका अंजाम तबाही के सिवा और क्या हो सकता है?

ऐसे माहौल में यौनाकर्षण की तीव्रता और अनवरत उत्तेजना और लगातार प्रेरणा की वजह से ज़रूरी है कि नस्लें कमज़ोर हो जाएँ, शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास रुक जाए, सोच और विचार में गन्दगी आ जाए,[1] बेहयाई बढ़ जाए, गुप्त रोगों की वबाएँ फैलें, गर्भनिरोधक, गर्भपात और

---

1. एक डॉक्टर लिखता है, "बालिग़ होने का आरंभिक ज़माना बड़ी अहम तब्दीलियों के साथ आता है। मन और देह के बहुत-से कामों में उस वक़्त एक इनक़िलाबी स्थिति पैदा हो जाती है और तमाम हैसियतों से सधारण विकास होता है। आदमी को उस वक़्त इन तब्दीलियों के सहन करने और इस विकास को हासिल करने के लिए अपनी तमाम शक्ति की ज़रूरत होती है। इसी वजह से बीमारियों के मुक़ाबले की ताक़त उस ज़माने में आदमी के भीतर बहुत कम होती है। साधारण विकास एवं प्रगति, अंगों की तरक़्क़ी और मन व देह की तब्दीलियों का यह लम्बा अमल, जिसके बाद आदमी बच्चे से जवान बनता है, एक ऐसा थका देनेवाला अमल है जिसके दौरान में तबियत अनथक

भ्रूण-हत्या जैसे आन्दोलन अस्तित्व में आएँ। मर्द और औरत जानवरों की तरह मिलने लगें, बल्कि प्रकृति ने उनके भीतर जो यौन-भावना तमाम जानदारों से बढ़कर रखी है उसको वे प्रकृति के मक़सद के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करें और अपनी हैवानियत में तमाम हैवानों से बाज़ी ले जाएँ। यहाँ तक कि बन्दरों और बकरों को भी मात कर दें। निश्चय ही ऐसी घोर हैवानियत इंसानी संस्कृति और सभ्यता, बल्कि ख़ुद मानवता को भी तबाह कर देगी, और जो लोग इसके शिकार होंगे उनकी नैतिक गिरावट उनको ऐसी पस्ती में गिराएगी जहाँ से वे फिर कभी न उठ सकेंगे।

ऐसा ही अंजाम उस संस्कृति का भी होगा जो दूसरी इन्तिहा (Extreme) अपनाएगी। जिस तरह यौनाकर्षण का सन्तुलित सीमा से बाहर निकल जाना हानिकारक है, उसी तरह उसको हद से ज़्यादा दबाना और कुचल देना भी हानिकारक है। जो सांस्कृतिक व्यवस्था इंसान को संन्यास और ब्रह्मचर्य की ओर ले जाना चाहती है, वह प्रकृति से लड़ती है और प्रकृति अपने विरोधी से कभी पराजित नहीं होती, बल्कि ख़ुद उसी को तोड़कर रख देती है। विशुद्ध संन्यास और संसार-त्याग का विचार तो ज़ाहिर है कि किसी संस्कृति की बुनियाद बन ही नहीं सकता, क्योंकि असल में तो वह संस्कृति और सभ्यता का ही इंकार है। हाँ, संन्यास की धारणाओं को दिलों में बिठाकर सांस्कृतिक-व्यवस्था में एक ऐसा अयौनिक माहौल ज़रूर पैदा किया जा सकता है जिसमें

संघर्ष में व्यस्त होती है। इस हालत में उसपर कोई असाधारण बोझ डालना जायज़ नहीं। ख़ास तौर से यौन-व्यवहार और वासनात्मक उत्तेजना तो उसके लिए घातक हैं।''

साइक्लोजी (मनोविज्ञान) का मशहूर जर्मन विद्वान लिखता है, ''यौन अंगों का ताल्लुक़ चूंकि लज़्ज़त और जोश की ग़ैर-मामूली उत्तेजनाओं के साथ है, इस वजह से ये अंग हमारी मानसिक ताक़तों में से एक बड़ा हिस्सा अपनी ओर आकर्षित कर लेने या दूसरे शब्दों में उनपर डाका मार देने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। अगर इन्हें प्रभुत्व और विजय प्राप्त हो जाए तो यह आदमी को संस्कृति की सेवा के बजाए वैयक्तिक लज़्ज़त हासिल करने में लगा दें। यह ताक़तवर पोज़ीशन जो उनको इंसानी जिस्म में हासिल है, आदमी की वासनात्मक ज़िंदगी को ज़रा-सी ग़फ़लत में सन्तुलित हालत से असन्तुलन की ओर ले जाकर हितकर से घातक बना सकती है। शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह होना चाहिए कि इस ख़तरे की रोकथाम की जाए।''

यौन-सम्बन्ध को अपने आप में एक नीच, घृणायोग्य और घिनौनी चीज़ समझा जाए। इससे परहेज़ करने को नैतिकता का आदर्श समझा जाए और हर मुमकिन तरीक़े से इस आकर्षण को दबाने की कोशिश की जाए। परन्तु यौनाकर्षण का दबना असल में इंसानियत का दबना है, वह अकेला नहीं दबेगा, बल्कि अपने साथ इंसान की बुद्धिमत्ता, कार्य-शक्ति, बौद्धिक क्षमता, हौसला और हिम्मत व बहादुरी सबको लेकर दब जाएगा। उसके दबने से इंसान की सारी शक्तियाँ ठिठुरकर रह जाएँगी। उसका ख़ून ठंडा होकर और जमकर रह जाएगा। उसमें उभरने की कोई योग्यता बाक़ी न रहेगी। क्योंकि इंसान की सबसे बड़ी उत्प्रेरक शक्ति यही यौन-शक्ति है।

अतः यौनाकर्षण को दोनों इंतिहाओं से रोककर बीच की और सन्तुलन की हालत पर लाना और उसे एक मुनासिब क़ानून और ज़ाब्ते से बांधना एक अच्छी संस्कृति की पहली ज़िम्मेदारी है। सामूहिक ज़िंदगी की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि वह एक ओर असंतुलित (Abnormal) उत्तेजना के उन सारे साधनों को रोक दे जिनको इंसान ख़ुद अपने इरादे और अपनी लज़्ज़तपरस्ती से पैदा करता है और दूसरी ओर फ़ितरी (Normal) उत्तेजनाओं की पूर्ति और तृप्ति के लिए ऐसा रास्ता खोल दे जो ख़ुद प्रकृति की मंशा के मुताबिक़ हो।

2. परिवार की स्थापना

अब यह सवाल स्वतः ज़ेहन में पैदा होता है कि प्रकृति की मंशा क्या है? क्या इस मामले में हमको बिल्कुल अंधेरे में छोड़ दिया गया है कि आँखें बन्द करके हम जिस चीज़ पर चाहें हाथ रख दें और वही प्रकृति की मंशा क़रार पा जाए? या प्रकृति के लक्षणों पर विचार करने से हम प्रकृति की मंशा तक पहुँच सकते हैं? शायद बहुत-से लोग पहली ही बात के क़ायल हैं और इसी लिए वे प्रकृति के लक्षणों पर नज़र किए बग़ैर ही जिस चीज़ को चाहते हैं, प्रकृति की मंशा कह देते हैं। लेकिन एक अन्वेषक जब वास्तविकता की खोज के लिए निकलता है तो कुछ ही क़दम चलकर उसे यूँ मालूम होने लगता है जैसे प्रकृति आप ही अपनी मंशा की ओर साफ़ उँगली उठाकर इशारा कर रही है।

यह तो मालूम है कि तमाम जानदारों की तरह इंसान को भी जोड़ा बनाने

और उनके — औरतों और मर्दों के — दर्मियान यौनाकर्षण पैदा करने से प्रकृति का प्राथमिक उद्देश्य नस्ल का बाक़ी रखना है। लेकिन इंसान से प्रकृति की माँग इतनी ही नहीं है, बल्कि वह इससे भी बढ़कर कुछ दूसरी माँगें भी उससे करती है और थोड़ी-सी कोशिश से हमें मालूम हो सकता है कि वे माँगें क्या हैं और किस प्रकार की हैं ?

सबसे पहले जिस चीज़ पर हमारी नज़र पड़ती है, वह यह है कि तमाम जानदारों के विपरीत, इंसान का बच्चा देखभाल और परवरिश के लिए बहुत ज़्यादा वक़्त, मेहनत और तवज्जोह माँगता है। अगर उसको सिर्फ़ एक हैवान की हैसियत ही से ले लिया जाए, तब भी हम देखते हैं कि एक हैवान की हैसियत से अपनी ज़रूरत पूरी करने, यानी खाना हासिल करने और अपनी जान की प्रतिरक्षा करने के क़ाबिल होते-होते वह कई साल ले लेता है और आरंभिक दो-तीन साल तक तो वह इतना बेबस होता है कि माँ की लगातार तवज्जोह के बग़ैर वह ज़िंदा ही नहीं रह सकता।

लेकिन यह ज़ाहिर है कि इंसान चाहे असभ्यता के कितने ही आरंभिक चरण में हो, बहरहाल निरा हैवान नहीं है। किसी न किसी स्तर की संस्कृति का होना बहरहाल उसकी ज़िंदगी के लिए ज़रूरी है, और इस संस्कृति के कारण औलाद की परवरिश के स्वाभाविक तक़ाज़े पर दो और तक़ाज़ों की वृद्धि ज़रूरी हो जाती है। एक यह कि बच्चे की परवरिश में संस्कृति के उन तमाम साधनों से काम लिया जाए जो उसके पालनेवाले को उपलब्ध हो सकें। दूसरे यह कि बच्चे को ऐसा प्रशिक्षण दिया जाए कि जिस सांस्कृतिक माहौल में वह पैदा हुआ है, वहाँ संस्कृति के कारख़ाने को चलाने और पिछले चलानेवालों की जगह लेने के लिए वह तैयार हो सके।

फिर संस्कृति जितना अधिक विकसित और ऊँचे दर्जे की होती जाती है, ये दोनों तक़ाज़े भी उतने ही ज़्यादा भारी और बोझल होते चले जाते हैं। एक ओर औलाद पालने के ज़रूरी साधन बढ़ते जाते हैं और दूसरी ओर संस्कृति न सिर्फ़ अपने को ज़िंदा रखने के लिए अपने स्तर के अनुकूल अच्छे शिक्षित और दीक्षित कार्यकर्ता माँगती है, बल्कि अपने विकास के लिए यह माँग भी करती है कि हर नस्ल पहली नस्ल से बेहतर उठे, यानी दूसरे शब्दों में हर बच्चे का

निगहबान (संरक्षक) उसको ख़ुद अपने आप से बेहतर बनाने की कोशिश करे। यह उच्चतम कोटि का एक ऐसा त्याग है जो इंसान से उसके अपने आप को प्राथमिकता देने की भावना तक की क़ुर्बानी माँगता है।

ये हैं इंसानी प्रकृति की माँगें और ये माँगें प्रथमत: औरत ही को सम्बोधित कर रही हैं। मर्द एक क्षण के लिए औरत से मिलकर हमेशा के लिए उससे और उस मुलाक़ात की ज़िम्मेदारी से अलग हो सकता है, लेकिन औरत को तो इस मुलाक़ात का क़ुदरती नतीजा वर्षों के लिए बल्कि उम्र भर के लिए पकड़कर बैठ जाता है। गर्भ धारण करने के बाद से कम से कम पाँच वर्ष तक तो यह नतीजा उसका पीछा किसी तरह छोड़ता ही नहीं और अगर संस्कृति की सारी माँगें पूरी करनी हों तो इसका मतलब यह है कि अगले पंद्रह साल तक वह औरत, जिसने एक लम्हे के लिए मर्द के साथ शारीरिक सम्बन्ध का आनन्द लिया था, उसकी ज़िम्मेदारियों का बोझ संभालती रहे। सवाल यह है कि एक संयुक्त कर्म की ज़िम्मेदारी क़बूल करने के लिए अकेला एक पक्ष किस तरह तैयार हो सकता है? जब तक औरत को अपने सहकर्मी व्यक्ति की बेवफ़ाई के डर से छुटकारा न मिले, जब तक उसे अपने बच्चे की परवरिश का पूरा इत्मीनान न हो जाए, जब तक उसे ख़ुद अपनी ज़िंदगी की ज़रूरतों के साधन जुटाने के काम से भी बड़ी हद तक आज़ाद न कर दिया जाए, वह इतने भारी काम का बोझ उठाने पर कैसे तैयार हो जाएगी? जिस औरत का कोई संरक्षक (Protector, Provider) न हो, उसके लिए तो गर्भ यक़ीनन एक दुर्घटना, एक मुसीबत, बल्कि एक ख़तरनाक बला है, जिससे छुटकारा पाने की ख़्वाहिश उसमें फ़ितरी तौर पर पैदा होनी ही चाहिए। आख़िर वह उसका किस तरह स्वागत कर सकती है?

यक़ीनी तौर पर यह ज़रूरी है — अगर नस्ल का बाक़ी रखना और संस्कृति का क़ायम रहना तथा उन्नति करना ज़रूरी है — कि जो मर्द जिस औरत को गर्भाधान कराए, वही इस बोझ को संभालने में उसका सहभागी भी हो, परन्तु इस सहभागिता पर उसे राज़ी कैसे किया जाए? वह तो फ़ितरी तौर पर स्वार्थी है जहाँ तक नस्ल को बाक़ी रखने की फ़ितरी ज़िम्मेदारी का ताल्लुक़ है, उसके हिस्से का काम तो उसी लम्हे पूरा हो जाता है जब कि वह औरत को

गर्भवती बना देता है। इसके बाद वह बोझ अकेली औरत के साथ लगा रहता है और मर्द उससे आज़ाद ही रहता है। जहाँ तक यौनाकर्षण का ताल्लुक़ है, वह भी उसे मजबूर नहीं करता कि उसी औरत के साथ जुड़ा रहे। वह चाहे तो उसे छोड़कर दूसरी और दूसरी को छोड़कर तीसरी से ताल्लुक़ पैदा कर सकता है और हर ज़मीन में बीज फेंकता फिर सकता है। इसलिए अगर यह मामला सिर्फ़ उसकी मर्ज़ी पर छोड़ दिया जाए तो कोई वजह नहीं कि वह ख़ुशी के साथ इस भार को संभालने के लिए तैयार हो जाए। आख़िर कौन-सी चीज़ उसे मजबूर करनेवाली है कि वह अपनी मेहनतों का फल उस औरत और उस बच्चे पर ख़र्च करे? क्यों वह एक दूसरी सुंदर युवती को छोड़कर उस पेट फूली औरत से अपना दिल लगाए रखे? क्यों वह हाड़-मांस के एक बेकार लोथड़े को चाहे-अनचाहे अपने ख़र्च पर पाले? क्यों उसकी चीख़ों से अपनी नींद हराम करे? क्यों इस छोटे-से शैतान के हाथों अपना नुक़सान कराए, जो हर चीज़ को तोड़ता-फोड़ता और घर भर में गन्दगी फैलाता फिरता है और किसी की सुनकर नहीं देता?

प्रकृति ने किसी हद तक इस मसले के हल पर ख़ुद भी ध्यान दिया है। उसने औरत में हुस्न, मिठास, मन लुभाने की ताक़त और मुहब्बत के लिए त्याग और बलिदान की क्षमता पैदा की है, ताकि इन हथियारों से मर्द की स्वार्थ भरी वैयक्तिकता पर विजय प्राप्त कर सके और उसे अपना क़ैदी बना ले। उसने बच्चे के अन्दर भी मोह लेने की एक अनोखी ताक़त भर दी है, ताकि वह अपनी कष्टदायक, विनाशकारी और नटखटपन की विशेषता के बावुजूद माँ-बाप को अपनी मुहब्बत के जाल में गिरफ़्तार रखे। लेकिन सिर्फ़ यही चीज़ें ऐसी नहीं हैं कि अपने आप में उनका ज़ोर इंसान को अपने नैतिक, प्राकृतिक और सांस्कृतिक ज़िम्मेदारियों को अदा करने के लिए वर्षों नुक़सान, तकलीफ़ और क़ुरबानी सहन करने पर मजबूर कर सके। आख़िर इंसान के साथ उसका वह हमेशा का दुश्मन शैतान भी तो लगा हुआ है जो उसे स्वाभाविक रास्ते से हटाने की हर वक़्त कोशिश करता रहता है, जिसकी मक्कारी के थैले में हर ज़माने और हर नस्ल के लोगों को बहकाने के लिए तरह-तरह की दलीलों और प्रेरणाओं का अनंत ख़ज़ाना भरा हुआ है।

यह धर्म का चमत्कार है कि वह इंसान को — मर्द और औरत दोनों को — नस्ल और संस्कृति के लिए क़ुरबानी पर तैयार करता है, और इस स्वार्थी जानवर को आदमी बनाकर त्याग के लिए तैयार कर देता है। वे ख़ुदा के भेजे हुए पैग़म्बर ही थे जिन्होंनें प्रकृति की मंशा को ठीक-ठीक समझकर औरत और मर्द के दर्मियान ताल्लुक़ और सांस्कृतिक सहयोग की सही शक्ल, विवाह (विवाह) निर्धारित की। उन्हीं की तालीम व हिदायत से दुनिया की हर क़ौम और धरती के कोने-कोने में विवाह का तरीक़ा जारी हुआ। उन्हीं के फैलाए हुए अख़लाक़ी उसूलों से इंसान के अन्दर इतनी रूहानी सलाहियत पैदा हुई कि वह इस सेवा की तकलीफ़ें और नुक़्सान सहे। वरना सच यह है कि माँ और बाप से ज़्यादा बच्चे का दुश्मन और कोई नहीं हो सकता था। उन्हीं पैग़म्बरों के क़ायम किए हुए सामाजिक नियमों से पारिवारिक व्यवस्था की नींव पड़ी, जिसकी मज़बूत पकड़ लड़कों और लड़कियों को इस ज़िम्मेदाराना ताल्लुक़ और सहकारिता पर मजबूर करती है, वरना जवानी के हैवानी तक़ाज़ों का ज़ोर इतना सख़्त होता है कि सिर्फ़ नैतिक ज़िम्मेदारी का एहसास किसी बाहरी अनुशासन के बग़ैर उनको स्वच्छन्द कामुकता से न रोक सकता था। वासना की भावना अपने आप में समाज-विरोधी (Anti-Social) है। यह स्वार्थ, व्यक्तिवाद और अराजकता (Anarchy) का रुझान रखनेवाली भावना है। इसमें स्थिरता नहीं, इसमें ज़िम्मेदारी का एहसास नहीं, यह सिर्फ़ क्षणिक आनंद पाने के लिए उभारती है। इस राक्षस को क़ाबू में करके इससे सामाजिक ज़िंदगी की — उस ज़िंदगी की जो सब्र, अडिगता, मेहनत, क़ुरबानी, ज़िम्मेदारी और निरंतर परिश्रम चाहती है — ख़िदमत लेना कोई आसान काम नहीं। वह विवाह का क़ानून और ख़ानदान की व्यवस्था ही है जो इस दैत्य को शीशे में उतारकर उससे शरारत और अव्यवस्था की एजेंसी छीन लेती है और उसे मर्द और औरत के उस स्थायी सहयोग एवं सहकारिता का एजेंट बना देती है जो सामूहिक जीवन के निर्माण के लिए ज़रूरी है। यह न हो तो इंसान का सांस्कृतिक जीवन ख़त्म हो जाए, इंसान हैवान की तरह रहने लगे और आख़िरकार इंसानी नस्ल का अस्तित्व समाप्त हो जाए।

अतः यौनाकर्षण को अराजकता और असन्तुलन से रोककर उसकी

स्वाभाविक माँगों की तृप्ति और पूर्ति के लिए जो रास्ता ख़ुद प्रकृति खोलना चाहती है, वह सिर्फ़ यही है कि औरत और मर्द के दर्मियान विवाह की शक्ल में स्थायी लगाव और ताल्लुक़ हो और इस लगाव से ख़ानदान की व्यवस्था की बुनियाद पड़े। संस्कृति के विस्तृत कारख़ाने को चलाने के लिए जिन पुर्ज़ों की ज़रूरत है, वे ख़ानदान की इसी छोटी कर्मशाला में तैयार किए जाते हैं। यहाँ लड़कों और लड़कियों के जवान होते ही कर्मशाला के व्यवस्थापकों को ख़ुद ही यह चिन्ता लग जाती है कि यथासंभव उनके ऐसे जोड़ लगाएँ जो एक-दूसरे के लिए ज़्यादा मुनासिब हों, ताकि उनके मिलाप से ज़्यादा से ज़्यादा बेहतर नस्ल पैदा हो सके। फिर उनसे जो नस्ल निकलती है, उस कर्मशाला का हर कार्यकर्त्ता अपने दिल के सच्चे जज़्बे से कोशिश करता है कि उसको जितना बेहतर बना सकता हो, बनाए। ज़मीन पर अपनी ज़िंदगी का पहला क्षण शुरू करते ही बच्चे को परिवार के दायरे में मुहब्बत, ख़बरगीरी, हिफ़ाज़त और तर्बियत का वह माहौल मिलता है जो उसके विकास के लिए जीवनदायी रस जैसा है। हक़ीक़त में ख़ानदान ही में बच्चे को ऐसे लोग मिल सकते हैं जो उससे न सिर्फ़ मुहब्बत करने वाले हों, बल्कि जो अपने दिल की उमंग से यह चाहते हों कि बच्चा जिस स्तर पर पैदा हुआ है, उससे ऊँचे स्तर पर पहुँचे।

दुनिया में सिर्फ़ माँ और बाप ही के भीतर यह भावना पैदा हो सकती है कि वे अपने बच्चे को हर लिहाज़ से ख़ुद अपने-से बेहतर हालत में और अपने से बढ़ा हुआ देखें। इस तरह वे बिना इरादे के ही, अनजाने तौर पर अगली नस्ल को मौजूदा नस्ल से बेहतर बनाने और इंसानी तरक़्क़ी का मार्ग प्रशस्त करने की कोशिश करते हैं। उनकी इस कोशिश में स्वार्थपरता की परछाई तक नहीं होती। वे अपने लिए कुछ नहीं चाहते, वे बस अपने बच्चे का हित चाहते हैं और उसके एक कामियाब और अच्छे इंसान बनकर उठने ही को अपनी मेहनत का भरपूर बदला समझते हैं। ऐसे निष्ठावान कार्यकर्ता (Labourers) और ऐसे निस्स्वार्थ सेवक (Workers) ख़ानदान के इस कारख़ाने के बाहर कहाँ मिलेंगे जो इंसानी नस्ल की बेहतरी के लिए न सिर्फ़ बिना मुआवज़ा मेहनत करें, बल्कि अपना वक़्त, अपना आराम, अपनी ताक़त व क़ाबिलियत और अपनी मेहनत की कमाई, सब कुछ इस सेवा में लगा दें? जो उस चीज़ पर अपनी हर क़ीमती

चीज़ क़ुरबान करने के लिए तैयार हों जिसका फल दूसरे खानेवाले हैं? जो अपनी मेहनतों का बदला सिर्फ़ इसे समझें कि दूसरों के लिए उन्होंने बेहतर कार्यकर्त्ता और सेवक उपलब्ध करा दिए? क्या इससे ज़्यादा पवित्र और महान संस्था इंसानियत में कोई दूसरी भी है?

हर साल इंसानी नस्ल को अपने अस्तित्व को बाक़ी रखने के लिए और इंसानी संस्कृति को अपने अनुक्रम और विकास के लिए ऐसे लाखों और करोड़ों जोड़ों की ज़रूरत है जो अपनी ख़ुशी से अपने आपको इस सेवा और इसकी ज़िम्मेदारियों के लिए पेश करें और विवाह करके इस क़िस्म के और कारख़ानों की बुनियाद डालें। यह शानदार कारख़ाना जो दुनिया में चल रहा है, इसी तरह चल और बढ़ सकता है कि इस क़िस्म के सेवक बराबर सेवा के लिए उठते रहें और इस कारख़ाने के लिए काम के आदमी जुटाते रहें। अगर नई भर्ती न हो और क़ुदरती कारणों से पुराने कार्यकर्ता बेकार होकर हटते जाएँ तो काम के आदमी कम से कमतर होते चले जाएँगे और एक दिन ज़िंदगी का यह बाजा बे-राग होकर रह जाएगा। हर आदमी जो इस संस्कृति की मशीन को चला रहा है, उसका कर्त्तव्य सिर्फ़ यही नहीं है कि अपने जीते जी उसको चलाए जाए, बल्कि यह भी है कि अपनी जगह लेने के लिए अपने ही जैसे लोगों को तैयार करने की कोशिश करे।

इस लिहाज़ से अगर देखा जाए तो विवाह की हैसियत सिर्फ़ यही नहीं है कि वह यौन-भावनाओं की तुष्टि व तृप्ति के लिए एक ही जायज़ शक्ल है, बल्कि असूल में यह एक सामूहिक दायित्व है। यह व्यक्ति पर समूह का स्वाभाविक हक़ है और व्यक्ति को इस बात का अधिकार हरगिज़ नहीं दिया जा सकता कि वह विवाह करने या न करने का फ़ैसला ख़ुद अपने लिए सुरक्षित रखे। जो लोग बिना किसी उचित कारण के विवाह से इंकार करते हैं, वे समूह के निकम्मे व्यक्ति (Parasites) बल्कि ग़द्दार और लुटेरे हैं। हर व्यक्ति जो धरती पर पैदा हुआ है, उसने ज़िंदगी की पहली साँस लेने के बाद से जवानी की उम्र को पहुँचने तक इस असीम पूँजी से फ़ायदा उठाया है जो पिछली नस्लों ने जुटाई थी। उनकी क़ायम की हुई पारिवारिक व सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से ही उसको ज़िंदा रहने, बढ़ने, फलने-फूलने और पलने-बढ़ने और आदमियत

में विकसित होने का मौक़ा मिला। इस बीच वह लेता ही रहा, उसने दिया कुछ नहीं। समूह ने इस उम्मीद पर उसकी अधूरी ताक़तों को पूरा कराने में अपनी पूँजी और अपनी ताक़त लगाई कि जब वह ख़ुद कुछ देने के क़ाबिल होगा तो देगा। अब अगर वह बड़ा होकर अपने लिए निजी आज़ादी और ख़ुद-मुख़्तारी की माँग करता है और कहता है कि मैं सिर्फ़ अपनी ख़ाहिशें पूरी करूँगा, पर इन ज़िम्मेदारियों और इन फ़र्ज़ों का बोझ न उठाऊँगा जो इन ख़ाहिशों से जुड़ी हुई हैं, तो असल में वह समूह के साथ ग़द्दारी और धोखेबाज़ी करता है। उसकी ज़िंदगी का हर क्षण एक ज़ुल्म और अन्याय है। समूह में अगर चेतना मौजूद हो तो वह इस मुजरिम को जेन्टलमैन या प्रतिष्ठित लेडी या मुक़द्दस बुज़ुर्ग समझने के बजाए इस नज़र से देखे जिससे वह चोरों, डाकुओं और जालसाज़ों को देखती है। हमने ख़ुद चाहा हो या न चाहा हो, बहरहाल हम उस तमाम पूँजी और ख़ज़ाने के वारिस हुए हैं जो हमसे पहले की नस्लों ने छोड़ा है। अब हम इस फ़ैसले में आज़ाद कैसे हो सकते हैं कि जिस स्वाभाविक क़ानून के मुताबिक़ यह धरोहर हम तक पहुँची है, उसकी माँगों और लक्ष्य को पूरा करें या न करें ? ऐसी नस्ल तैयार करें या न करें, जो इंसानी नस्ल की इस पूँजी और ख़ज़ाने की वारिस हो ? उसे सँभालने के लिए दूसरे आदमी उसी तरह तैयार करें या न करें जिस तरह हम ख़ुद तैयार किए गए हैं ?

3. यौन-अनाचार पर रोक

विवाह और ख़ानदान के निर्माण के साथ-साथ यह भी ज़रूरी है कि विवाह के दायरे से बाहर वासनात्मक इच्छाएँ पूरी करने का दरवाज़ा सख़्ती के साथ बन्द किया जाए। क्योंकि इसके बग़ैर प्रकृति का वह लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता जिसके लिए वह विवाह और ख़ानदान के निर्माण का तक़ाज़ा करती है।

पुरानी जाहिलियत की तरह इस नई जाहिलियत के दौर में भी अधिकतर लोग व्यभिचार को एक प्राकृतिक काम समझते हैं और विवाह उनके नज़दीक सिर्फ़ संस्कृति की ईजाद की हुई वस्तु या अतिरिक्त चीज़ों में से एक चीज़ है। उनका ख़याल यह है कि प्रकृति ने जिस तरह हर बकरी को हर बकरे के लिए और हर कुतिया को हर कुत्ते के लिए पैदा किया है, उसी तरह हर औरत को भी

हर मर्द के लिए पैदा किया है और स्वाभाविक तरीक़ा यही है कि जब ख़ाहिश हो, जब मौक़ा मिल जाए और जब दोनों लिंगों में से कोई भी दो व्यक्ति आपस में राज़ी हों, तो उनके दर्मियान उसी तरह वासना पूरी कर ली जाए जिस तरह जानवरों में हो जाती है। लेकिन हकीक़त यह है कि यह इंसानी प्रकृति के बारे में बिल्कुल ग़लत सोच है। इन लोगों ने इंसान को सिर्फ़ एक जानवर समझ लिया है[1]। इसलिए जब कभी ये लोग प्रकृति का शब्द बोलते हैं तो इससे उनका मतलब जानवरों की प्रकृति होती है, न कि मानव-प्रकृति। जिस विच्छिन्न यौन-सम्बन्ध को ये प्राकृतिक कहते हैं, वह जानवरों के लिए तो ज़रूर प्राकृतिक है, मगर इंसान के लिए हरगिज़ प्राकृतिक नहीं। वह न सिर्फ़ इंसानी प्रकृति के ख़िलाफ़ है, बल्कि अपने आख़िरी नतीजों के एतिबार से उस हैवानी प्रकृति के भी ख़िलाफ़ हो जाता है जो इंसान के अन्दर मौजूद है। इसलिए कि इंसान के अन्दर इंसानियत और हैवानियत (मानवता और पशुता) दो अलग-अलग चीज़ें नहीं हैं। अस्ल में एक अस्तित्व के अन्दर दोनों मिलकर एक ही व्यक्तित्व बनाती हैं और दोनों के तक़ाज़े आपस में एक-दूसरे के साथ इस तरह जुड़ जाते हैं कि जहाँ एक की मंशा से मुँह मोड़ा गया, दूसरी की मंशा भी अपने आप ख़त्म होकर रह जाती है।

व्यभिचार में ज़ाहिरी तौर पर आदमी को ऐसा महसूस होता है कि यह कम से कम हैवानी प्रकृति के तक़ाज़े को पूरा कर देता है। क्योंकि नस्ल बढ़ाने और बाक़ी रखने का मक़सद यौन-क्रिया से ही पूरा हो जाता है, चाहे वह विवाह के अन्दर हो या बाहर। लेकिन इससे पहले जो कुछ हम बयान कर चुके हैं, उसपर फिर एक निगाह डालकर देख लीजिए, आपको मालूम हो जाएगा कि यह काम जिस तरह इंसानी प्रकृति के मक़सद को नुक़्सान पहुँचाता है, उसी तरह हैवानी प्रकृति के मक़सद को भी नुक़्सान पहुँचाता है। इंसानी प्रकृति चाहती है कि यौन-सम्बन्ध में मज़बूती और पायदारी हो, ताकि बच्चे को माँ और बाप मिलकर पालें-पोसें और एक लम्बी मुद्दत तक मर्द न सिर्फ़ बच्चे की, बल्कि बच्चे की माँ की भी देखभाल करे। अगर मर्द को यक़ीन न हो कि बच्चा

---

1. इसी लिए 'नई जाहिलीयत' ने इंसान के लिए 'सामाजिक पशु' (Social Animal) का शब्द इस्तेमाल किया। (प्रकाशक)

उसी का है तो वह उसकी परवरिश के लिए क़ुरबानी और तकलीफ़ें सहन ही न करेगा और न यही गवारा करेगा कि वह उसके बाद उसकी छोड़ी हुई संपत्ति का वारिस हो। इसी तरह अगर औरत को यक़ीन न हो कि जो मर्द उसे गर्भवती बना रहा है, वह उसकी और उसके बच्चे के पालने-पोसने की ज़िम्मेदारी लेने को तैयार है, तो वह गर्भाधान की मुसीबत उठाने के लिए तैयार ही न होगी। अगर बच्चे की परवरिश में माँ और बाप साथ न दें तो उसकी शिक्षा-दीक्षा और उसकी नैतिक, मानसिक और आर्थिक हैसियत कभी उस स्तर पर न पहुँच सकेगी, जिससे वह इंसानी संस्कृति के लिए कोई उपयोगी कार्यकर्त्ता बन सके। ये सब इंसानी प्रकृति के तक़ाज़े हैं। और जब इन तक़ाज़ों से मुँह मोड़कर सिर्फ़ जानवरों (हैवानों) की तरह मर्द और औरत क्षणिक सम्बन्ध क़ायम करते हैं तो वे ख़ुद हैवानी प्रकृति के तक़ाज़ों (यानी औलाद बढ़ाने और नस्ल बाक़ी रखने) से भी मुँह मोड़ जाते हैं। क्योंकि उस वक़्त नस्ल को बढ़ाना उनकी नज़र में नहीं होता और नहीं हो सकता। उस वक़्त उनके दर्मियान यौन-सम्बन्ध सिर्फ़ वासना को पूरा करने और आनंद लेने के लिए होता है, जो सिरे से प्रकृति की मंशा के बिल्कुल ख़िलाफ़ है।

आधुनिक जाहिलियत के ध्वजावाहक इस पहलू को ख़ुद भी कमज़ोर पाते हैं, इसलिए वे इसपर एक और दलील सामने लाते हैं। वे कहते हैं कि अगर समूह के दो व्यक्ति आपस में मिलकर कुछ क्षण आनंद व मनोरंजन में बिता दें तो इसमें आख़िर समाज का क्या बिगड़ता है कि वह इसमें दख़ल दे ? सोसाइटी उस समय तो ज़रूर दख़ल देने का हक़ रखती है जबकि एक पक्ष दूसरे से ज़बरदस्ती करे या धोखे और फ़रेब से काम ले या किसी सामूहिक झगड़े की वजह बने, लेकिन जहाँ इनमें से कोई बात भी न हो और सिर्फ़ दो व्यक्तियों के बीच आनंद लेने का ही मामला हो तो सोसाइटी को उनके बीच में रोक बनने का क्या हक़ है ? लोगों के ऐसे प्राइवेट मामलों में भी अगर दख़ल दिया जाए तो वैयक्तिक स्वतंत्रता सिर्फ़ एक निरर्थक शब्द होकर रह जाएगी।

वैयक्तिक स्वतंत्रता की यह धारणा अठारवीं और उन्नीसवीं सदी की उन जिहालतों में से एक है जिनका अंधकार ज्ञान और शोध की पहली किरन फूटते ही ख़त्म हो जाता है। थोड़े-से सोच-विचार के बाद ही आदमी इस बात को

समझ सकता है कि जिस आज़ादी की माँग व्यक्तियों के लिए की जा रही है, उसके लिए कोई गुंजाइश सामूहिक ज़िंदगी में नहीं है। जिसे ऐसी आज़ादी चाहिए उसे जंगल में जाकर जानवरों की तरह रहना चाहिए। इंसानी समूह तो असल में ताल्लुक़ात और रिश्तों के ऐसे जाल का नाम है जिसमें हर व्यक्ति की ज़िंदगी दूसरे बहुत-से लोगों के साथ जुड़ी हुई होती है, उनपर असर डालती है और उनसे असर क़बूल करती है। इस आपसी ताल्लुक़ में इंसान के किसी काम को भी विशुद्ध वैयक्तिक और बिल्कुल निजी नहीं कहा जा सकता। किसी ऐसे वैयक्तिक काम के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता जिसका असर कुल मिलाकर पूरे समाज और समूह पर न पड़ता हो। काम के अंगों और इन्द्रियों की बात तो दूर, दिल में छिपा हुआ कोई ख़याल भी ऐसा नहीं जो हमारे अस्तित्व पर और उससे परावर्तित होकर दूसरों पर प्रभाव न डालता हो। हमारे दिल और शरीर की एक-एक हरकत के नतीजे हमसे निकलकर इतनी दूर तक पहुँचते हैं कि हमारा ज्ञान किसी तरह उन्हें अपने घेरे में ले नहीं सकता। ऐसी हालत में यह कैसे कहा जा सकता है कि एक आदमी का अपनी किसी ताक़त को इस्तेमाल करना उसके अपने व्यक्तित्व के अलावा किसी पर असर नहीं डालता, इसलिए किसी को इससे कोई वास्ता नहीं और उसे अपने मामले में पूरी आज़ादी हासिल होनी चाहिए? अगर मुझे यह आज़ादी नहीं दी जा सकती कि हाथ में लकड़ी लेकर जहाँ चाहूँ घुमाऊँ, अपने पाँवों को हरकत देकर जहाँ चाहूँ घुस जाऊँ, अपनी गाड़ी को जिस तरह चाहूँ चलाऊँ, अपने घर में जितनी गन्दगी चाहूँ, जमा कर लूँ। अगर ये और ऐसे ही अनगिनत निजी मामले सामूहिक नियमों के पाबन्द होने ज़रूरी हैं, तो आख़िर मेरी वासना की ताक़त ही अकेले इस प्रतिष्ठा का हक़दार क्यों ठहराई जाए कि उसे किसी सामूहिक नियम का पाबन्द न बनाया जाए और मुझे बिल्कुल आज़ाद छोड़ दिया जाए कि उसे जिस तरह चाहूँ इस्तेमाल करूँ?

यह कहना कि एक मर्द और एक औरत आपस में मिलकर एक छिपी हुई जगह पर सबसे अलग जो मज़ा लेते हैं उसका कोई असर सामूहिक ज़िंदगी पर नहीं पड़ता, सिर्फ़ बचकानी बात है। असल में इसका असर सिर्फ़ उस समाज ही पर नहीं पड़ता जिससे वे सीधे तौर पर सम्बंधित हैं, बल्कि पूरी इंसानियत पर

पड़ता है। और इसके प्रभाव सिर्फ़ मौजूद लोगों ही तक सीमित नहीं रहते, बल्कि अगली नस्लों पर भी पड़ते हैं। जिस सामूहिक तथा सामाजिक सम्बन्ध में पूरी इंसानियत बँधी हुई है उससे कोई व्यक्ति किसी हाल में किसी सुरक्षित जगह पर भी अलग नहीं है। बन्द कमरों में, दीवारों की हिफ़ाज़त में भी, वह उसी तरह सामूहिक जीवन से जुड़ी हुई है जिस तरह बाज़ार या महफ़िल में है। जिस वक़्त वह अकेले में अपनी प्रजनन शक्ति को एक अस्थायी और बे-नतीजा मज़ा लेने पर बर्बाद कर रहा होता है, उस वक़्त अस्ल में वह सामूहिक ज़िंदगी में अव्यवस्था फैलाने और नस्ल का हक़ मारने और समाज को अनगिनत नैतिक, भौतिक और सांस्कृतिक नुक़्सान पहुँचाने में लगा होता है। वह अपनी ख़ुदग़रज़ी से उन तमाम सामूहिक संस्थाओं पर चोट लगाता है जिनसे उसने समूह का एक व्यक्ति होने की हैसियत से फ़ायदा तो उठाया, परन्तु उनके क़ायम और बाक़ी रखने में अपना हिस्सा अदा करने से इंकार कर दिया। समूह ने म्युनिसिपैलटी से लेकर स्टेट तक, स्कूल से लेकर फ़ौज तक, कारख़ानों से लेकर वैज्ञानिक खोजों की सभाओं तक, जितनी भी संस्थाएँ बना रखी हैं, सब इसी भरोसे पर क़ायम की हैं कि हर व्यक्ति, जो उनसे फ़ायदा उठा रहा है, उनके स्थायित्व और उनकी उन्नति में अपना अपेक्षित योगदान देगा। लेकिन जब इस बेईमान ने अपनी वासना-शक्ति को इस तरह इस्तेमाल किया कि उसमें नस्ल बढ़ाने और बच्चों की तर्बियत की ज़िम्मेदारियाँ अदा करने की बिल्कुल नीयत ही न थी, तो उसने एक ही चोट में अपनी हद तक इस पूरी व्यवस्था की जड़ काट दी। उसने उस सामूहिक समझौते को तोड़ डाला जिसमें वह ठीक अपने इंसान होने की हैसियत ही से शरीक था। उसने अपने ज़िम्मे का बोझ ख़ुद उठाने के बजाए दूसरों पर सारा बोझ डालने की कोशिश की। वह कोई शरीफ़ आदमी नहीं है, बल्कि एक चोर, ख़ियानत करने वाला और लुटेरा है। उसके साथ रिआयत करना पूरी इंसानियत पर ज़ुल्म करना है।

सामूहिक ज़िंदगी में व्यक्ति का स्थान क्या है? इस चीज़ को अच्छी तरह समझ लिया जाए तो इस मामले में कोई शक बाक़ी नहीं रह सकता कि एक-एक ताक़त जो हमारे नफ़्स और जिस्म में भर दी गई है, सिर्फ़ हमारे व्यक्तित्व के लिए नहीं है, बल्कि पूरी इंसानियत के लिए हमारे पास अमानत है और हम

उसमें से हरेक के लिए पूरी इंसानियत के हक़ में जवाबदेह हैं। अगर हम ख़ुद अपनी जान को या अपनी ताक़तों में से किसी को बर्बाद करते हैं या अपनी ग़लतकारी से अपने आपको नुक़्सान पहुँचाते हैं तो हमारे इस काम की असली हैसियत यह नहीं है कि जो कुछ हमारा था उसको हमने बर्बाद किया या नुक़्सान पहुँचा दिया, बल्कि अस्ल में उसकी हैसियत यह है कि पूरी इंसानी दुनिया के लिए जो अमानत हमारे पास थी उसमें हमने ख़ियानत की और अपनी इस हरकत से पूरी इंसानियत को नुक़्सान पहुँचाया। हमारा दुनिया में मौजूद होना ख़ुद इस बात की गवाही है कि दूसरों ने ज़िम्मेदारियों और तक्लीफ़ों का बोझ उठाकर ज़िंदगी का नूर हम तक पहुँचाया, तभी हम इस दुनिया में आ सके। फिर स्टेट की संस्था ने हमारी जान की हिफ़ाज़त की, स्वास्थ्य विभाग के लोग हमारी ज़िंदगी को बचाने में लगे रहे। लाखों-करोड़ों इंसानों ने मिलकर हमारी ज़रूरतें पूरी कीं। तमाम सामूहिक संस्थाओं ने मिलकर हमारी ताक़तों को सँवारने और तर्बियत देने की कोशिश की और हमें वह कुछ बनाया जो हम हैं। क्या इन सबका यह जायज़ बदला और इंसाफ़ होगा कि जिस जान और जिन ताक़तों के अस्तित्व और विकास में दूसरों का इतना हिस्सा है, उसको हम बर्बाद कर दें या फ़ायदेमंद बनाने के बजाए नुक़्सानदेह बनाएँ? आत्महत्या इसी लिए हराम है। हस्तमैथुन करने वाले को इसी वजह से दुनिया के सबसे बड़े विवेकी एवं बुधिमान (हज़रत मुहम्मद सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) ने मलौऊन (जिसपर लानत भेजी जाए) कहा है। समलैंगिकता को इसी बुनियाद पर सबसे भयानक जुर्म क़रार दिया गया है और व्यभिचार भी इसी वजह से व्यक्तिगत आनन्द या क्षणिक सुख नहीं है, बल्कि पूरे मानव समूह पर ज़ुल्म है।

ग़ौर कीजिए, व्यभिचार के साथ कितने सामूहिक ज़ुल्मों का क़रीबी और गहरा रिश्ता है।

1. एक व्यभिचारी सबसे पहले अपने आपको गुप्त रोगों के ख़तरे में डालता है और इस तरह न सिर्फ़ अपनी जिस्मानी ताक़तों की सामूहिक उपयोगिता में कमज़ोरी पैदा करता है, बल्कि समाज और नस्ल को भी नुक़्सान पहुँचाता है। सूज़ाक के बारे में हर डॉक्टर आपको बता देगा कि पेशाब जारी रखनेवाला यह घाव बहुत ही कम पूरी तरह सही होता है। एक बड़े डॉक्टर

का कथन है कि–

"एक बार सूज़ाक, हमेशा के लिए सूज़ाक।"

इससे यकृत (जिगर), मूत्राशय, अंडकोश इत्यादि अंग भी कभी-कभी आफ़त में पड़ जाते हैं। गठिया और कुछ दूसरे रोगों का भी यह कारण बन जाता है। इससे स्थायी बांझपन पैदा हो जाने की भी संभावना है और यह छूत का रोग भी होता है। रहा आतशक, तो किसे नहीं मालूम कि इससे पूरी शारीरिक व्यवस्था विषैली हो जाती है। सिर से पाँव तक कोई अंग ऐसा नहीं जिसमें इसका ज़हर न फैल जाता हो। यह न ख़ुद रोगी की जिस्मानी ताक़तों को बर्बाद करता है, बल्कि एक आदमी से न जाने कितने आदमियों तक विभिन्न माध्यमों से पहुँच जाता है,[1] फिर इसकी वजह से रोगी की औलाद और औलाद की औलाद तक बे-क़ुसूर सज़ा भुगतती है। बच्चों का अंधा, गूंगा, बहरा और पागल पैदा होना आनन्द की उन कुछ घड़ियों का एक मामूली फल है जिन्हें ज़ालिम बाप ने अपनी ज़िंदगी की क़ीमती पूँजी समझा था।

2. गुप्त रोगों में तो हर व्यभिचारी का शिकार हो जाना निश्चित नहीं है, मगर उन नैतिक कमज़ोरियों से किसी का बचना मुमकिन नहीं जो इस काम से अनिवार्यतः सम्बन्ध रखती हैं। बेहयाई, धोखा-धड़ी, झूठ, बदनीयती, स्वार्थ, ख़ाहिशों की ग़ुलामी, मन पर कन्ट्रोल की कमी, वैचारिक आवारापन, तबियत में हरजाईपन और वफ़ादार न होना, ये सब व्यभिचार के वे नैतिक दुष्प्रभाव हैं जो ख़ुद व्यभिचारी के दिल पर पड़ते हैं। जो आदमी इन दोषों को अपने भीतर पालता है उसकी कमज़ोरियों का असर सिर्फ़ यौनाचार की हद तक सीमित नहीं रहता, बल्कि ज़िंदगी के हर विभाग में उसकी ओर से यही तोहफ़ा समाज को मिलता है। अगर समाज में ये दोष ज़्यादा से ज़्यादा लोगों में पैदा हो गए हों तो इनकी वजह से कला और

1. सूज़ाक (सिफ़लिस) और आतशक (गनोरिया) नामक रोगों पर एक आधुनिक वृद्धि एड्स (AIDS) की है जिससे पूरी मानवजाति प्रभावित, चिन्तित व भयभीत है।
(प्रकाशक)

साहित्य, मनोरंजन की चीज़ें और खेल, ज्ञान-विज्ञान, उद्योग-धंधे, रहन-सहन और खान-पान, राजनीति और अदालत, फ़ौजी सेवाएँ और देश की शासन-व्यवस्था, हर चीज़ कम या ज़्यादा प्रभावित होकर रहेगी। ख़ास तौर से जनतांत्रिक व्यवस्था में तो व्यक्तियों के एक-एक नैतिक दोष का पूरी क़ौम की ज़िंदगी में ज़ाहिर होना यक़ीनी है। जिस क़ौम के बहुत-से लोगों के स्वभाव में कोई ठहराव न हो और जो क़ौम वफ़ादारी, क़ुरबानी और आत्म-संयम की ख़ूबियाँ अपने भीतर न रखती हो, उसकी राजनीति में स्थिरता आख़िर आएगी कहाँ से?

3. व्यभिचार को जायज़ रखने के साथ यह भी ज़रूरी हो जाता है कि समाज में वेश्यावृत्ति का कारोबार जारी रहे। जो आदमी यह कहता है कि एक जवान मर्द को 'मन बहलाने' का हक़ हासिल है, वह मानो साथ ही यह भी कहता है कि सामूहिक ज़िंदगी में एक बड़ी तादाद ऐसी औरतों की मौजूद रहनी चाहिए जो हर हैसियत से इंतिहाई पस्ती और ज़िल्लत की हालत में हों। आख़िर ये औरतें आएँगी कहाँ से? इसी समाज ही में से तो पैदा होंगी। बहरहाल किसी की बेटी और बहन ही तो होंगी। वे लाखों औरतें, जो एक-एक घर की मालकिन, एक-एक ख़ानदान की निर्माता कई-कई बच्चों की तर्बियत करने वाली बन सकती थीं, उन्हीं को तो लाकर बाज़ार में बिठाना पड़ेगा, ताकि म्युनिसिपैलटी के पेशाबख़ानों की तरह वे आवारा मिज़ाज मर्दों के लिए शौचालय (ज़रूरत पूरी करने की जगह) बनें। उनसे औरत की तमाम शरीफ़ाना ख़ूबियाँ छीन ली जाएँ, उन्हें अदा दिखाने की ट्रेनिंग दी जाए, उन्हें इस काम के लिए तैयार किया जाए कि अपनी मुहब्बत, अपने दिल, अपने जिस्म, अपने हुस्न और अपनी अदाओं को हर क्षण एक नए ख़रीदार के हाथ बेचें और कोई फ़ायदेमंद और फलदायक सेवा करने के बजाए तमाम उम्र दूसरों की नफ़्स-परस्ती के लिए खिलौना बनी रहें।[1]

---

1. अब, आधुनिक युग में, वह पुरानी वेश्या-व्यवस्था काफ़ी संशोधित, 'उन्नत' और व्यापक हो चुकी है। समाचार-पत्रों में ऐसे विज्ञापनों की भरमार होती है कि हमारे इस सेन्टर, इस होटल, इस गेस्ट हाउस, इस मालिश घर (Massage Centre) पर अत्यंत सुंदर, आकर्षक, जवान, सेक्सी युवतियाँ उपलब्ध हैं। हमारी सेवाएँ 24 घण्टे के लिए

4. व्यभिचार को जायज़ कर देने से विवाह के सांस्कृतिक नियम को अनिवार्यतः नुक़सान पहुँचता है, बल्कि अंजाम यह होता है कि विवाह ख़त्म होकर बस व्यभिचार ही व्यभिचार रह जाता है। सर्वप्रथम तो व्यभिचार का रुझान रखनेवाले मर्दों और औरतों में यह योग्यता ही बहुत कम बाक़ी रह जाती है कि सही दाम्पत्य जीवन गुज़ार सकें। क्योंकि जो बदनीयती, बदनज़री और आवारापन इस कार्य-विधि से पैदा होता है और ऐसे लोगों की भावनाओं में जो अस्थिरता और मन की ख़ाहिश पर क़ाबू न रखने की कमज़ोरी परवरिश पाती है, वह उन ख़ूबियों के लिए जानलेवा ज़हर है जो एक कामियाब दाम्पत्य जीवन के लिए ज़रूरी हैं। वे अगर दाम्पत्य के रिश्ते में बंधेंगे भी तो उनके बीच, वह सद्व्यवहार, वह सहयोग, वह आपसी भरोसा और वह दया और वफ़ादारी का ताल्लुक़ कभी मज़बूत न होगा, जिससे अच्छी नस्ल पैदा होती है और एक ख़ुशियों-भरा घर वुजूद में आता है। फिर जहाँ व्यभिचार की आसानियाँ हों, वहाँ अमली तौर पर यह नामुमकिन है कि विवाह का संस्कृति-पोषक तरीक़ा क़ायम रह सके, क्योंकि जिन लोगों को ज़िम्मेदारियाँ क़बूल किए बग़ैर मनोकामनाएँ पूरी करने के मौक़े मिल रहे हों, उन्हें क्या ज़रूरत पड़ी है कि विवाह करके अपने सर पर भारी ज़िम्मेदारियों का बोझ लाद लें?

5. व्यभिचार को जायज़ कर देने और व्यभिचार का चलन पा जाने से न सिर्फ़ संस्कृति की जड़ कटती है, बल्कि ख़ुद इंसानी नस्ल की भी जड़ कटती है। जैसा कि पहले ही साबित किया जा चुका है कि स्वच्छंद यौन-सम्बन्ध में मर्द और औरत दोनों में से किसी की भी यह ख़ाहिश नहीं होती और नहीं हो सकती कि नस्ल को बाक़ी रखने की ख़िदमत अंजाम दें।

6. व्यभिचार से नस्ल और समाज को अगर बच्चे मिलते भी हैं तो वे हरामी (अवैध) होते हैं। नसब में हराम व हलाल का अन्तर सिर्फ़ एक भावनात्मक

हैं। अगस्त 2004 में एक राष्ट्रीय स्तर के समाचार पत्र ने बड़े गर्व के साथ दो युवतियों के चित्रों के साथ विस्तार पूर्वक रिपोर्ट छापी कि अब भारतीय कन्याएँ अमरीका की 'सेक्स इण्डस्ट्री' में जगह बनाने लगी हैं। (प्रकाशक)

चीज़ नहीं है, जैसा कि कुछ नादान लोग सोचते हैं। असल में कई हैसियतों से हराम का बच्चा पैदा करना ख़ुद बच्चे पर और पूरी इंसानी संस्कृति पर एक भारी ज़ुल्म है। एक तो ऐसा बच्चा जिस वीर्य से पैदा होता है वह वीर्य ही उस हालत में गर्भ में ठहरता है, जबकि माँ और बाप दोनों पर ख़ालिस हैवानी भावनाएँ छाई होती हैं। एक शादीशुदा जोड़े में यौन-क्रिया के वक़्त जो पवित्र इंसानी भावनाएँ होती हैं, वे नाजायज़ ताल्लुक़ रखनेवाले जोड़े को कभी मिल ही नहीं सकतीं। उनको तो ख़ालिस हैवानी जोश एक-दूसरे से मिलाता है, और उस वक़्त तमाम इंसानी ख़ूबियाँ हटी हुई होती हैं। इसलिए एक हरामी बच्चा अपने स्वभाव से अपने माँ-बाप की हैवानियत ही का वारिस होता है। फिर वह बच्चा जिसका स्वागत करने के लिए न माँ तैयार हो न बाप, जो एक वांछित चीज़ की हैसियत से नहीं, बल्कि एक अचानक आनेवाली मुसीबत की हैसियत से माँ-बाप के बीच आया हो, जिसको बाप की मुहब्बत और उसके साधन आम तौर से न मिलें, जो सिर्फ़ माँ की यकतरफ़ा तर्बियत पाए और वह भी ऐसी जिसमें बेदिली और बेज़ारी शामिल हो, जिसको दादा-दादी, नाना-नानी, चचा, मामूँ और ख़ानदान के दूसरे लोगों की सरपरस्ती हासिल न हो, वह बहरहाल एक अधूरा और अपूर्ण इंसान ही बनकर उठेगा। न उसका सही कैरेक्टर बन सकेगा, न उसकी योग्यताएँ फल-फूल सकेंगी, न उसकी तरक़्क़ी ही सही तौर पर हो सकेगी। वह ख़ुद भी अधूरा, साधनहीन, बेयार व मददगार और मज़लूम होगा और संस्कृति के लिए भी किसी तरह उतना फ़ायदेमंद न बन सकेगा, जितना वह हलाली (वैध) होने की शक्ल में हो सकता था।

आज़ाद वासना-पूर्ति के हिमायती कहते है कि बच्चों की परवरिश और तालीम के लिए एक नेशनल (राष्ट्रीय) व्यवस्था होनी चाहिए, ताकि बच्चों को उनके माँ-बाप अपने आज़ादाना ताल्लुक़ से जन्म दें और राष्ट्र उनको पाल-पोसकर संस्कृति की सेवा के लिए तैयार करे।[1] इस तज्वीज़ से उन

1. अब पाश्चात्य देशों में ऐसे हरामी बच्चों के पालन-पोषण की व्यवस्था क़ायम हो चुकी है। एशिया...मुख्यत: भारत...अभी इतनी (तथाकथित) 'उन्नति' नहीं कर सका है। अत: ऐसे अवांछित या हरामी बच्चे या तो गर्भपात द्वारा या फिर जन्म के तुरंत बाद गला

लोगों का मक़सद यह है कि औरतों और मर्दों की आज़ादी और उनकी वैयक्तिक सत्ता सुरक्षित रहे, और उनकी काम-वासनाओं को ब्याह की पाबन्दियों में जकड़े बग़ैर नस्ल बढ़ाने और बच्चों की तर्बियत करने का मक़सद हासिल हो जाए। लेकिन यह अजीब बात है कि जिन लोगों को मौजूदा नस्ल की वैयक्तिकता इतनी प्यारी है, वे आगे की नस्ल के लिए क़ौमी तालीम या सरकारी तर्बियत का ऐसा सिस्टम तज्वीज़ करते हैं जिसमें वैयक्तिकता के विकास और व्यक्तित्व के फलने-फूलने की कोई शक्ल नहीं है। इस क़िस्म के एक सिस्टम में जहाँ हज़ारों-लाखों बच्चे एक वक़्त, एक नक़्शे, एक नियम और एक ही ढंग पर तैयार किए जाएँ, बच्चों का निजी व्यक्तित्व कभी उभर और निखर ही नहीं सकता। वहाँ तो उनमें ज़्यादा एकरूपता और बनावटी समानता पैदा होगी। इस कारख़ाने से बच्चे उसी तरह एक जैसा व्यक्तित्व लेकर निकलेंगे जिस तरह किसी बड़ी फ़ैक्ट्री से लोहे के पुर्ज़े एक जैसे ढले हुए निकलते हैं। विचार तो करें कि इंसान के बारे में इन कम-अक़्ल लोगों की सोच कितनी पस्त और कितनी घटिया है। ये बाटा के जूतों की तरह इंसानों को तैयार करना चाहते हैं। इनको मालूम नहीं कि बच्चे के व्यक्तित्व को तैयार करना एक अत्यन्त सूक्ष्मतम आर्ट है। यह आर्ट एक छोटी-सी चित्रशाला ही में अंजाम पा सकता है, जहाँ हर चित्रकार की तवज्जोह एक-एक चित्र पर लगी हुई हो। एक बड़ी फ़ैक्ट्री में जहाँ किराए के मज़दूर एक ही ढंग का चित्र लाखों की तादाद में तैयार करते हों, यह आर्ट तबाह होगा, न कि तरक़्क़ी करेगा।

फिर क़ौमी तालीम व तर्बियत के इस सिस्टम में आपको बहरहाल ऐसे कार्यकर्त्ताओं की ज़रूरत होगी जो समाज की ओर से बच्चों की परवरिश का काम सँभालें, और यह भी ज़ाहिर है कि इस ख़िदमत को अंजाम देने के

घोंट कर मार दिए जाते हैं और नगर पालिका के कूड़ेदान या गटर में फेंक दिए जाते हैं। 2003 ई० के एक समाचार पत्र की रिपोर्ट के मुताबिक़ यू. पी. के एक नगर में बरसात आने से पहले, नगर पालिका के लोग गटर की सफ़ाई करते हुए आश्चर्यचकित रह गए और नगरवासी स्तब्ध कि गटर के अन्दर नवजात शिशुओं की कई सड़ी गली लाशें और हड्डियों के ढाँचे मिले। (प्रकाशक)

लिए ऐसे ही कार्यकर्त्ता उपयुक्त हो सकते हैं जो अपनी भावनाओं और इच्छाओं पर क़ाबू रखते हों और जो ख़ुद नैतिक अनुशासन में बँधे हों, वरना वे बच्चों में नैतिक अनुशासन कैसे पैदा कर सकेंगे? अब सवाल यह है कि ऐसे आदमी आप लाएँगे कहाँ से? आप तो क़ौमी तालीम व तर्बियत का सिस्टम क़ायम ही इसलिए कर रहे हैं कि मर्दों और औरतों को अपनी ख़ाहिशें पूरी करने के लिए आज़ाद छोड़ दिया जाए। इस तरह जब आपने समाज में से नैतिक अनुशासन और ख़ाहिशों को क़ाबू में रखने की योग्यता का बीज ही मार दिया तो अंधों की बस्ती में आँखों वाले मिलेंगे कहाँ से कि वे नई नस्लों को देखकर चलना सिखाएँ।

7. व्यभिचार के ज़रीए से एक स्वार्थी इंसान जिस औरत को बच्चे की माँ बना देता है, उसकी ज़िंदगी हमेशा के लिए तबाह हो जाती है और उसपर ज़िल्लत, आम नफ़रत और मुसीबतों का ऐसा पहाड़ टूट पड़ता है कि जीते जी वह उसके बोझ तले से निकल नहीं सकती। नए नैतिक नियमों में इस परेशानी का हल यह निकाला गया है कि हर क़िस्म के मातृत्व (Motherhood) को बराबर की हैसियत दे दी जाए, चाहे वह विवाह के भीतर हो या बाहर।

कहा जाता है कि मातृत्व बहरहाल आदरणीय है और यह कि जिस लड़की ने अपने सीधेपन या बे-एहतियाती से माँ बनने की ज़िम्मेदारी क़बूल कर ली है, उसपर यह ज़ुल्म है कि समाज में उसे ताने दिए जाएँ।

लेकिन एक तो यह हल ऐसा है कि उसमें बेहया औरतों के लिए चाहे कितनी ही सुविधा हो, सोसाइटी के लिए कुल मिलाकर मुसीबत ही मुसीबत है। समाज स्वाभाविक रूप से हरामी बच्चे की माँ को जिस नफ़रत और ज़िल्लत की निगाह से देखता है, वह एक ओर व्यक्ति को गुनाह और बदकारी से रोकने के लिए एक बड़ी रुकावट है और दूसरी ओर वह ख़ुद समाज में भी नैतिक एहसास के ज़िंदा होने की निशानी है। अगर हरामी बच्चे की माँ और हलाली बच्चे की माँ को बराबर समझा जाने लगा तो इसका मतलब यह है कि समाज से भलाई और बुराई, नेकी और बदी और गुनाह और सवाब की पहचान ही ख़त्म हो गई। फिर अगर मान लिया जाए कि यह हो भी जाए, तो क्या इससे वास्तव

में वे परेशानियाँ हल हो जाएँगी, जो हरामी बच्चे की माँ को पेश आती हैं। तुम अपने नज़रीए में हराम और हलाल दोनों क़िस्म के मातृत्व को बराबर क़रार दे सकते हो, मगर प्रकृति इन दोनों को बराबर नहीं करती, और हक़ीक़त में वे कभी बराबर हो ही नहीं सकतीं। उनकी बराबरी, बुद्धि, तर्क, इंसाफ़, हक़ीक़त हर चीज़ के ख़िलाफ़ है। आख़िर वह मूर्ख औरत जिसने, वासना की उत्तेजक भावनाओं की धारा में बहकर, अपने आपको एक ऐसे स्वार्थी आदमी के हवाले कर दिया जो उसकी और उसके बच्चे की ज़िम्मेदारी लेने को तैयार न था, उस अक़्लमंद औरत के बराबर कैसे हो सकती है जिसने अपनी भावनाओं को उस वक़्त तक अपने क़ाबू में रखा जब तक उसे एक शरीफ़, ज़िम्मेदार पुरुष न मिल गया ? कौन-सी अक़्ल इन दोनों को बराबर कह सकती है ? आप चाहें तो नुमाइशी तौर पर इन्हें बराबर कर दें, मगर उस मूर्ख औरत को वह भरण-पोषण और हिफ़ाज़त, वह हमदर्दी भरी मित्रता, वह मुहब्बत भरी निगरानी, वह भलाई के साथ देख-भाल और वह सुकून और इत्मीनान कहाँ से दिलवाएँगे, जो सिर्फ़ एक शौहरवाली औरत ही को मिल सकता है ? आप उसके बच्चे को बाप की मुहब्बत और अन्य पैतृक (Paternal) रिश्तों की मुहब्बत और मेहरबानी किस बाज़ार से दिला देंगे? ज़्यादा से ज़्यादा तुम क़ानून के ज़ोर से उसको गुज़ारा-भत्ता दिलवा सकते हो। मगर क्या एक माँ और एक बच्चे को दुनिया में सिर्फ़ गुज़ारे-भत्ते ही की ज़रूरत हुआ करती है ? अतः यह हक़ीक़त है कि हराम व हलाल के मातृत्व को बराबर कर देने से गुनाह करनेवालियों को बाहरी तसल्ली चाहे कितनी ही मिल जाए, बहरहाल यह चीज़ उनको उनकी मूर्खता के स्वाभाविक नतीजों से और उनके बच्चों को इस तरह की पैदाइश के हक़ीक़ी नुक़्सानों से नहीं बचा सकती।

इन कारणों से यह बात सामूहिक ज़िंदगी के क़ायम करने और उसकी सही तरक़्क़ी के लिए अहम ज़रूरतों में से है कि समाज में यौनाचर के बिखराव को बिल्कुल रोक दिया जाए और काम-भावनाओं की तृप्ति व तुष्टि के लिए सिर्फ़ एक ही दरवाज़ा — शादी का दरवाज़ा — खोला जाए। व्यक्तियों को व्यभिचार की आज़ादी देना उनके साथ अनुचित रिआयत और सोसाइटी पर ज़ुल्म, बल्कि सोसाइटी का क़त्ल है। जो सोसाइटी इस मामले को मामूली

समझती है और व्यभिचार को सिर्फ़ व्यक्तियों का मनोरंजन व आनन्द का क्षण (Having a good time) समझकर नज़र अंदाज़ कर देना चाहती है और 'आज़ादाना बीज बोने' (Sowing Wild Oats) के साथ उदारता बरतने के लिए तैयार है, वह असल में एक जाहिल सोसाइटी है, उसको अपने अधिकारों का एहसास नहीं है। वह ख़ुद अपने साथ दुश्मनी करती है। अगर उसे अपने अधिकारों का एहसास हो और वह जाने और समझे कि यौन-सम्बन्धों के मामले में वैयक्तिक आज़ादी का असर समाज के हितों पर क्या पड़ता है तो वह उस अमल को उसी नज़र से देखे, जिससे चोरी, डकैती और क़त्ल को देखती है। बल्कि यह चोरी आदि से ज़्यादा गंभीर है। चोर, क़ातिल और डाकू तो ज़्यादा से ज़्यादा एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का नुक़्सान करते हैं। मगर व्यभिचारी पूरे समाज पर और उसकी अगली नस्लों पर डाका मारता है। वह एक ही वक़्त में लाखों-करोड़ों इंसानों की चोरी करता है। उसके जुर्म के नतीजे इन सब मुजरिमों से ज़्यादा दूरगामी और ज़्यादा व्यापक हैं।

जब यह मानी हुई बात है कि व्यक्तियों की स्वार्थपूर्ण अत्याचार के मुक़ाबले में क़ानून की ताक़त समाज की मदद करने के लिए होनी चाहिए और जब इसी बुनियाद पर चोरी, क़त्ल, लूट-मार, जालसाज़ी, अधिकार हनन और अन्य अत्याचारों को जुर्म क़रार देकर सज़ा के बल पर उनका रास्ता बन्द किया जाता है तो कोई वजह नहीं कि व्यभिचार के मामले में क़ानून समाज की हिफ़ाज़त करनेवाला न हो और इसे सज़ा-योग्य जुर्म न क़रार दिया जाए।

उसूली हैसियत से भी यह खुली हुई बात है कि विवाह और व्यभिचार दोनों एक ही वक़्त में एक ही सामाजिक व्यवस्था का हिस्सा नहीं हो सकते। अगर एक आदमी के लिए ज़िम्मेदारियाँ क़बूल किए बिना काम-वासना की तृप्ति जायज़ रखा जाए तो इसी काम के लिए विवाह का नियम बनाना बिल्कुल निरर्थक बात है। यह बिल्कुल ऐसा ही है जैसे रेल में बे-टिकट सफ़र करने को जायज़ भी रखा जाए और फिर सफ़र के लिए टिकट लेने का उसूल भी बना दिया जाए। कोई अक़्लवाला आदमी इन दोनों तरीक़ों को एक ही वक़्त में इख़्तियार नहीं कर सकता। उचित बात यही है कि या तो टिकट का क़ायदा सिरे से उड़ा दिया जाए या अगर यह क़ायदा मुक़र्रर करना है तो बे-टिकट सफ़र करने

को जुर्म क़रार दिया जाए। इसी तरह विवाह और व्यभिचार के मामले में दोहरा रवैया एक बिल्कुल अनुचित चीज़ है। अगर संस्कृति के लिए विवाह का नियम ज़रूरी है, जैसा कि पहले दलीलों से साबित किया जा चुका है, तो इसके साथ यह भी ज़रूरी है कि व्यभिचार (Non-marital Relations) को जुर्म क़रार दिया जाए।[1]

जाहिलियत (अज्ञानता) की ख़ास बातों में से एक प्रमुख बात यह भी है कि जिन चीज़ों के नतीजे सीमित होते हैं और जल्दी और महसूस शक्ल में सामने आ जाते हैं तो उन्हें महसूस कर लिया जाता है। मगर जिनके नतीजे व्यापक और दूरगामी होने की वजह से ग़ैर-महसूस रहते हैं और देर में सामने आते हैं, उन्हें कोई अहमियत नहीं दी जाती, बल्कि नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है। चोरी, क़त्ल और डकैती जैसे मामलों को अहम और व्यभिचार को ग़ैर-अहम समझने की वजह यही है। जो आदमी अपने घर में प्लेग के चूहे जमा करता है, या छूत की बीमारियाँ फैलाता है, जाहिलियत की संस्कृति उसे तो

---

1. एक आम ग़लतफ़हमी यह है कि विवाह से पहले एक जवान आदमी को वासनात्मक इच्छाओं की तृप्ति का थोड़ा-बहुत मौक़ा ज़रूर हासिल होना चाहिए, क्योंकि जवानी में भावनाओं के आवेग को रोकना मुश्किल है, और अगर रोका जाए तो सेहत को नुक़सान पहुँचता है। लेकिन यह नतीजा जिन बातों से निकाला गया है, वे सब ग़लत हैं। भावनाओं का ऐसा आवेग, जो रोका न जा सके, एक ग़ैरमामूली (Abnormal) हालत है और मामूली (Normal) इंसानों में यह हालत सिर्फ़ इस वजह से पैदा होती है कि एक ग़लत सांस्कृतिक व्यवस्था इनको ज़बरदस्ती भड़काती है। हमारे सिनेमा, हमारा लिट्रेचर, हमारी तस्वीरें, हमारा संगीत और इस (औरतों और मर्दों की) मिली-जुली सोसाइटी में बनी-ठनी औरतों का हर जगह मर्दों से टकराना, यही वे कारण हैं, जो मामूली इंसानों को कामोत्तेजना में ग़ैर-मामूली बना देते हैं। वरना एक शान्तिमय माहौल में आम मर्दों और औरतों को ऐसी उत्तेजना का कभी सामना नहीं होता कि ज़ेहन और अख़लाक़ी तर्बियत से उसपर क़ाबू न पाया जा सके। और यह ख़्याल कि 'जवानी के ज़माने में यौन-क्रिया न करने से सेहत को नुक़सान पहुँचता है, इसलिए सेहत बाकी रखने के लिए व्यभिचार करना चाहिए', एक भ्रम के सिवा कुछ नहीं है। असल में सेहत और अख़्लाक़ दोनों की हिफ़ाज़त के लिए ज़रूरी है कि सामाजिकता की इस ग़लत व्यवस्था और ख़ुशहाल ज़िंदगी के उन ग़लत पैमानों को बदला जाए जिनकी वजह से विवाह मश्किल और व्यभिचार आसान होकर रह गया है।

माफ़ी के क़ाबिल नहीं समझती, क्योंकि उसका काम खुले-तौर पर नुक़्सान पहुँचाने वाला नज़र आता है, मगर जो व्यभिचारी अपनी ख़ुदग़रज़ी से संस्कृति की जड़ काटता है, उसके नुक़्सान चूंकि महसूस होने के बजाए बौद्धिक हैं, इसलिए वह जाहिलों को हर रिआयत का हक़दार नज़र आता है, बल्कि उनकी समझ में यह आता ही नहीं कि इसके करने में जुर्म की आख़िर कौन-सी बात है। अगर संस्कृति की बुनियाद जाहिलियत के बजाए बुद्धि और प्रकृति के ज्ञान पर हो तो यह नीति कभी न अपनाई जाए।

4. बेहयाई की रोक-थाम के उपाय

संस्कृति के लिए जो काम हानिकारक हो उसे रोकने के लिए सिर्फ़ इतना ही काफ़ी नहीं है कि उसे बस क़ानूनन जुर्म क़रार दिया जाए और उसके लिए एक सज़ा मुक़र्रर कर दी जाए, बल्कि इसके साथ चार क़िस्म के अन्य उपाय भी अपनाने ज़रूरी हैं–

- एक यह कि तालीम व तर्बियत के ज़रीए से लोगों का ज़ेहन ठीक किया जाए और उनकी मनोस्थिति इस हद तक सुधार दी जाए कि वे ख़ुद उस काम से नफ़रत करने लगें, उसे गुनाह समझें और उनकी अपनी नैतिक चेतना उन्हें ऐसा करने से रोके रखे।
- दूसरा यह कि सामूहिक नैतिकता और जनमत को इस गुनाह या जुर्म के ख़िलाफ़ इस हद तक तैयार कर दिया जाए कि आम लोग इसे ऐब और शर्म का काम समझने लगें और इसके करनेवालों को नफ़रत की निगाह से देखने लगें, ताकि जिन लोगों की तर्बियत अधूरी रह गई हो या जिनकी नैतिक चेतना कमज़ोर हो, उन्हें जनमत की ताक़त जुर्म करने से रोक सके।
- तीसरा यह कि सांस्कृतिक व्यवस्था में ऐसे सारे प्रेरकों की रोक-थाम की जाए जो इस जुर्म पर उकसानेवाले और इसकी प्रेरणा दिलानेवाले हों और इसके साथ ही उन प्रेरकों को भी यथासंभव दूर किया जाए जो लोगों को इस काम पर मजबूर करने वाले हों।
- चौथा यह कि सांस्कृतिक जीवन में ऐसी रुकावटें और कठिनाइयाँ पैदा कर

दी जाएँ कि अगर कोई आदमी यह जुर्म करना भी चाहे, तो आसानी से न कर सके।

ये चारों उपाय ऐसे हैं जिनके सही होने और ज़रूरी होने पर अक़्ल गवाही देती है, प्रकृति उनकी माँग करती है और पूरी दुनिया का अमल भी यही है कि समाज का क़ानून जिन-जिन चीज़ों को जुर्म क़रार देता है, उन सबको रोकने के लिए सज़ा के अलावा ये चारों उपाय भी ज़रूर इस्तेमाल किए जाते हैं। अब अगर यह बात मान्य है कि यौन-सम्बन्धों का बिखराव संस्कृति को तबाह कर देने वाला है और समाज के ख़िलाफ़ एक भयानक जुर्म की हैसियत रखता है तो अवश्य ही यह भी मानना पड़ेगा कि उसे रोकने के लिए सज़ा के साथ-साथ वे सब सुधार के और रोक-थाम के उपाय अपनाने ज़रूरी हैं जिनका ज़िक्र ऊपर किया गया है। इसके लिए व्यक्तियों की तर्बियत भी होनी चाहिए, जनमत को भी उसकी मुख़ालफ़त के लिए तैयार करना चाहिए संस्कृति के दायरे से उन तमाम चीज़ों को भी निकाल देना चाहिए जो व्यक्तियों की वासना को भड़काती हैं, सामाजिक व्यवस्था से उन रुकावटों को भी दूर करना चाहिए जो विवाह के लिए मुश्किलें पैदा करती हैं और मर्दों और औरतों के ताल्लुक़ात पर ऐसी पाबन्दियाँ भी लगानी चाहिएँ कि अगर वे विवाह के बिना यौन-सम्बन्ध क़ायम करने की ओर अग्रसर हों तो उनकी राह में बहुत-सी मज़बूत रुकावटें खड़ी हो जाएँ। व्यभिचार को जुर्म और गुनाह मानने के बाद कोई भी अक़्लमंद आदमी इन उपायों के ख़िलाफ़ एक शब्द भी नहीं कह सकता।

कुछ लोग उन तमाम अख़लाक़ी और सामूहिक उसूलों को मानते हैं जिनकी बुनियाद पर व्यभिचार को जुर्म क़रार दिया गया है, मगर उनका आग्रह यह है कि इसके ख़िलाफ़ सज़ा और रोक-थाम के उपायों को अपनाने के बजाए सिर्फ़ सुधार के उपायों को काफ़ी समझना चाहिए। वे कहते हैं कि तालीम और तर्बियत के ज़रीए से लोगों में इतना आंतरिक एहसास, उनकी अन्तरात्मा की आवाज़ में इतनी ताक़त और उनकी नैतिक चेतना में इतना ज़ोर पैदा कर दो कि वे ख़ुद इस गुनाह से रुक जाएँ, वरना आंतरिक सुधार के बजाए सज़ा और रोक-थाम के बाह्य उपाए अपनाने का मतलब तो यह होगा कि आप आदमियों के साथ बच्चों का-सा सुलूक करते हैं, बल्कि इंसानियत की तौहीन करते हैं।

हम भी उनकी इस बात से इस हद तक सहमत हैं कि इंसानियत के सुधार का ऊंचा और बेहतर तरीक़ा वही है जो वे बयान करते हैं। सभ्यता का मक़सद वास्तव में यही है कि लोगों के भीतर ऐसी ताक़त पैदा हो जाए जिससे वे अपने आप समाज के नियमों का आदर करने लगें और ख़ुद उनकी अपनी अन्तरात्मा उनको अख़लाक़ी पाबन्दियों के ख़िलाफ़ चलने से रोक दे। इसी मक़सद के लिए व्यक्तियों की तालीम व तर्बियत पर सारा ज़ोर लगाया जाता है। परन्तु क्या सच में सभ्यता अपने इस उद्देश्य को प्राप्त कर चुकी है? क्या हक़ीक़त में तालीम और अख़लाक़ी तर्बियत के ज़रीयों से इंसानों को इतना सभ्य बनाया जा चुका है कि उनके अन्तःकरण पर पूरा भरोसा किया जा सकता हो और सामाजिक व्यवस्था की हिफ़ाज़त के लिए बाहर से किसी रोक-थाम के उपाय और सज़ा की ज़रूरत बाक़ी न रही हो? पुराने ज़माने का ज़िक्र छोड़िए कि आपकी ज़बान में वह 'अंधकारमय युग' था, यह बीसवीं सदी, 'प्रकाशमान शताब्दी' आपके सामने मौजूद है। इस ज़माने में यूरोप और अमरीका के सबसे ज़्यादा सभ्य देशों को देख लीजिए, जिनका हर नागरिक पढ़ा-लिखा है, जिनको अपने नागरिकों की बेहतरीन तर्बियत पर गर्व है, क्या वहाँ तालीम और नफ़्स की इस्लाह ने जुर्म और क़ानूनशिकनी को रोक दिया है? क्या वहाँ चोरियाँ नहीं होतीं? डाके नहीं पड़ते? क़त्ल नहीं होते? जाल, फ़रेब और ज़ुल्म व फ़साद की घटनाएँ नहीं होतीं? क्या वहाँ पुलिस, अदालत, जेल, सांस्कृतिक दबाव किसी चीज़ की भी ज़रूरत बाक़ी नहीं रही? क्या वहाँ लोगों के भीतर अख़लाक़ी ज़िम्मेदारी का इतना एहसास पैदा हो गया है कि अब उनके साथ 'बच्चों का-सा सुलूक' नहीं किया जाता? अगर यह सच नहीं है, अगर इस रौशन ज़माने में भी समाज की क़ानून-व्यवस्था को सिर्फ़ व्यक्तियों की नैतिक सूझ-बूझ पर नहीं छोड़ा जा सका है, अगर अब भी हर जगह 'मानवता का यह अपमान' हो रहा है कि अपराधों की रोक-थाम के लिए सज़ाओं और एहतियाती उपायों, दोनों क़िस्म के तरीक़ों से काम लिया जाता है तो आख़िर क्या वजह है कि सिर्फ़ यौन-सम्बन्ध ही के मामले में आपको यह पसंद नहीं है? सिर्फ़ इसी एक मामले में क्यों इन 'बच्चों' से 'बड़ों' का-सा सुलूक किए जाने पर आपको ज़िद और इतना आग्रह है? तनिक टटोलकर देखिए, कहीं मन में कोई चोर तो छिपा हुआ नहीं है!

कहा जाता है कि जिन चीज़ों को तुम वासना-उत्प्रेरक कहकर संस्कृति के दायरे से अलग कर देना चाहते हो वे तो सब आर्ट और सौन्दर्य-चेतना की जान हैं उन्हें निकाल देने से तो इंसानी ज़िंदगी में लालित्य और आनन्द का स्रोत ही सूखकर रह जाएगा, इसलिए तुम्हें संस्कृति की हिफ़ाज़त और रहन-सहन में सुधार जो कुछ भी करना है, इस तरह करो कि कला और सौन्दर्य को ठेस न लगने पाए। हम भी इन लोगों के साथ इस हद तक तो सहमत हैं कि आर्ट और सौन्दर्य-चेतना सच में क़ीमती चीज़ें हैं जिनकी हिफ़ाज़त बल्कि तरक़्क़ी ज़रूर होनी चाहिए, परन्तु समाज की ज़िंदगी और सामूहिक कल्याण इन सबसे ज़्यादा क़ीमती चीज़ है, इसको किसी आर्ट और किसी रुचि पर क़ुरबान नहीं किया जा सकता। आर्ट और सौन्दर्य को अगर फलना-फूलना है, तो अपने लिए फलने-फूलने का वह रास्ता ढूंढें जो समाज की ज़िंदगी और समाज की भलाई से मेल खाता हो। जो आर्ट और सौन्दर्य चेतना ज़िंदगी के बजाए तबाही और कल्याण के बजाए उत्पात की ओर ले जाने वाली हो, उसे समाज के दायरे में हरगिज़ फलने-फूलने का मौक़ा नहीं दिया जा सकता। यह कोई हमारा वैयक्तिक और हमारे घर का बनाया हुआ सिद्धान्त नहीं है। बल्कि यही अक़्ल और प्रकृति का तक़ाज़ा है, तमाम दुनिया इसको उसूली तौर पर मानती है और इसी पर हर जगह अमल भी हो रहा है। जिन चीज़ों को भी दुनिया में सामूहिक जीवन के लिए तबाही और बिगाड़ की वजह समझा जाता है, उन्हें कहीं आर्ट और सौन्दर्य-चेतना के नाम पर गवारा नहीं किया जाता। मिसाल के तौर पर जो लिट्रेचर फ़ितना व फ़साद और क़त्ल व ग़ारतगरी पर उभारता हो उसे कहीं भी सिर्फ़ उसके साहित्यिक गुणों के लिए जायज़ नहीं रखा जाता। जिस साहित्य में प्लेग या हैज़ा फैलाने पर उकसाया जाए उसे कहीं बर्दाश्त नहीं किया जाता। जो सिनेमा या थिएटर शान्ति भंग करने और बग़ावत करने पर उभारता हो उसको दुनिया की कोई हुकूमत आम स्टेज पर लाने की इजाज़त नहीं देती, जो तस्वीरें ज़ुल्म, फ़साद और शरारत की भावनाओं की प्रतीक हों या जिनमें अख़लाक़ के सर्वमान्य उसूल तोड़े गए हों, उनमें चाहे कितनी ही कलाकारी हो, कोई क़ानून और किसी समाज की अन्तरात्मा उनको आदर व सराहना की निगाह से देखने के लिए तैयार नहीं होती। जेब काटने की कला भले ही एक सूक्ष्मतम कला है और हाथ की सफ़ाई का इससे बेहतर कमाल शायद ही कहीं पाया जाता हो,

फिर भी कोई इसके फलने-फूलने का हामी नहीं होता। जाली नोट और चेक और दस्तावेज़ें तैयार करने में अनोखी ज़ेहानत और निपुणता दर्शाई जाती है, मगर कोई इस कला की तरक़्क़ी को जायज़ नहीं समझता। ठगी में इंसानी दिमाग़ ने अपनी अनुसंधान-शक्ति के कैसे-कैसे कमाल दिखाए हैं, मगर कोई सभ्य समाज इन कमालों की सराहना के लिए तैयार नहीं होता। अतः यह नियम स्वयंसिद्ध है कि समाज की ज़िन्दगी, उसकी शांति, उसका हित व कल्याण, हर कला और हर सौन्दर्य-चेतना से ज़्यादा क़ीमती है और किसी आर्ट पर उसे क़ुरबान नहीं किया जा सकता। हाँ, मतभेद जिस मामले में है, वह सिर्फ़ यह है कि एक चीज़ को हम सामूहिक जीवन और कल्याण के लिए नुक़्सानदेह समझते हैं और दूसरे ऐसा नहीं समझते। अगर इस मामले में उनका दृष्टिकोण भी वही हो जाए, जो हमारा है, तो उन्हें भी आर्ट और सौन्दर्य-चेतना पर वही पाबन्दियां लगाने की ज़रूरत महसूस होने लगेगी जिनकी ज़रूरत हम महसूस करते हैं।

यह भी कहा जाता है कि नाजायज़ यौन-सम्बन्धों को रोकने के लिए औरतों और मर्दों के दर्मियान परदे की रुकावट खड़ी करना और समाज में उनके आज़ादाना मेल-जोल पर पाबन्दियाँ लगाना असूल में उनके चरित्र व आचरण पर हमला है। इससे यह पाया जाता है कि मानो तमाम लोगों को बद-चलन मान लिया गया है और यह कि ऐसी पाबन्दियाँ लगानेवालों को न अपनी औरतों पर भरोसा है, न मर्दों पर। बात बड़ी तर्क-संगत है। मगर इसी तर्क को ज़रा आगे बढ़ाइए। हर ताला, जो किसी दरवाज़े पर लगाया जाता है, मानो इस बात का एलान है कि उसके मालिक ने तमाम दुनिया को चोर मान लिया है। हर पुलिसमैन का वुजूद इस बात की गवाही दे रहा है कि सरकार अपनी पूरी जनता को बदमाश समझती है। हर लेन-देन में, जो दस्तावेज़ लिखवाई जाती है वह इस बात की दलील है कि एक पक्ष ने दूसरे पक्ष को बेईमान समझ लिया है। हर वह उपाय जो जुर्म की रोकथाम के लिए अपनाया जाता है, उसका यह मतलब है कि उन सब लोगों को संभावित मुजरिम मान लिया गया है जिनपर इस उपाय का असर पड़ता हो। तर्क देने के इस तरीक़े से तो आप हर क्षण चोर, बदमाश, बेईमान और संदिग्ध चाल-चलन के आदमी क़रार दिए जा सकते हैं, मगर आपके स्वाभिमान को तनिक भी ठेस नहीं लगती फिर क्या वजह है कि सिर्फ़

इसी एक मामले में आप की भावनाएँ इतनी नाज़ुक हो गई हैं ?

असल बात वही है जिसकी ओर हम ऊपर इशारा कर चुके हैं। जिन लोगों के ज़ेहन में पुराने अख़लाक़ी विचारों का बचा-खुचा असर अभी बाक़ी है, वे व्यभिचार और यौन-अराजकता (Sexual Anarchy) को बुरा तो समझते हैं, मगर ऐसा ज़्यादा बुरा नहीं समझते कि उसकी पूरी रोक-थाम की ज़रूरत महसूस करें। इसी वजह से सुधार और रोक-थाम के उपायों में हमारे और उनके दृष्टिकोण अलग-अलग हैं। अगर प्रकृति की हक़ीक़तें उनपर पूरी तरह खुल जाएँ और वे इस मामले की सही शक्ल समझ लें, तो उन्हें हमारे साथ इस बात में सहमत होना पड़ेगा कि इंसान जब तक इंसान है और उसके भीतर जब तक हैवानियत का तत्त्व मौजूद है, उस वक़्त तक कोई ऐसी संस्कृति, जो व्यक्तियों की ख़ाहिशों और उनके आनन्द व स्वाद से बढ़कर सामूहिक जीवन के कल्याण को प्रिय रखती हो, इन उपायों से ग़ाफ़िल नहीं हो सकती।

5. दाम्पत्य-सम्बन्ध का सही रूप

ख़ानदान की स्थापना करने और यौनाचार-सम्बन्धी बिगाड़ की रोक-थाम करने के बाद एक भली संस्कृति के लिए जो चीज़ ज़रूरी है, वह यह है कि सामाजिक व्यवस्था में मर्द और औरत के ताल्लुक़ की सही स्थिति निश्चित की जाए, उनके हक़ ठीक-ठीक इंसाफ़ के साथ मुक़र्रर किए जाएँ, उनके दर्मियान ज़िम्मेदारियाँ सही ढंग से बाँटी जाएँ और ख़ानदान में उनके दर्जों और अधिकारों का निर्धारण इस तौर पर हो कि इंसाफ़ और संतुलन में फ़र्क़ न आने पाए। संस्कृति की तमाम समस्याओं में यह समस्या सबसे ज़्यादा जटिल है, मगर इंसान को इस गुत्थी को सुलझाने में अक्सर नाकामी हुई है।

कुछ क़ौमें ऐसी हैं, जिनमें औरत को मर्द पर क़व्वाम (प्रधान) बनाया गया है, मगर हमें एक उदाहरण भी ऐसा नहीं मिलता कि इस क़िस्म की क़ौमों में से कोई क़ौम सभ्यता और संस्कृति के किसी ऊँचे दर्जे पर पहुँची हो। कम से कम ऐतिहासिक जानकारियों के रिकार्ड में तो किसी ऐसी क़ौम का निशान पाया नहीं जाता जिसने औरत को हाकिम बनाया हो, फिर दुनिया में इज़्ज़त और ताक़त हासिल की हो या कोई बड़ा काम अंजाम दिया हो।

दुनिया की ज़्यादातर क़ौमों ने मर्द को औरत पर क़व्वाम (प्रधान व संरक्षक) बनाया है, मगर इस तर्जीह और प्राथमिकता ने अक्सर ज़ुल्म की शक्ल अपना ली है। औरत को दासी बनाकर रखा गया, उसे अपमानित और रुसवा किया गया। उसको किसी क़िस्म के आर्थिक और सामाजिक अधिकार नहीं दिए गए। उसको ख़ानदान में एक मामूली ख़िदमतगार और मर्द के लिए वासना पूरी करने का यंत्र बनाकर रखा गया और ख़ानदान से बाहर औरतों के एक गरोह को किसी हद तक ज्ञान और सभ्यता के ज़ेवरों से सजाया भी गया तो सिर्फ़ इसलिए कि वे मर्दों की कामुक-भावनाओं को ज़्यादा लुभावने अन्दाज़ में पूरी करें। अपने संगीत से उनके कानों में मधुरता भरें, अपने नाच और नाज़ व अदा से आँखों को लज़्ज़त पहुँचाएँ और अपने नारीत्व के उत्कृष्ट गुणों से उनके लिए शारीरिक स्वाद व आनंद बन जाएँ। यह औरत की ज़िल्लत व रुसवाई का सबसे ज़्यादा शर्मनाक तरीक़ा था जो मर्द की नफ़्सपरस्ती ने ईजाद किया और जिन क़ौमों ने यह तरीक़ा अपनाया, वे ख़ुद भी नुक़्सान से न बच सकीं।

आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति ने तीसरा तरीक़ा अपनाया है, यानी यह कि मर्दों और औरतों में बराबरी हो, दोनों की ज़िम्मेदारियाँ बराबर और क़रीब-क़रीब एक जैसी हों, दोनों एक ही कार्य-क्षेत्र में आगे बढ़ें, दोनों अपनी रोज़ी आप कमाएँ और अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के आप ज़िम्मेदार हों। सामाजिक संगठन का यह क़ायदा अभी तक पूरा नहीं हो सका है, क्योंकि मर्द की बरतरी और श्रेष्ठता अब भी मौजूद है। ज़िंदगी के किसी विभाग में भी औरत मर्द की समकक्ष नहीं है और उसको वे तमाम हक़ हासिल नहीं हुए हैं जो मुकम्मल बराबरी की शक्ल में उसको मिलने चाहिएँ। लेकिन जिस हद तक भी बराबरी क़ायम की गई है, उसने अभी से सामाजिक व्यवस्था में बिगाड़ पैदा कर दिया है। इससे पहले हम बहुत विस्तार से उसके नतीजे बयान कर चुके हैं, इसलिए यहाँ इसपर कुछ और लिखने की ज़रूरत नहीं।

इन तीनों क़िस्म की संस्कृतियों में न न्याय है, न सन्तुलन, क्योंकि इन्होंने प्रकृति की रहनुमाई को समझने और ठीक-ठीक उसके मुताबिक़ तरीक़ा अपनाने में कोताही की है। अगर सद्-बुद्धि से काम लेकर विचार किया जाए तो मालूम होगा कि प्रकृति ख़ुद इन समस्याओं का सही हल बता रही है,

बल्कि यह भी असल में प्रकृति ही की ज़बरदस्त ताक़त है जिसके असर से औरत न तो इस हद तक गिर सकी, जिस हद तक उसे गिराने की कोशिश की गई और न इस हद तक बढ़ सकी, जिस हद तक उसने बढ़ाना चाहा या मर्द ने उसे बढ़ाने की कोशिश की। ये दोनों अतिवादी पहलू इंसान ने अपनी दुर्बुद्धि और अपने बहके हुए विचारों के असर से अपनाए हैं, मगर प्रकृति तो न्याय और सन्तुलन चाहती है और ख़ुद उसकी शक्ल बताती है।

इससे कोई इंकार नहीं कर सकता कि इंसान होने में मर्द-औरत दोनों बराबर हैं। दोनों मानव-जाति के दो बराबर-बराबर के हिस्से हैं। संस्कृति और सभ्यता के बनाने और सँवारने और मानवता की सेवा में दोनों बराबर के शरीक हैं। दिल, दिमाग़, बुद्धि, भावनाएँ, इच्छाएँ और इंसानी ज़रूरतें दोनों रखते हैं। संस्कृति की बेहतरी के लिए दोनों का सभ्य होना, दोनों की दिमाग़ी तर्बियत होना और दोनों में समान रूप से मानसिक विकास का होना ज़रूरी है, ताकि संस्कृति की सेवा में हर एक अपना पूरा-पूरा हिस्सा अदा कर सके। इस पहलू से बराबरी का दावा बिल्कुल सही है और हर भली संस्कृति का फ़र्ज़ यही है कि मर्दों की तरह औरतों को भी अपनी प्राकृतिक योग्यता व क्षमता के मुताबिक़ ज़्यादा से ज़्यादा तरक़्क़ी करने का मौक़ा दे। उनको अच्छे इल्म (ज्ञान) और बेहतरीन तर्बियत से सँवारे। उन्हें भी मर्दों की तरह सांस्कृतिक व आर्थिक हक़ दे और उन्हें सामाजिकता के दायरे में इज़्ज़त का दर्जा दे ताकि उनमें आत्म-सम्मान की भावना पैदा हो और उनके भीतर वे बेहतरीन इंसानी ख़ूबियाँ पैदा हो सकें जो सिर्फ़ आत्म-सम्मान के एहसास ही से पैदा हो सकती हैं। जिन क़ौमों ने इस क़िस्म की बराबरी से इंकार किया है, जिन्होंने अपनी औरतों को जाहिल, बिना तर्बियत की (अशिष्ट), पस्त और सांस्कृतिक हक़ों से महरूम रखा है, वे ख़ुद पस्ती के गढ़े में गिर गई हैं, क्योंकि इंसानियत के पूरे आधे हिस्से को गिरा देने का मतलब ख़ुद इंसानियत को गिरा देना है। पस्त माँओं की गोद से इज़्ज़तवाले और बिना तर्बियतवाली माँओं की गोद से ऊँची तर्बियतवाले और पस्त ख़याल माँओं की गोद से ऊँचे ख़यालवाले इंसान नहीं निकल सकते।

लेकिन बराबरी का दूसरा पहलू यह है कि मर्द और औरत दोनों का कार्य-क्षेत्र एक ही हो। दोनों एक ही जैसे काम करें। दोनों पर ज़िंदगी के तमाम

विभागों की ज़िम्मेदारियाँ बराबर-बराबर डाल दी जाएँ और सांस्कृतिक व्यवस्था में दोनों की हैसियतें बिल्कुल एक-सी हों। इसकी ताईद में साइंस के तजुर्बों से यह साबित किया जाता है कि औरत और मर्द अपने देह की क्षमता और ताक़त के लिहाज़ से बराबर (Equipotential) हैं। मगर सिर्फ़ यह बात कि इन दोनों में इस क़िस्म की बराबरी पाई जाती है, इस बात का फ़ैसला करने के लिए काफ़ी नहीं है कि प्रकृति का अभिप्राय भी दोनों से एक ही तरह के काम लेना है। ऐसी राय क़ायम करना उस वक़्त तक ठीक नहीं हो सकता, जब तक यह साबित न कर दिया जाए कि दोनों की शारीरिक व्यवस्था भ: एक जैसी है, दोनों पर प्रकृति ने एक ही जैसी सेवाओं का बोझ भी डाला है और दोनों की मानसिक दशा भी एक-दूसरे के समान है। इंसान ने अब तक जितनी साइंसी खोजें की हैं, उनसे इन तीनों बातों का जवाब नकारात्मक मिलता है।

जीवविज्ञान (Biology) की खोजों से साबित हो चुका है कि औरत अपनी शक्ल व सूरत और बाहरी अंगों से लेकर अपने शरीर के सूक्ष्म कणों और कोशिकाओं (Protein Molecules of Tissues Cells) तक, हर चीज़ में मर्द से भिन्न है। जिस वक़्त गर्भाशय में बच्चे के अन्दर लैंगिक रचना (Sex Formation) होती है, उसी वक़्त से दोनों लिंगों की शारीरिक बनावट बिल्कुल एक-दूसरे से भिन्न शक्ल में तरक़्क़ी करती है। औरत की पूरी शारीरिक व्यवस्था इस ढंग पर बनाई जाती है कि बच्चा जनने और उसकी परवरिश करने के लिए मुस्तैद हो। आरंभिक भ्रूण स्थिति से लेकर बालिग़ होने तक उसके शरीर का पूरा विकास इसी क्षमता को पूरा करने के लिए होता है और यही चीज़ उसकी आगे की ज़िंदगी का रास्ता निर्धारित करती है।

बालिग़ होने पर मासिक-धर्म के दिनों का सिलसिला शुरू होता है जिसके प्रभाव से उसके शरीर के सारे अंगों की कार्यशीलता प्रभावित होती है। जीव-विज्ञान और अंग-विज्ञान के विशेषज्ञों के तजुर्बों से मालूम होता है कि मासिक-धर्म के दिनों में औरत के भीतर नीचे लिखी तब्दीलियाँ होती हैं–

1. जिस्म में ताप को रोकने की ताक़त कम हो जाती है, इसलिए ताप ज़्यादा निष्कासित होता है और तापमान गिर जाता है।

2. नाड़ी सुस्त हो जाती है। रक्त-चाप कम हो जाता है। रक्त कोशिकाओं की

तादाद में अन्तर हो जाता है।

3. अन्त:स्रावी (Endocrines), गले की गिलटियों (Tonsils) और लसीका सम्बन्धी ग्रंथियाँ (Lymphatic Glands) में तब्दीली हो जाती है।
4. प्रोटीनी कायांतरण (Protein Metabolism) में कमी आ जाती है,
5. फ़ास्फ़ेट्स और क्लोराइड्स के निष्कासन में कमी और हवाई घुमाव (Gaseous Metabolism) में गिरावट पैदा हो जाती है।
6. पाचन में रुकावट होती है और भोजन के प्रोटीनी अंशों और चर्बी के शरीर का अंश बनने में कमी हो जाती है।
7. साँस लेने की क्षमता में कमी और बोलनेवाले अंगों में ख़ास तब्दीलियां पैदा होती हैं।
8. मांसपेशियों में सुस्ती और एहसास में जड़ता पैदा हो जाती है।
9. मेधाशक्ति (ज़हानत) और विचारों को केन्द्रित करने की ताक़त कम हो जाती है।

ये तब्दीलियाँ एक तन्दुरुस्त औरत को बीमारी की हालत से इतना क़रीब कर देती हैं कि वास्तव में उस वक़्त सेहत और बीमारी के बीच कोई स्पष्ट रेखा खींचना मुश्किल हो जाता है। सौ में से मुश्किल से 23 औरतें ऐसी होती हैं जिनको माहवारी बिना किसी दर्द और तक्लीफ़ के आती हो। एक बार 1020 औरतों को, बिना किसी चुनाव के, लेकर उनके हालात की जांच की गई तो उनमें से 84 प्रतिशत ऐसी निकलीं जिनको मासिक धर्म के दिनों में दर्द और दूसरी क़िस्म की तक्लीफ़ों का सामना करना पड़ता था। डॉक्टर एमाइल नोविक, जो इस विज्ञान का बड़ा शोधक है, लिखता है –

> "मासिक धर्मवाली औरतों में आम तौर से जो स्थितियाँ पाई जाती हैं, वे ये हैं – सिर का दर्द, थकान, अंगों का टूटन, पुट्ठों की कमज़ोरी, तबियत की गिरावट, मसाने की बेचैनी, पाचन की ख़राबी, कुछ हालतों में क़ब्ज़, कभी-कभी मतली और क़ै। एक बड़ी तादाद ऐसी औरतों की है जिनकी छातियों में हल्का-सा दर्द

होता है और कभी-कभी वह इतना तेज़ हो जाता है कि टीसें-सी उठती मालूम होती हैं। कुछ औरतों का थाईराइड उस ज़माने में सूज जाता है, जिससे गला भारी हो जाता है। कभी-कभी अपच की शिकायत होती है और अक्सर सांस लेने में कठिनाई होती है। डॉक्टर क्रेगर ने जितनी औरतों का मुआयना किया, उनमें आधी ऐसी थीं जिनको मासिक-धर्म के दिनों में अपच की शिकायत हो जाती थी और आख़िरी दिनों में क़ब्ज़ हो जाता था। डॉक्टर गिबहार्ड का बयान है कि ऐसी औरतें बहुत कम देखने में आई हैं जिनको माहवारी के ज़माने में कोई तकलीफ़ न होती हो। ज़्यादातर ऐसी ही देखी गई हैं जिन्हें सिर का दर्द, थकन, नाभि के नीचे दर्द और भूख की कमी हो जाती है, तबियत में चिड़चिड़ापन पैदा हो जाता है और रोने को जी चाहता है।"

इन हालात के अनुसार यह कहना बिल्कुल सही है कि मासिक-धर्म के दिनों में औरत असल में बीमार होती है। यह एक बीमारी ही है जो उसे हर महीने होती रहती है।

इन जिस्मानी तब्दीलियों का असर लाज़िमी तौर पर औरत की दिमाग़ी ताक़त और उसके अंगों के कार्यों पर भी पड़ता है। सन् 1909 ई. में Dr.Voice Chevsky ने गहराई से जायज़ा लेने के बाद यह नतीजा ज़ाहिर किया था कि उस अवधि में औरत के अन्दर विचारों को केन्द्रित करने की और दिमाग़ी मेहनत करने की ताक़त कम हो जाती है। Prof. Krschisk Evsky मनोवैज्ञानिक सर्वेक्षण के बाद इस नतीजे पर पहुँचा कि उस अवधि में औरत मानसिक स्थिति में उग्रता आ जाती है। एहसासों में ठिठराव और असन्तुलन पैदा हो जाता है। परावर्त्ति क्रिया को ग्रहण करने की क्षमता कम और कभी-कभी खत्म हो जाती है, यहाँ तक कि पहले से ग्रहण की हुई उपर्युक्त क्षमता में भी अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिसकी वजह से उसके वे काम भी ठीक नहीं रहते जिनकी वह अपनी रोज़ाना की ज़िंदगी में आदी होती है। एक औरत जो ट्राम की कंडक्टर है, उस ज़माने में ग़लत टिकट काट देगी और रेज़गारी गिनने में उलझेगी। एक मोटर ड्राइवर औरत गाड़ी धीरे-धीरे और डरते-डरते

चलाएगी और हर मोड़ पर घबरा जाएगी। एक लेडी टाइपिस्ट ग़लत टाइप करेगी, देर में करेगी, कोशिश के बावुजूद शब्द छोड़ जाएगी, ग़लत वाक्य बनाएगी। किसी अक्षर पर उँगली मारनी चाहेगी और हाथ किसी पर जा पड़ेगा। एक बैरिस्टर औरत की तर्क-शक्ति ठीक न रहेगी और अपने मुक़द्दमे को पेश करने में उसका दिमाग़ और उसकी वाक-शक्ति दोनों ग़लती करेंगे। एक मजिस्ट्रेट औरत की तर्क-क्षमता और फ़ैसले की ताक़त दोनों पर असर पड़ेगा। एक डेंटिस्ट औरत को अपना काम करते वक़्त अपने काम के औज़ार मुश्किल से मिलेंगे। एक गानेवाली औरत अपने लहजे और आवाज़ की ख़ूबी खो देगी, यहाँ तक कि स्वर का एक विशेषज्ञ सिर्फ़ आवाज़ सुनकर बता देगा कि गानेवाली इस वक़्त मासिक-धर्म की स्थिति में है।

प्रोफ़ेसर लापिंस्की (Lapinsky) अपनी पुस्तक "The Development of Personality in Woman" में लिखता है कि मासिक-धर्म का ज़माना औरत को उसकी क्रिया-स्वतंत्रता से महरूम कर देता है। वह उस वक़्त असंतुलित गतियों की ग़ुलाम होती है और उसमें इरादे के साथ किसी काम को करने या न करने की ताक़त बहुत कम हो जाती है।

ये सभी तब्दीलियाँ एक तन्दुरुस्त औरत में होती हैं और आसानी के साथ बढ़कर रोग की शक्ल अपना सकती हैं। रिकार्ड पर ऐसी घटनाएँ बहुत ज़्यादा मौजूद हैं कि इस हालत में औरत पगली-सी हो जाती है। ज़रा-सी उत्तेजना पर ग़ुस्से से लाल हो जाना, वहशियाना और मूर्खतापूर्ण हरकतें कर बैठना, यहाँ तक कि आत्महत्या तक कर गुज़रना कोई असाधारण बात नहीं। डॉक्टर क्राफ़्ट एबिंग (Kraft Abeing) लिखता है कि रोज़मर्रा की ज़िंदगी में हम देखते हैं कि जो औरतें नर्म स्वभाव की, सलीक़ेमंद और अच्छे अख़लाक़ की होती हैं, उनकी हालत मासिक-धर्म आते ही यकायक बदल जाती है। यह ज़माना उनके ऊपर मानो एक तूफ़ान की तरह आता है। वे चिड़चिड़ी, झगड़ालू और कटखनी हो जाती हैं। नौकर, बच्चे और शौहर सब उनसे परेशान रहते हैं, यहाँ तक कि वे अजनबी लोगों से भी बुरी तरह पेश आने लगती हैं। कुछ दूसरे विशेषज्ञ गहरे चिन्तन के बाद इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि औरतों से अक्सर अपराध मासिक-धर्म की हालत में होते हैं, क्योंकि वे उस वक़्त अपने क़ाबू में नहीं होतीं। एक

अच्छी-ख़ासी नेक औरत उस ज़माने में चोरी कर गुज़रेगी और बाद में ख़ुद उसको अपने इस काम पर शर्म आएगी। वाइन बर्ग (Weinberg) अपने तजुर्बों की बुनियाद पर लिखता है कि आत्म-हत्या करने वाली औरतों में 50 प्रतिशत ऐसी पाई गई हैं जिन्होंने मासिक-धर्म के दिनों में यह काम किया है। इसी वजह से डॉ. क्राफ़्ट एबिंग की राय यह है कि बालिग़ औरतों पर जब किसी अपराध के लिए मुक़दूदमा चलाया जाए तो अदालत को इस बात की जाँच कर लेनी चाहिए कि यह जुर्म कहीं मासिक-धर्म की हालत में तो नहीं किया गया है।

मासिक-धर्म से ज़्यादा गर्भावस्था का ज़माना औरत पर सख़्त होता है। डॉक्टर रिप्रीफ़ (Reprev) लिखता है कि गर्भ के ज़माने में औरत के जिस्म से बेकार तत्त्वों का निकलना कभी-कभी उपवास की हालत से भी ज़्यादा मात्रा में होता है। उस ज़माने में औरत की ताक़त किसी तरह भी जिस्मानी और दिमाग़ी मेहनत का वह बोझ नहीं सँभाल सकती जो गर्भ के अलावा दूसरे दिनों में सँभाल सकती है। जो हालात उस ज़माने में औरत पर गुज़रते हैं, वे अगर मर्द पर गुज़रें या गर्भ के अलावा दिनों में ख़ुद औरत पर गुज़रें तो उन्हें निश्चय ही रोग-अवस्था कहा जाएगा। उस ज़माने में कई महीने तक उसकी दैहिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त रहती है, उसका दिमाग़ी सन्तुलन बिगड़ जाता है, उसके तमाम अभौतिक तत्त्व एक निरंतर दुर्व्यवस्था की हालत में होते हैं। वह रोग और सेहत के बीच रहती है और एक छोटी-सी वजह उसे बीमारी की सरहद में पहुंचा सकती है। डॉक्टर फ़िशर का बयान है कि एक तन्दुरुस्त औरत भी गर्भ के ज़माने में सख़्त अन्दरूनी बेचैनी में ग्रस्त रहती है। उसमें झुंझलाहट पैदा हो जाती है, विचार परेशान करते हैं, ज़ेहन में बिखराव होता है। चेतना, सोच-विचार और समझ-बूझ की क्षमता बहुत कम हो जाती है। हयूलाक एलियस और अलबर्ट मोल और कुछ दूसरे माहिरों के बीच इस बात पर मतैक्य पाया जाता है कि गर्भ के ज़माने का आख़िरी एक महीना तो हरगिज़ इस क़ाबिल नहीं रहता कि उसमें औरत से कोई जिस्मानी या दिमाग़ी मेहनत ली जाए।

बच्चा जनने के बाद बहुत-सी बीमारियों के पैदा होने और बढ़ने का डर रहता है। प्रजनन के घाव ज़हरीले असर क़बूल करने के लिए मुस्तैद रहते हैं। गर्भ से पहले की हालत पर वापस जाने के लिए अंगों में एक हरकत शुरू होती

है जो सारी जिस्मानी व्यवस्था को उलट-पलट देती है। अगर कोई ख़तरा न भी पेश आए तब भी उसको अपनी असली हालत पर आने में कई हफ़्ते लग जाते हैं। इस तरह गर्भ ठहरने के बाद से पूरे एक साल तक औरत हक़ीक़त में बीमार या कम से कम आधी बीमार होती है और उसमें कार्य-क्षमता आम हालात के मुक़ाबले में आधी, बल्कि उससे भी कम रह जाती है।

फिर दूध पिलाने का ज़माना ऐसा होता है जिसमें हक़ीक़त में वह अपने लिए नहीं जीती, बल्कि उस अमानत के लिए जीती है जो प्रकृति ने उसके सुपुर्द की है। उसके जिस्म का जौहर उसके बच्चे के लिए दूध बनता है। जो कुछ खाना वह खाती है, उसमें सिर्फ़ उतना ही हिस्सा उसके शरीर को मिलता है जितना उसे ज़िंदा रखने के लिए ज़रूरी है। बाक़ी सब का सब दूध बनने में ख़र्च होता है।

इसके बाद एक लम्बी मुद्दत तक बच्चे की परवरिश, निगरानी, देखभाल और तर्बियत पर उसको अपनी पूरी तवज्जोह लगा देनी पड़ती है।

आज के ज़माने में दूध पिलाने की समस्या का हल यह निकाला गया है कि बच्चों को बाहरी भोजन पर रखा जाए। लेकिन यह कोई सही हल नहीं है। इसलिए कि प्रकृति ने बच्चे की परवरिश का जो सामान माँ के सीने में रख दिया है, उसका सही बदल और कोई नहीं हो सकता। बच्चे को उससे महरूम करना ज़ुल्म और स्वार्थ के सिवा कुछ नहीं। सारे विशेषज्ञों की इस बात पर सहमति है कि बच्चे के सही विकास के लिए माँ के दूध से बेहतर कोई भोजन नहीं।[1]

इसी तरह बच्चों की तर्बियत के लिए भी नर्सिंग होम और बच्चों के ट्रेनिंग सेन्टर्स की तज्वीज़ें निकाली गई हैं, ताकि माएँ अपने बच्चों से चिन्तामुक्त होकर घर से बाहर के कामों में व्यस्त हो सकें, लेकिन किसी नर्सिंग होम और किसी ट्रेनिंग सेन्टर में माँ की ममता नहीं उपलब्ध कराई जा सकती। बचपन का

1. अब अनुसंधानों से पता चला है स्तन से बच्चे को दूध न पिलानेवाली स्त्रियों को स्तन-कैंसर होने लगा है। अतः कुछ स्त्रियाँ अब इस डर से अपने शिशुओं को स्तन-दुग्ध-पान कराने लगी हैं, किन्तु अधिकतर अपने यौवन-सौंदर्य को बहाल रखने के लिए स्तन-पान न कराने का रिस्क ले लेती हैं। (प्रकाशक)

आरंभिक ज़माना जिस मुहब्बत और हमदर्दी का मुहताज है, वह किराए की पालने-पोसने वालियों के सीने में कहाँ से आ सकती है। बच्चों के पालन-पोषण के ये नए तरीक़े अभी तक प्रयोग-सिद्ध नहीं हैं। अभी तक वे नस्लें फल-फूल भी नहीं लाई हैं, जो शिशु-पालन के इन कारख़ानों में तैयार की गई हैं। अभी तक उनकी सीरत, उनके अख़्लाक़, उनके कारनामे दुनिया के सामने नहीं आए हैं कि इस तजुर्बे की कामियाबी और नाकामी के बारे में कोई राय क़ायम की जा सके। इसलिए इस तरीक़े के बारे में यह दावा करना वक़्त से पहले की बात है कि दुनिया ने माँ की गोद का सही बदल पा लिया है। कम से कम इस वक़्त तक तो यह हक़ीक़त अपनी जगह क़ायम है कि बच्चे का स्वाभाविक दीक्षा-केन्द्र उस की माँ की गोद ही है।

अब यह बात एक मामूली अक़्ल का आदमी भी समझ सकता है कि अगर औरत और मर्द दोनों की जिस्मानी और दिमाग़ी ताक़त और क्षमता बिल्कुल बराबर भी है, तब भी प्रकृति ने दोनों पर बराबर बोझ नहीं डाला है। इंसानी नस्ल को बाक़ी रखने के लिए बीजारोपण के सिवा और कोई काम मर्द के सुपुर्द नहीं किया गया। इसके बाद वह बिल्कुल आज़ाद है, ज़िंदगी के जिस विभाग में चाहे काम करे। इसके विपरीत इस सेवा का पूरा बोझ औरत पर डाल दिया गया है। इसी बोझ के सँभालने के लिए उसको उस वक़्त से मुस्तैद किया जाता है जबकि वह माँ के पेट में सिर्फ़ गोश्त का एक लोथड़ा होती है उसके जिस्म की सारी की सारी मशीन उसी काम के लिए उपयुक्त बना दी जाती है। इसी के लिए उसपर जवानी के पूरे ज़माने में मासिक-धर्म के दौरे आते हैं, जो हर महीने में तीन से लेकर सात या दस दिन तक उसको किसी बड़ी ज़िम्मेदारी का बोझ सँभालने और कोई अहम जिस्मानी या दिमाग़ी मेहनत करने के क़ाबिल नहीं रखते। इसी के लिए उसपर गर्भ और गर्भ के बाद का पूरा एक साल सख़्तियाँ झेलते गुज़रता है, जिसमें वह वास्तव में अधमरी होती है। इसी के लिए उसपर दूध पिलाने के पूरे दो साल इस तरह गुज़रते हैं कि वह अपने ख़ून से इंसानियत की खेती को सींचती है और उसे अपने सीने की नहरों से सिंचित करती है। इसी के लिए उसपर बच्चे की आरंभिक परवरिश के कई साल इस मेहनत व मशक़्क़त में गुज़रते हैं कि उसपर रात की नींद और दिन का

आराम हराम होता है और वह अपना आराम, अपना आनन्द, अपनी ख़ुशी, अपनी ख़्वाहिश, हर चीज़ को आनेवाली नस्ल पर क़ुरबान कर देती है।

जब हाल यह है तो ग़ौर कीजिए कि न्याय का तक़ाज़ा क्या है ? क्या न्याय यही है कि औरत से उन प्राकृतिक ज़िम्मेदारियों के निभाने की माँग भी की जाए जिनमें मर्द उसका शरीक नहीं है और फिर उन सांस्कृतिक ज़िम्मेदारियों का बोझ भी उसपर मर्द के बराबर डाल दिया जाए, जिनको सँभालने के लिए मर्द को फ़ितरत की तमाम ज़िम्मेदारियों से आज़ाद रखा गया है। उससे कहा जाए कि तू वे सारी मुसीबतें भी सहन कर जो प्रकृति ने तेरे ऊपर डाली हैं और फिर हमारे साथ आकर रोज़ी कमाने की मशक़्क़तें भी उठा, राजनीति और न्यायालय, घरेलू उद्योग-धंधे और इंडस्ट्रीज़, व्यापार और खेती, शान्ति-स्थापना और राष्ट्र-सुरक्षा की सेवाओं में भी बराबर का हिस्सा ले, हमारी सोसाइटी में आकर हमारा दिल भी बहला और हमारे लिए ऐश, ख़ुशी, आनन्द और राहत के सामान भी जुटा ? यह न्याय नहीं है, अत्याचार है। बराबरी नहीं है, खुली नाबराबरी है। न्याय का तक़ाज़ा तो यह होना चाहिए कि जिसपर प्रकृति ने बहुत ज़्यादा बोझ डाला है उसको समाज के हलके-फुलके काम सुपुर्द किए जाएँ और जिसपर प्रकृति ने कोई बोझ नहीं डाला, उसपर समाज की अहम, भारी और ज़्यादा मेहनत तलब ज़िम्मेदारियों का बोझ डाला जाए और उसी के सुपुर्द यह सेवा भी की जाए कि वह ख़ानदान की परवरिश और उसकी हिफ़ाज़त करे।

सिर्फ़ यही नहीं कि औरत पर घर के बाहर की ज़िम्मेदारियाँ डालना ज़ुल्म है, बल्कि हक़ीक़त में वह उन मर्दाना सेवाओं को अंजाम देने के पूरी तरह योग्य भी नहीं है जिनका ज़िक्र ऊपर किया गया है। इन कामों के लिए वही कार्यकर्त्ता उपयुक्त हो सकते हैं जिनकी कार्य-शक्ति मज़बूत हो, जो लगातार और हमेशा अपनी ज़िम्मेदारियों को समान योग्यता के साथ अंजाम दे सकते हों और जिनकी दिमाग़ी और जिस्मानी ताक़तों पर भरोसा किया जा सकता हो। लेकिन जिन कार्यकर्त्ताओं पर हमेशा हर महीने कई-कई दिनों के लिए अयोग्यता के या योग्यता की कमी के दौरे पड़ते हों और जिनकी कार्य-क्षमता बार-बार अभीष्ट स्तर से घट जाया करती हो, वे किस तरह इन ज़िम्मेदारियों का बोझ उठा सकते हैं ? उस फ़ौज या समुद्री बेड़े की हालत का अन्दाज़ा कीजिए जो औरतों पर

सम्मिलित हो और जिसमें ठीक लड़ाई के वक़्त कई प्रतिशत तो मासिक-धर्म की वजह से आधी बेकार हो रही हों, एक बड़ी तादाद बच्चा जनने के बाद की हालत में बिस्तरों पर पड़ी हो और एक भारी तादाद गर्भवती होने की वजह से काम करने के क़ाबिल ही न रही हो। फ़ौज की मिसाल को आप कह देंगे कि यह ज़्यादा सख़्त क़िस्म की ज़िम्मेदारियों से ताल्लुक़ रखती है, मगर पुलिस, अदालत, प्रशासनिक विभाग, राजनयिक सेवाएँ, रेलवे, इंडस्ट्रीज़ और व्यापार के काम, इनमें से किसकी ज़िम्मेदारियाँ ऐसी हैं जो लगातार भरोसेमंद कार्य-क्षमता न चाहती हो? अतः जो लोग औरतों से मर्दाना काम लेना चाहते हैं, उनका मतलब शायद यह है कि या तो सब औरतों को औरत विहीन बनाकर इंसानी नस्ल का ख़ात्मा कर दिया जाए या यह कि उनमें से कुछ प्रतिशत निश्चित रूप से औरत-विहीन बनने की सज़ा के लिए चुनी जाती रहें या यह कि समाज के तमाम मामलों के लिए योग्यता का स्तर आम तौर से घटा दिया जाए।

मगर आप इनमें से चाहे कोई शक्ल भी अपनाएँ, औरत को मर्दाना कामों के लिए तैयार करना बिल्कुल ही प्रकृति के तक़ाज़ों और प्रकृति के उसूलों के ख़िलाफ़ है, और यह चीज़ न इंसानियत के लिए फ़ायदेमंद है और न ख़ुद औरत के लिए। चूंकि जीव-विज्ञान (Biology) के मुताबिक़ औरत को बच्चे की पैदाइश और परवरिश ही के लिए बनाया गया है, इसलिए प्रकृति और भावनाओं के दायरे में भी उसके अन्दर वही क्षमताएँ भर दी गई हैं जो उसकी प्राकृतिक ज़िम्मेदारियों के लिए मुनासिब हैं। यानी मुहब्बत, हमदर्दी, दया एवं दयादृष्टि, मन की भावुकता, अति संवेदनशीलता और भावनाओं की कोमलता; और चूंकि यौन-जीवन में मर्द को क्रिया का और औरत को प्रभावितता की जगह दी गई है, इसलिए औरत के अन्दर तमाम वही ख़ूबियाँ पैदा की गई हैं जो उसे ज़िंदगी के सिर्फ़ प्रभाव ग्रहण करने के पहलू से काम करने के लिए तैयार करती हैं। उसके भीतर सख़्ती और तेज़ी के बजाए नर्मी, कोमलता और लचक है। उसमें असर डालने के बजाए असर क़बूल करने की भावना है। वह क्रिया बनने के बजाए क्रिया के प्रभाव में आ जाती है। उसके अन्दर जमने और ठहरने के बजाए झुकने और ढल जाने की क्षमता है। बेबाकी और साहस के बजाए मना व फ़रार और रुकावट है। क्या इन ख़ूबियों को लेकर वह कभी उन कामों

के अनुकूल हो सकती है और ज़िंदगी के उन दायरों में कामियाब हो सकती है, जो कठोरता, रोब-दाब, प्रतिरोध और दृढ़ स्वभाव चाहते हैं, जिनमें नर्म भावनाओं के बजाए मज़बूत इरादे और बे-लाग राय की ज़रूरत है? समाज और संस्कृति के इन विभागों में औरत को घसीट लाना ख़ुद उसको भी बर्बाद करना है और उन विभागों को भी।

इसमें औरत के लिए तरक़्क़ी नहीं, बल्कि गिरावट है। तरक़्क़ी इसको नहीं कहते कि किसी की स्वाभाविक क्षमताओं को दबाया और मिटाया जाए और उसमें बनावटी तौर पर वे योग्यताएँ पैदा करने की कोशिश की जाएँ जो प्राकृतिक तौर पर उसके भीतर न हों। बल्कि तरक़्क़ी इसका नाम है कि स्वाभाविक क्षमताओं को उभारा जाए, उनको निखरा और चमकाया जाए और उनके लिए बेहतर अमल के मौक़े पैदा किए जाएँ।

इसमें औरत के लिए कामियाबी नहीं, बल्कि नाकामी है। ज़िंदगी के एक पहलू में औरतें कमज़ोर हैं और मर्द बढ़े हुए हैं। दूसरे पहलू में मर्द कमज़ोर हैं और औरतें बढ़ी हुई हैं। आप बेचारी औरतों को उस पहलू में मर्द के मुक़ाबले पर लाते हैं, जिसमें वे कमज़ोर हैं। इसका अनिवार्य परिणाम यही निकलेगा कि औरतें हमेशा मर्दों से कमतर रहेंगी। आप चाहे जितने उपाय कर लें, सम्भव नहीं है कि औरत-जाति से अरस्तू, इब्ने-सीना, कांट, हेगल, ख़य्याम, शेक्सपियर, सिकन्दर, निपोलियन, सलाहुद्दीन, निज़ामुल-मुल्क तूसी और बिस्मार्क की टक्कर का एक व्यक्ति भी पैदा हो सके। इसी प्रकार तमाम दुनिया के मर्द चाहे कितना ही सर मार लें, वे अपनी पूरी जाति में से एक मामूली दर्जे की माँ भी पैदा नहीं कर सकते।

इसमें ख़ुद समाज और संस्कृति का भी फ़ायदा नहीं, बल्कि नुक़सान है। इंसानी ज़िंदगी और सभ्यता को जितनी ज़रूरत मज़बूती, सख़्ती और जमाव की है, उतनी ही ज़रूरत नर्मी, बहाव और लचक की भी है। जितनी ज़रूरत अच्छे सेनापतियों, अच्छे प्रशासकों और अच्छे हाकिमों की है, उतनी ही ज़रूरत अच्छी माओं, अच्छी बीवियों और अच्छी गृहणियों की भी है। दोनों तत्वों में से जिसको भी गिराया जाएगा, समाज और संस्कृति को बहरहाल नुक़सान उठाना पड़ेगा।

काम का यह वह बँटवारा है, जो ख़ुद प्रकृति ने इंसान की दोनों जातियों के बीच कर दिया है। जीव-विज्ञान, अंग-विज्ञान, मनोविज्ञान और समाज के समस्त विज्ञान इस बँटवारे की ओर इशारा कर रहे हैं। बच्चा जनने और पालने की ख़िदमत का औरत के सुपुर्द होना एक ऐसा निर्णायक तथ्य है जो अपने आप इंसानी समाज और संस्कृति में उसके लिए काम का एक दायरा निश्चित कर देता है और किसी बनावटी उपाय में यह ताक़त नहीं है कि प्रकृति के इस फ़ैसले को बदल सके। एक अच्छा समाज और संस्कृति वही हो सकती है जो एक तो इस फ़ैसले को ज्यों का त्यों क़बूल करे, फिर औरत को उसकी सही जगह पर रखकर उसे समाज में इज़्ज़त की जगह दे। उसके जायज़ सांस्कृतिक व आर्थिक हक़ों को माने, उसपर सिर्फ़ घर की ज़िम्मेदारियों का बोझ डाले और घर के बाहर की ज़िम्मेदारियों और ख़ानदान के संचालन को मर्द के सुपुर्द कर दे। जो समाज और संस्कृति इस बँटवारे को मिटाने की कोशिश करेगी, वह अस्थायी रूप से भौतिक हैसियत से उन्नति और शान व शौकत की कुछ चीज़ें पेश कर सकती है, लेकिन आख़िरकार ऐसी संस्कृति की बर्बादी निश्चित है। क्योंकि जब औरत पर मर्द के बराबर आर्थिक व सांस्कृतिक ज़िम्मेदारियों का बोझ डाला जाएगा तो वह अपने ऊपर से स्वाभाविक कर्तव्यों का बोझ उतार फेंकेगी[1] और उसका नतीजा न सिर्फ़ संस्कृति, बल्कि स्वयं मानवता की बर्बादी होगा। औरत अपनी स्वाभाविक तबियत और अपनी प्राकृतिक बनावट के ख़िलाफ़ अगर कोशिश भी करे तो किसी न किसी हद तक मर्द के सब कामों का बोझ सँभाल ले जाएगी, लेकिन मर्द किसी तरह भी अपने आपको बच्चे जनने और पालने के क़ाबिल नहीं बना सकता।

1. यह मात्र तर्क या संभावना ही नहीं, बल्कि एक व्यावहारिक तथ्य है। मर्द के बराबर आर्थिक व सांस्कृतिक ज़िम्मेदारियों का बोझ पड़ जाने के बाद ही औरत की अपनी स्वाभाविक ज़िम्मेदारियाँ (नस्ल की उत्पत्ति, उठान, पालन-पोषण आदि---और इस सबके लिए घरेलू कामों की अदाएगी करते हुए घर में ही मौजूद रहना) भारी बोझ बन गईं। इसके पश्चात् गर्भ-निरोध और गर्भपात् भी होने लगा। भ्रूण-हत्या (Foeticide) का यह भी एक प्रेरक बना। बच्चों के पालन-पोषण के लिए माँ की गोद, स्नेह व ममता की जगह दाई, आया, नौकरानी और शिशुपालन-गृहों (Creches) ने ले ली, क्योंकि माँ ने अपने कर्तव्यों का यह बोझ अपने ऊपर से उतार फेंका। (प्रकाशक)

प्रकृति के काम के इस बँटवारे के अनुसार ख़ानदान का जो गठन होगा और रहन-सहन में मर्द व औरत की ज़िम्मेदारियों को जिस तरह निश्चित किया जाएगा, उसके ज़रूरी हिस्से अनिवार्यत: इस तरह होंगे–

1. ख़ानदान के लिए रोज़ी कमाना, उसकी हिमायत व हिफ़ाज़त करना और समाज व संस्कृति की श्रमपूर्ण सेवाओं का अदा करना मर्द का काम हो और उसकी तालीम व तर्बियत इस तरह हो कि वह इन उद्देश्यों के लिए ज़्यादा से ज़्यादा लाभदायक बन सके।
2. बच्चों की परवरिश, गृहस्थी की ज़िम्मेदारियाँ और घर की ज़िंदगी को सुकून व राहत की जन्नत बनाना औरत का काम हो और उसको बेहतर से बेहतर तालीम व तर्बियत देकर इन्हीं उद्देश्यों के लिए तैयार किया जाए।
3. ख़ानदान की व्यवस्था को बनाए रखने और उसको बिखराव और अराजकता से बचाने के लिए एक व्यक्ति को क़ानूनी हदों के अन्दर ज़रूरी प्रशासकीय अधिकार प्राप्त हों, ताकि ख़ानदान एक बे-सिरी फ़ौज बनकर न रह जाए। ऐसा व्यक्ति सिर्फ़ मर्द ही हो सकता है, क्योंकि ख़ानदान के जिस सदस्य के दिमाग़ और दिल की हालत बार-बार माहवारी के दिनों में और गर्भ के ज़माने में बिगड़ती हो, वह बहरहाल इन अधिकारों को इस्तेमाल करने के क़ाबिल नहीं हो सकता।
4. समाज और संस्कृति की व्यवस्था में इस बंटवारे और तर्बियत और संगठन को बाक़ी रखने के लिए ऐसे आवश्यक संरक्षणात्मक प्रावधान किए जाएँ कि बे-अक़्ल लोग अपनी मूर्खता से मर्दों और औरतों के कार्य-क्षेत्रों को मिलाकर इस अच्छी सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था को तलपट न कर सकें।

अध्याय-8

इंसानी कमज़ोरियाँ

पिछले पन्नों में विशुद्ध ज्ञानपूर्ण खोजों और वैज्ञानिक परीक्षणों एवं अनुभवों की मदद से हमने यह दिखाने की कोशिश की है कि अगर इंसानी प्रकृति के तक़ाज़ों और इंसान की मानसिक प्रवृत्ति और जिस्मानी बनावट के तमाम पहलुओं पर विचार करके समाज और संस्कृति की एक सही व्यवस्था बनाई जाए तो लैंगिक मामलों की हद तक उसके ज़रूरी उसूल और बुनियादें क्या होनी चाहिएँ। इस बहस में कोई चीज़ ऐसी नहीं बयान की गई है जो उलझन में डाल दे या जिसपर आपत्ति की गुंजाइश हो। जो कुछ कहा गया है वह ज्ञान व विवेक की मज़बूत दलीलों में से है, और आम तौर से सभी ज्ञान और विवेक वाले इसे जानते हैं, लेकिन इंसानी मजबूरी का कमाल देखिए कि जितनी सांस्कृतिक-व्यवस्थाएँ ख़ुद इंसान ने गढ़ रखी हैं, उनमें से एक में भी प्रकृति की इन जानी-पहचानी हिदायतों को पूरे का पूरा और आनुपातिक रूप से ध्यान में नहीं रखा गया है। यह तो स्पष्ट है कि इंसान ख़ुद अपनी प्रकृति के तक़ाज़ों से अपरिचित नहीं है। उससे ख़ुद अपनी ज़ेहनी हालत और जिस्मानी ख़ूबियाँ छिपी हुई नहीं हैं, मगर इसके बावुजूद यह हक़ीक़त बिल्कुल खुली हुई है कि आज तक वह कोई ऐसी संतुलित सांस्कृतिक-व्यवस्था बनाने में कामियाब न हो सका जिसके उसूलों और तरीक़ों में पूरे संतुलन के साथ इन सब तक़ाज़ों, ख़ूबियों, मस्लहतों और मक़सदों को ध्यान में रखा गया हो।

नाकामी की असल वजह

इसकी वजह वही है जिसकी ओर हम इस पुस्तक के शुरू में इशारा कर चुके हैं। इंसान की यह स्वाभाविक कमज़ोरी है कि उसकी नज़र किसी मामले के तमाम पहलुओं पर पूर्णतः हावी नहीं हो सकती। हमेशा कोई एक पहलू उसे ज़्यादा अपील करता है और अपनी ओर खींच लेता है। फिर जब वह एक ओर झुक जाता है तो दूसरी दिशाएँ या तो उसकी नज़र से बिल्कुल ही ओझल हो

जाती हैं या वह जान-बूझकर उन्हें नज़रअंदाज़ कर देता है। ज़िंदगी के छोटे और व्यक्तिगत मामलों तक में इंसान की यह कमज़ोरी साफ़ नज़र आती है। फिर कैसे संभव है कि संस्कृति व सभ्यता की बड़ी-बड़ी समस्याएँ, जिनमें से हर एक अपने भीतर अनगिनत खुले और छिपे पहलू रखता है, इस कमज़ोरी के असर से सुरक्षित रह जाएँ। ज्ञान और बुद्धि की दौलत से इंसान को मालामाल तो ज़रूर किया गया है, मगर आम तौर से ज़िंदगी के मामलों में मात्र बौद्धिकता उसकी रहनुमा नहीं होती। भावनाएँ और रुझान पहले उसको एक रुख़ पर मोड़ देते हैं, फिर जब वह इस ख़ास रुख़ की ओर आकृष्ट हो जाता है तब बुद्धि से दलील लाता है और ज्ञान से मदद लेता है। इस हालत में अगर ख़ुद उसका ज्ञान उसको मामले के दूसरे रुख़ दिखाए और उसकी अपनी बुद्धि उसकी यकरुख़ी पर चेतावनी दे, तब भी वह अपनी ग़लती स्वीकार नहीं करता, बल्कि ज्ञान और बुद्धि को मजबूर करता है कि उसके रुझान के समर्थन में दलीलें जुटाए।

कुछ स्पष्ट उदाहरण

सामाजिकता की जिस समस्या से इस वक़्त हम बहस कर रहे हैं, उसमें इंसान की यही यकरुख़ी अपनी अतिवादिता की पूरी शान के साथ प्रकट हुई है।

एक गरोह अख़लाक़ और रूहानियत के पहलू की ओर झुका और उसमें यहाँ तक आगे बढ़ गया कि औरत और मर्द के यौन-सम्बन्ध ही को सिरे से नफ़रत के क़ाबिल चीज़ क़रार दे बैठा। यह असन्तुलन हमें बौद्ध मत, ईसाइयत और कुछ हिन्दू मतों में नज़र आता है, और इसी का असर है कि अब तक दुनिया के एक बड़े हिस्से में यौन-सम्बन्ध को अपने आप में एक बुराई समझा जाता है, चाहे वह विवाह के दायरे में हो या उससे बाहर। इसका नतीजा क्या हुआ? यह कि संन्यासवाद की अप्राकृतिक व असभ्य ज़िंदगी को अख़लाक़ और मन की शुद्धता व पवित्रता का लक्ष्य समझा गया। मानव-जाति के बहुत-से लोगों ने, जिनमें मर्द भी हैं और औरतें भी, अपनी ज़ेहनी और जिस्मानी ताक़तों को प्रकृति से विमुखता, बल्कि संघर्ष में बरबाद कर दिया और जो लोग प्रकृति के तक़ाज़ों से आपस में मिले भी तो इस तरह जैसे कोई आदमी मजबूर होकर अपनी किसी गन्दी ज़रूरत को पूरा करता है। ज़ाहिर है कि इस क़िस्म का ताल्लुक़ न तो मियाँ-बीवी के दर्मियान मुहब्बत और आपसी मदद का ताल्लुक़

बन सकता है और न इससे कोई भली और विकासशील संस्कृति वुजूद में आ सकती है। यही नहीं बल्कि सामाजिक व्यवस्था में औरत के रुत्बे को गिराने की ज़िम्मेदारी भी बड़ी हद तक इसी कथित अख़लाक़ी धारणा पर है। संन्यास के माननेवालों ने यौनाकर्षण को शैतानी भ्रम और इस आकर्षण की प्रेरक, यानी औरत को शैतान का एजेंट क़रार दिया, और उसको ऐसा नापाक वुजूद ठहराया, जिससे नफ़रत करना हर उस आदमी के लिए ज़रूरी है जो मन की पाकी चाहता हो। ईसाई, बौद्ध और हिन्दू साहित्य में औरत की यही धारणा छाई हुई है। जो सामाजिक व्यवस्था इस धारणा के तहत तैयार की गई हो उसमें औरत का दर्जा जैसा कुछ हो सकता है, उसका अन्दाज़ा लगाना कुछ मुश्किल नहीं।

इसके विपरीत दूसरे गरोह ने इंसान के जिस्मानी तक़ाज़ों की रिआयत की तो उसमें इतना आगे निकल गया कि इंसानी प्रकृति तो दूर की बात, हैवानी प्रकृति के तक़ाज़ों को भी नज़रअंदाज़ कर दिया। पाश्चात्य संस्कृति में यह स्थिति इतनी स्पष्ट हो चुकी है कि अब छिपाए नहीं छिप सकती। इसके क़ानून में व्यभिचार कोई जुर्म ही नहीं है। जुर्म अगर है तो ज़ोर-ज़बरदस्ती है, या किसी दूसरे के क़ानूनी हक़ में दख़लअंदाज़ी। इन दोनों में से किसी जुर्म में शिर्कत न हो तो व्यभिचार (यानी यौन-सम्बन्ध का अतिक्रमण) अपने आप में कोई दण्डनीय अपराध, यहाँ तक कि कोई लज्जाजनक नैतिक दोष भी नहीं है। यहाँ तक तो वह कम से कम हैवानी प्रकृति की हद में था, लेकिन इसके बाद वह इससे भी आगे बढ़ा। उसने यौन-सम्बन्ध के हैवानी मक़सद यानी बच्चा जनने और नस्ल को बाक़ी रखने को भी नज़रअंदाज़ कर दिया और उसे सिर्फ़ शारीरिक आनंद और स्वाद पाने का साधन बना लिया। यहाँ पहुँचकर वही इंसान, जो बेहतरीन बनावट पर पैदा किया गया था, सबसे निचले गढ़े में गिर जाता है। पहले वह अपनी इंसानी प्रकृति से हटकर हैवानों का सा विघटित यौन-सम्बन्ध अपनाता है, जो किसी संस्कृति की बुनियाद नहीं बन सकता। फिर वह अपनी हैवानी प्रकृति से भी विचलित होता है और इस ताल्लुक़ के प्राकृतिक नतीजे यानी औलाद की पैदाइश को भी रोक देता है, ताकि दुनिया में उसकी नस्ल को बाक़ी रखनेवाली नस्लें वुजूद ही में न आने पाएँ।

एक गरोह ने ख़ानदान की अहमियत को महसूस किया, तो उसका गठन इतने प्रतिबन्धों के साथ किया कि व्यक्ति को जकड़कर रख दिया और अधिकारों और कर्त्तव्यों में कोई सन्तुलन ही बाक़ी न रखा। उसमें औरत के लिए इरादे और अमल की कोई आज़ादी नहीं। सामाजिक और आर्थिक मामलों में उसका कोई हक़ नहीं। वह लड़की है तो दासी है, बीवी है तो दासी है, माँ है तो दासी है, बेवा है तो दासी से भी बदतर, ज़िंदा ही दफ़न की हुई है। उसके हिस्से में सिर्फ़ कर्त्तव्य ही कर्त्तव्य हैं, अधिकारों के ख़ाने में एक विशाल शून्य के सिवा कुछ नहीं। समाज की इस व्यवस्था में औरत को शुरू ही से एक बे-ज़बान जानवर बनाने की कोशिश की जाती है, ताकि उसमें सिरे से अपने स्वाभिमान का कोई एहसास पैदा ही न हो। बेशक इस तरीक़े से ख़ानदान की बुनियादों को बहुत मज़बूत कर दिया गया और औरत के विद्रोह की कोई संभावना शेष न रही। लेकिन समाज के पूरे आधे हिस्से को रुस्वा और पस्त करके इस सामाजिक व्यवस्था ने वास्तव में अपने निर्माण और तरक़्क़ी में ख़राबी की शक्ल और बड़ी ख़तरनाक शक्ल पैदा कर दी, जिसके नतीजों को अब ख़ुद इस गरोह के लोग भी महसूस कर रहे हैं।

एक दूसरे गरोह ने औरत के दर्जे को ऊँचा उठाने की कोशिश की और उसको इरादे व अमल की आज़ादी दी तो उसमें इतना हद से आगे बढ़ गया कि ख़ानदान के बन्धन ही टूट गए। बीवी है तो आज़ाद, बेटी है तो आज़ाद, बेटा है तो आज़ाद, ख़ानदान का हक़ीक़त में कोई सिरधरा नहीं है, किसी का कोई निगराँ नहीं। बीवी से शौहर नहीं पूछ सकता कि तूने रात कहाँ बसर की। बेटी से बाप नहीं पूछ सकता कि तू किससे मिलती है और कहाँ जाती है। मियाँ-बीवी वास्तव में दो बराबर के दोस्त हैं जो समान शर्तों के साथ मिलकर एक घर बनाते हैं और औलाद की हैसियत उस समिति में सिर्फ़ छोटे सदस्यों की-सी है। मिज़ाजों और तबीयतों का ज़रा-सा बे-मेल होना इस बने हुए घर को किसी भी वक़्त बिगाड़ सकता है, क्योंकि आज्ञापालन का ज़रूरी हिस्सा जो हर व्यवस्था को बाक़ी रखने के लिए ज़रूरी है, इस गरोह में सिरे से मौजूद ही नहीं। यह पश्चिमी समाज है। वही पश्चिमी समाज जिसके ध्वजावाहकों को संस्कृति और सामाजिक-विज्ञान में पैग़म्बरी का दावा है। उनकी पैग़म्बरी का सही हाल

आपको देखना हो तो यूरोप और अमेरिका के विवाह व तलाक़ की किसी अदालत या किसी बाल-अपराध अदालत (Juvenile Court) की रिपोर्ट उठाकर देख लीजिए। अभी हॉल में इंग्लैंड के होम आफ़िस से अपराधों के जो आंकड़े छपे हैं उनसे मालूम होता है कि कमसिन लड़कों और लड़कियों में अपराधों की तादाद दिन प्रति-दिन बढ़ती चली जा रही है और इसकी ख़ास वजह यह बयान की गई है कि ख़ानदान का डिसिप्लिन बहुत कमज़ोर हो गया है। देखिए : Blue Book of Crime Statistics 1934.

इंसान और ख़ास तौर पर औरत की प्रकृति में शर्म व हया का जो तत्त्व रखा गया है उसको ठीक-ठीक समझने और अमलन लिबास और रहन-सहन की शैली के भीतर उसकी सही नुमाइन्दगी करने में तो किसी इंसानी संस्कृति को कामयाबी नहीं हुई। शर्म व हया को इंसान और ख़ासकर औरत की बेहतरीन ख़ूबियों में गिना गया है, मगर लिबास और रहन-सहन में उसका प्रकटिकरण किसी बौद्धिक तरीक़े और किसी सुव्यवस्थित नियम की शक्ल में नहीं हुआ। छिपाने योग्य अंग की सही हदें निश्चित करने और उनको एकरूपता के साथ ध्यान में रखने की किसी ने कोशिश नहीं की। मर्दों और औरतों के लिबास और उनके तौर-तरीक़ों में हयादारी और मर्यादा की शक्लें किसी उसूल के तहत मुक़र्रर नहीं की गईं। रहन-सहन में मर्द और मर्द, औरत और औरत, मर्द और औरत के बीच परदे और बे-परदगी की मुनासिब और उचित हदबन्दी की ही नहीं गई। सभ्यता, शिष्टता और सामान्य नैतिकता के पहलू से यह मामला जितना महत्त्वपूर्ण था, उतना ही उसके साथ जान-बूझ कर ग़फ़लत की गई। इसे कुछ तो रस्म व रिवाज पर छोड़ दिया गया, हालांकि रस्म व रिवाज सामूहिक हालात के साथ बदल जानेवाली चीज़ है और कुछ व्यक्तियों के निजी रुझान और चुनाव पर छोड़ दिया गया, हालांकि शर्म व हया के जज़्बे के पहलू से न सारे लोग बराबर हैं और न हर आदमी इतना अच्छा ज़ौक़ और चुनाव की सही ताक़त रखता है कि अपनी इस भावना के अनुसार ख़ुद कोई मुनासिब तरीक़ा अपना सके। इसी का नतीजा है कि विभिन्न गिरोहों के पहनावे और रहन-सहन में हयादारी और बेहयाई का अनोखा सम्मिश्रण नज़र आता है, जिसमें कोई बौद्धिक औचित्य, कोई एक रूपता, कोई समानता, किसी उसूल की पाबन्दी

नहीं पाई जाती। पूर्वी देशों में तो यह चीज़ सिर्फ़ बे-ढंगेपन ही तक सीमित रही, लेकिन पाश्चात्य क़ौमों के पहनावे और रहन-सहन में जब बेहयाई का तत्त्व हद से ज़्यादा बढ़ा तो उन्होंने सिरे से शर्म व हया की जड़ ही काट दी। उनका नया दृष्टिकोण यह है कि शर्म व हया असूल में कोई प्राकृतिक भावना ही नहीं है, बल्कि सिर्फ़ कपड़ा पहनने की आदत ने उसे पैदा कर दिया है। छिपाने योग्य अंग और हयादारी का कोई ताल्लुक़ अख़लाक़ और शिष्टता से नहीं, बल्कि वह तो हक़ीक़त में इंसान के यौन-प्रेरकों को उत्तेजित करनेवाले कारकों में से एक कारक है।[1] बेहयाई के इसी फ़लसफ़े (दर्शन) की व्यावहारिक व्याख्याएं हैं वे अधनंगे पहनावे, वे शारीरिक सौन्दर्य की प्रतियोगिताएँ, वे नंगे नाच, वे नंगी तस्वीरें, वे स्टेज पर अश्लीलता का प्रदर्शन, वह नग्नता (Nudism) का प्रति दिन विकासोन्मुख आन्दोलन और वह विशुद्ध हैवानियत की ओर इंसान की वापसी।

यही असन्तुलन इस मसले के दूसरे पहलुओं में भी नज़र आता है।

जिन लोगों ने अख़लाक़ और पाकदामनी को अहमियत दी, उन्होंने औरत की हिफ़ाज़त एक जानदार, सूझ-बूझवाले जीव के वुजूद की हैसियत से नहीं की, बल्कि एक बेजान ज़ेवर, एक क़ीमती पत्थर की तरह की और उसकी तालीम व तर्बियत के विषय को नज़रअंदाज़ कर दिया। हालांकि सभ्यता व संस्कृति की बेहतरी के लिए यह विषय औरत के हक़ में भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना मर्द के लिए था। इसके विपरीत जिन्होंने तालीम व तर्बियत की अहमियत को महसूस किया, उन्होंने अख़लाक़ और पाकदामनी की अहमियत को नज़रअंदाज़ करके एक दूसरी हैसियत से संस्कृति व सभ्यता की तबाही का सामान जुटा दिया।

जिन लोगों ने प्राकृतिक कार्य-क्षेत्र के बँटवारे को ध्यान में रखा, उन्होंने संस्कृति व सभ्यता की सेवाओं में से सिर्फ़ गृहस्थी और बच्चों की तर्बियत की ज़िम्मेदारियाँ औरत पर डालीं और मर्द के ज़िम्मे रोज़ी जुटाने का काम सौंपा। लेकिन इस बँटवारे में वे सन्तुलन बाक़ी न रख सके। उन्होंने औरत से सारे

---

1. यह ठीक वही विचार है जो वेस्टर मार्क (Wester Marck) ने अपनी पुस्तक The History of Human Marriage में ज़ाहिर किया है।

आर्थिक अधिकार छीन लिए, विरासत में उसको किसी क़िस्म का हक़ न दिया, मिल्कियत के सारे हक़ मर्दों को दे दिए और इस तरह आर्थिक हैसियत से औरत को बिल्कुल विवश करके औरत और मर्द के दर्मियान वास्तव में दासी और स्वामी का ताल्लुक़ क़ायम कर दिया। इसके मुक़ाबले में एक दूसरा गरोह उठा जिसने इस बे-इंसाफ़ी को ख़त्म करना चाहा और औरत को उसके आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकार दिलाने का इरादा किया। परन्तु वे लोग एक दूसरी ग़लती कर बैठे। उनके दिमाग़ों पर भौतिकता का भूत सवार था, इसलिए उन्होंने औरत को आर्थिक व सांस्कृतिक ग़ुलामी से छुटकारा दिलाने का मतलब यह समझा कि उसको भी मर्द की तरह ख़ानदान का कमानेवाला व्यक्ति बना दिया जाए और संस्कृति की सारी ज़िम्मेदारियों को सँभालने में मर्द के साथ उसे बराबर शरीक किया जाए। भौतिकता की दृष्टि से इस तरीक़े में बड़ा आकर्षण था, क्योंकि इससे न सिर्फ़ मर्द का बोझ हल्का हो गया, बल्कि रोज़ी कमाने में औरत के शरीक हो जाने से दौलत हासिल करने में और ऐश के सामान जुटाने में क़रीब-क़रीब दुगने की बढ़ोत्तरी भी हो गई। इसके साथ ही क़ौम की आर्थिक और सामाजिक मशीन को चलाने के लिए पहले के मुक़ाबले में दुगने हाथ और दुगने दिमाग़ उपलब्ध हो गए जिससे यकायक संस्कृति की तरक़्क़ी की रफ़्तार तेज़ हो गई, लेकिन भौतिक और आर्थिक पहलू की ओर इतना हद से ज़्यादा झुक जाने का लाज़िमी नतीजा यह हुआ कि दूसरे पहलू जो वास्तव में अपनी अहमियत में इस एक पहलू से कुछ कम न थे, उनकी निगाहों से ओझल हो गए और बहुत-से पहलुओं को उन्होंने जानते-बूझते नज़रअंदाज़ कर दिया। उन्होंने प्रकृति के क़ानून को जानने के बावुजूद जान-बूझकर उसका उल्लंघन किया, जिसपर ख़ुद उनकी अपनी वैज्ञानिक खोजें गवाही दे रही हैं। उन्होंने औरत के साथ इंसाफ़ करने का दावा किया, मगर हक़ीक़त में बेइंसाफ़ी कर बैठे, जिसपर ख़ुद उनके अपने तजुर्बे गवाह हैं। उन्होंने औरत को बराबरी देने का इरादा किया, मगर हक़ीक़त में ना-बराबरी क़ायम कर बैठे, जिसका सुबूत ख़ुद उनके अपने ज्ञान-विज्ञान पेश कर रहे हैं। उन्होंने संस्कृति व सभ्यता में सुधार करना चाहा, मगर हक़ीक़त में उसके बिगाड़ के बड़े भयानक साधन जुटा दिए, जिनकी विस्तृत जानकारी ख़ुद उन ही की बयान की हुई घटनाओं और ख़ुद उन ही के अपने जुटाए गए आंकड़ों से हमें प्राप्त हुई है। ज़ाहिर है कि वे इन हक़ीक़तों से

बे-ख़बर नहीं हैं, मगर जैसा कि हम ऊपर बयान कर चुके हैं, यह इंसान की कमज़ोरी है कि वह ख़ुद अपनी ज़िंदगी के लिए क़ानून बनाने में तमाम मस्लहतों की सन्तुलित रिआयत का ध्यान नहीं रख सकता। मनोकामनाएँ उसको अति के किसी एक रुख़ पर बहा ले जाती है, और जब वह बह जाता है तो बहुत-सी मस्लहतें उसकी नज़र से छिप जाती हैं और बहुत-सी मस्लहतों और हक़ीक़तों को देखने और जानने के बावुजूद वह उनकी ओर से आँखें बन्द कर लेता है। इस ऐच्छिक अंधेपन का सुबूत हम इससे ज़्यादा कुछ नहीं दे सकते कि ख़ुद एक ऐसे अंधे ही की गवाही पेश कर दें। रूस का एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक एंतोन नीमलाफ़ (Anton Nimlov), जो शत-प्रतिशत कम्युनिस्ट है, अपनी किताब The Biological Tragedy of Woman[1] में विज्ञान के निरीक्षणों और अनुभवों से ख़ुद ही औरत और मर्द की प्राकृतिक असमानता साबित करने के लिए लगभग दो सौ पृष्ठ काले करता है, फिर ख़ुद ही इन तमाम वैज्ञानिक खोजों के बाद लिखता है–

> "आजकल अगर यह कहा जाए कि औरत को सांस्कृतिक-व्यवस्था में सीमित अधिकार दिए जाएँ तो कम से कम आदमी इसका समर्थन करेंगे। हम ख़ुद इस प्रस्ताव के कट्टर विरोधी हैं, मगर हमें अपने आपको यह धोखा न देना चाहिए कि औरत और मर्द की बराबरी को व्यावहारिक ज़िंदगी में क़ायम करना कोई सादा और आसान काम है। दुनियां में कहीं भी औरत और मर्द को बराबर कर देने की इतनी कोशिश नहीं की गई जितनी सोवियत रूस में की गई है, किसी जगह इस सिलसिले में इतने निर्पेक्ष व उदार क़ानून नहीं बनाए गए, मगर इसके बावुजूद वास्तविकता यह है कि औरत की पोज़ीशन ख़ानदान में बहुत कम बदल सकी है।" –पृ.76
>
> न सिर्फ़ ख़ानदान में, बल्कि समाज में भी।
>
> "अब तक औरत और मर्द की आसमानता की धारणा, निहायत गहरी धारणा, न सिर्फ़ उन वर्गों में, जो ज़ेहनी हैसियत से निचले दर्जे

1. इस किताब का अंग्रेज़ी अनुवाद लन्दन से 1932 ई. में छप चुका है।

के हैं, बल्कि ऊँचे दर्जे के शिक्षित सोवियत वर्गों में भी जमी हुई है और ख़ुद औरतों में इस धारणा का इतना गहरा असर है कि अगर उनके साथ ठेठ बराबरी का सुलूक किया जाए तो वह इसे मर्द के दर्जे से गिरा हुआ समझेंगी, बल्कि इसे मर्द की कमज़ोरी और नामर्दी समझेंगी। अगर हम इस मामले में किसी वैज्ञानिक, किसी लेखक, किसी छात्र, किसी व्यापारी या किसी पक्के कम्युनिस्ट के विचारों की टोह लगाएँ तो बहुत जल्द ही यह हक़ीक़त खुल जाएगी कि औरत को वह अपने बराबर का नहीं समझता। अगर हम आज के युग का कोई उपन्यास पढ़ें, चाहे वह कैसे ही आज़ाद ख़्याल लेखक का लिखा हुआ हो, यक़ीनन उसमें हमें कहीं न कहीं ऐसे वाक्य मिलेंगे जो औरत के बारे में इस धारणा की चुग़ली खा जाएँगे।''

(पृ. 194-195)

इसकी वजह?

''इसकी वजह यह है कि यहाँ इनक़िलाबी उसूल एक बड़ी महत्त्वपूर्ण स्थिति से टकरा जाते हैं। यानी इस हक़ीक़त से कि जीव-विज्ञान (Biology) की दृष्टि से दोनों जातियों के बीच बराबरी नहीं है और दोनों पर बराबर बोझ नहीं डाला गया है।'' (पृ. 77)

एक अंश और देख लीजिए, फिर नतीजा आप ख़ुद निकाल लेंगे–

''सच्ची बात तो यह है कि तमाम कार्यकर्त्ताओं (Workers) में यौन-अराजकता (Sexual Anarchy) की निशानियाँ ज़ाहिर हो चुकी हैं। यह एक बड़ी ही ख़तरनाक हालत है जो सोशलिस्ट व्यवस्था को तबाह करने की धमकी दे रही है। हर संभव तरीक़े से इसका मुक़ाबला करना चाहिए, क्योंकि इस मोर्चे पर लड़ने में बड़ी कठिनाइयाँ हैं। मैं हज़ारों ऐसी घटनाओं का हवाला दे सकता हूँ जिनसे ज़ाहिर होता है कि वासनात्मक स्वच्छन्दता (Sexual Licentiousness) न सिर्फ़ अनभिज्ञ लोगों में, बल्कि कार्यकर्त्ताओं के अति शिक्षित और बुद्धिजीवी लोगों में भी फैल गई है।''

(पृ. 202-203)

इन उद्धरणों की गवाही कैसी स्पष्ट गवाही है। एक ओर यह माना जा रहा है कि औरत और मर्द के दर्मियान प्रकृति ने ख़ुद ही बराबरी नहीं क़ायम की, व्यावहारिक ज़िंदगी में भी बराबरी क़ायम करने की कोशिशें कामियाब नहीं हुईं, और जिस हद तक प्रकृति से लड़कर इस तरह की बराबरी क़ायम की गई, उसका नतीजा यह हुआ कि बेहयाइयों की एक बाढ़ आ गई जिससे सोसाइटी की सारी व्यवस्था ख़तरे में पड़ गई। दूसरी ओर यह दावा है कि सामूहिक व्यवस्था में औरत के अधिकारों पर किसी क़िस्म की हदबन्दियाँ न होनी चाहिएँ और अगर ऐसा किया जाएगा तो हम उसका विरोध करेंगे। इससे बढ़कर और क्या सुबूत इस बात का होगा कि इंसान—जाहिल नहीं, बल्कि पढ़ा-लिखा, अक़्लमंद, बहुत जानकार इंसान भी—अपने मन के रुझानों का कैसा ग़ुलाम होता है कि ख़ुद अपनी खोजों को झुठलाता है, अपने तजुर्बे को नकारता है और सब तरफ़ से आँखें बन्द करके मनोकामनाओं के पीछे एक ही रुख़ पर इंतिहा (अति) को पहुँच जाता है, चाहे इस इन्तिहा के ख़िलाफ़ उसके अपने ही ज्ञान-विज्ञान कितनी ही मज़बूत दलीलें पेश करें, उसके कान कितनी ही घटनाओं को सुन लें और उसकी आँखें कितने ही बुरे नतीजों को देख लें।

क़ुरआन, इस परिस्थिति पर बड़ी सटीक टिप्पणी करता है –

> "फिर क्या कभी तुमने उस आदमी के हाल पर भी ग़ौर किया जिसने अपनी मनोकामनाओं को अपना ख़ुदा बना लिया और अल्लाह ने जानने के बावुजूद उसे गुमराही में फेंक दिया और उसके कानों और दिल पर मुहर लगा दी और उसकी आँखों पर परदा डाल दिया? अल्लाह के बाद अब और कौन है जो उसे हिदायत दे? क्या तुम लोग कोई सबक़ नहीं लेते?" (क़ुरआन, 45:23)

इस्लामी क़ानून के सन्तुलन की ख़ूबी

असन्तुलन और अतियों की इस दुनिया में सिर्फ़ एक सामाजिक एवं सांस्कृतिक-व्यवस्था ऐसी है जिसमें हद दर्जे का सन्तुलन पाया जाता है, जिसमें इंसानी प्रकृति के एक-एक पहलू यहाँ तक कि बहुत ज़्यादा गौण पहलुओं की भी रिआयत की गई है। इंसान की शारीरिक बनावट, उसके हैवानी स्वभाव, उसकी इंसानी प्रकृति, उसके मनोवैज्ञानिक गुण और उसकी प्राकृतिक प्रेरणाओं

के बारे में पूरी और विस्तृत जानकारी से काम लिया गया है। इनमें से एक-एक चीज़ के पैदा करने का प्रकृति का जो मक़सद है, उसको पूरे कमाल के साथ इस तरह पूरा किया गया है कि किसी दूसरे मक़सद, यहाँ तक कि छोटे-से-छोटे मक़सद को भी नुक़्सान नहीं पहुँचता और अन्ततः ये तमाम मक़सद मिलकर उस बड़े मक़सद के पूरा करने में मददगार होते हैं, जो ख़ुद इंसान की ज़िंदगी का मक़सद है। यह बीच का रास्ता, यह सन्तुलन और यह अनुपात इतना मुकम्मल है कि कोई ख़ुद अपनी अक़्ल और कोशिश से उसे पैदा कर ही नहीं सकता। इंसान का बनाया हुआ क़ानून हो और उसमें किसी जगह भी एक रुख़ी (एक पक्षता) ज़ाहिर न हो, नामुम्किन! बिल्कुल नामुम्किन! ख़ुद बनाना तो दूर की बात, सच तो यह है कि मामूली इंसान तो इस संतुलित और इन्तिहाई तत्वदर्शितापूर्ण क़ानून की हिक्मतों को पूरी तरह समझ भी नहीं सकता जब तक वह असाधारण सरल स्वभाव न रखता हो और उसपर बर्षों तक ज्ञान और तजुर्बों से सीख अर्जित न कर ले , और फिर वर्षों सोच-विचार न करता रहे। मैं इस क़ानून की प्रशंसा इसलिए नहीं करता हूँ कि मैं इस्लाम का माननेवाला हूँ, बल्कि असूल में मैं इस्लाम को मानता ही इसलिए हूँ कि मुझे इसमें कमाल दर्जे का सन्तुलन और प्राकृतिक नियमों के साथ ज़बरदस्त मेल नज़र आता है, जिसे देखकर मेरा दिल गवाही देता है कि यक़ीनन इस क़ानून का बनानेवाला वही है जो ज़मीन व आसमान का पैदा करनेवाला और प्रत्यक्ष और परोक्ष का जानकार है, और सच तो यह है कि अलग-अलग दिशाओं में बहक जानेवाली आदम की औलाद को न्याय व सन्तुलन का मज़बूत तरीक़ा वही बता सकता है।

क़ुरआन कहता है –

> "कहो, ऐ अल्लाह! आसमानों और ज़मीन के पैदा करनेवाले! प्रत्यक्ष और परोक्ष के जानने वाले! तू ही अपने बन्दों के दर्मियान उस चीज़ का फ़ैसला करेगा जिसमें वे मतभेद करते रहे हैं।"
>
> (क़ुरआन, 39:46)

—●—

इस्लाम की सामाजिक व्यवस्था

1. मौलिक सिद्धान्त

यह बात इस्लाम की विशेषताओं में से है कि वह अपने क़ानून की हिक्मत (तत्त्वदर्शिता) पर भी ख़ुद ही प्रकाश डालता है। रहन-सहन में औरत और मर्द के ताल्लुक़ात को मज़बूत बनाने के लिए जो क़ानून इस्लाम में पाया जाता है, उसके बारे में ख़ुद इस्लाम ही ने हमें बता दिया है कि इस क़ानून की बुनियाद हिक्मत के किन उसूलों और प्रकृति की किन हक़ीक़तों पर है।

युगलता का बुनियादी मतलब

इस सिलसिले में सबसे पहली हक़ीक़त, जिसपर से परदा उठाया गया है, यह है–

"और हर चीज़ के हमने जोड़े पैदा किए हैं।" (क़ुरआन, 51:49)

इस आयत में जोड़े के क़ानून (Laws of Sex) की व्यापकता की ओर इशारा किया गया है। दुनिया के कारख़ाने का इंजीनियर ख़ुद अपनी इंजीनियरी का यह भेद खोल रहा है कि उसने विश्व की यह पूरी मशीन जोड़े-जोड़े के क़ायदे पर बनाई है। यानी इस मशीन के तमाम कल-पुर्ज़े जोड़ों (Pairs) की शक्ल में बनाए गए हैं, और इस सृष्टि में जितनी कारीगरी तुम देखते हो, वह सब इन्हीं युगलों की युगलता का करिश्मा है।

अब इसपर ग़ौर कीजिए कि युगलता क्या चीज़ है? युगलता में अस्ल बात यह है कि एक चीज़ में क्रिया हो और दूसरी चीज़ में उस क्रिया का प्रभाव। एक चीज़ असर डालने वाली हो, दूसरी असर क़बूल करने वाली। एक में आयोजन शक्ति हो और दूसरी में आयोजित होने की। यही आयोजन और आयोजनकरण और क्रिया और क्रिया का प्रभाव और प्रभावित होने का गुण और कर्मी गुण और ग्राह्यता का सम्बन्ध, दो वस्तुओं के मध्य सम्बन्ध युगलता का सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध से समस्त यौगिक वस्तुओं का आविर्भाव होता है

और इन्हीं के द्वारा संसार का कारख़ाना चलता है।

विश्व में जितनी चीज़ें हैं, वे सब अपने-अपने वर्ग में जोड़ा-जोड़ा पैदा हुई हैं। और हर जोड़े के दोनों पक्षों के बीच बुनियादी हैसियत से जोड़ा होने का यही ताल्लुक़ पाया जाता है कि एक कर्त्ता है और दूसरा कर्म का प्रभाव ग्रहण करने वाला। यद्यपि सृष्टि के हर वर्ग में इस ताल्लुक़ की दशा अलग-अलग होती है, जैसे एक जोड़ा होना वह है जो तत्त्वों में होता है, एक वह है जो अकार्बनिक यौगिकों और मिश्रणों में होता है, एक वह है जो कार्बनिक पदार्थों में होता है, एक वह है जो जीवधारी जातियों में होता है। ये सब जोड़े अपनी दशा, स्थिति और प्राकृतिक लक्ष्य की दृष्टि से अलग-अलग हैं, लेकिन असल ज़ोड़ा होना इन सबमें वही एक है। हर जाति में, चाहे वह किसी वर्ग की हो, प्रकृति के असल मक़सद यानी यौगिक क्रिया और यौगिक आकार-प्रकार की उपलब्धि की प्राप्ती के लिए ज़रूरी है कि युगलों (पति-पत्नी) में से एक में क्रियाशीलता की शक्ति हो और दूसरे में उसके प्रभाव को ग्रहण करने की क्षमता।

ऊपर वर्णित क़ुरआन की आयत का यह अर्थ निश्चित हो जाने के बाद इससे जोड़ा बनाने के तीन बुनियादी उसूल निकलते हैं–

1. अल्लाह ने जिस फ़ार्मूले पर तमाम दुनिया को पैदा किया है और जिस तरीक़े को अपने कारख़ाने के चलने का ज़रीआ बनाया है, वह हरगिज़ अपमानित और अपवित्र नहीं हो सकता, बल्कि अपनी मूल स्थिति की दृष्टि से वह पाक पवित्र और आदरणीय ही है और होना चाहिए। कारख़ाने के विरोधी लोग उसे गन्दा और घृणित कहकर उससे बच सकते हैं, मगर ख़ुद कारख़ाने का निर्माता और मालिक तो यह कभी नहीं चाहेगा कि उसका कारख़ाना बन्द हो जाए। उसका मंशा तो यही है कि उसकी मशीन के तमाम पुर्ज़े चलते रहें और अपने-अपने हिस्से का काम पूरा करें।

2. क्रिया और उसका असर दोनों इस कारख़ाने को चलाने के लिए समान रूप से ज़रूरी हैं। क्रियाशील और क्रिया से प्रभावित तत्त्व का वुजूद उसके कारख़ाने में समान महत्त्व रखता है, न कर्त्ता के काम करने की हैसियत में

कोई सम्मान है और न प्रभावित के प्रभाव ग्रहण करने में कोई अपमान। कर्त्ता का कमाल यही है कि उसमें कर्म-शक्ति और कर्त्ता-गुण पाए जाएँ, ताकि वह युगलता के व्यावहारिक पहलू के कार्य का भली-भाँती निर्वाह कर सके और प्रभावित पक्ष होने का कार्यकारी चरित्र अच्छी तरह अदा कर सके। प्रभाव ग्रहण करनेवाले का कमाल यही है कि उसमें प्रभावित होने की ताक़त और गुण पूर्णत: मौजूद हों, ताकि वह युगलता के व्यावहारिक पहलू से सम्बन्धित सेवाएँ अच्छे ढंग से निभा सके। एक मामूली मशीन के पुर्ज़े को भी अगर कोई आदमी उसकी असली जगह से हटा दे और उससे वह काम लेना चाहे, जिसके लिए वह वास्तव में बनाया ही नहीं गया है, तो वह मूर्ख और अनाड़ी समझा जाएगा, और सर्वप्रथम तो अपनी इस कोशिश में उसे कामियाबी ही न होगी और अगर वह बहुत ज़ोर लगाएगा तो बस इतना कर पाएगा कि मशीन को तोड़ दे। ऐसा ही हाल इस विश्व की शानदार मशीन का भी है। जो मूर्ख और अनाड़ी हैं, वे इसके कर्म प्रेरक युगल को प्रेरित युगल की जगह या प्रेरित युगल को प्रेरक युगल की जगह रखने का ख़्याल कर सकते हैं, और इसकी कोशिश करके और इसमें कामियाबी की उम्मीद रखकर और ज़्यादा मूर्खता का सुबूत भी दे सकते हैं, परन्तु इस मशीन का बनानेवाला तो हरगिज़ ऐसा न करेगा। वह तो प्रेरक पुर्ज़े को क्रिया ही की जगह रखेगा और इसी हैसियत से वह उसकी तर्बियत करेगा और प्रेरित पुर्ज़े को असर क़बूल करने ही की जगह रखेगा और उसमें कर्म का असर क़बूल करने की क्षमता ही के विकास की व्यवस्था करेगा।

3. क्रिया को स्वयं ही क्रिया प्रभाव-ग्रहण की अपेक्षा एक तरह की श्रेष्ठता प्राप्त है। यह श्रेष्ठता इस अर्थ में नहीं है कि पहले पक्ष में प्रतिष्ठा हो और उसके मुक़ाबले में दूसरे पक्ष में अप्रतिष्ठा, बल्कि श्रेष्ठता असूल में ग़लबा, ताक़त और असर के अर्थ में है। जो चीज़ किसी दूसरी चीज़ पर अपना कार्य करती है, वह इसी वजह से तो करती है कि वह उसपर ग़ालिब है, उसके मुक़ाबले में ताक़तवर है और उसपर असर करने की ताक़त रखती है और जो चीज़ उसके क्रिया-प्रभाव को क़बूल करती है, उससे प्रेरित होती है,

उसके क़बूल करने और प्रेरित होने की वजह यही तो है कि वह प्रभावाधीन है, उसके मुक़ाबले में कमज़ोर है और प्रभावित होने की क्षमता रखती है। जिस तरह किसी कर्म के आविर्भाव के लिए कार्य प्रेरक और उसका प्रभाव ग्रहण करने वाले, दोनों का वुजूद समान रूप से ज़रूरी है, उसी तरह यह भी ज़रूरी है कि कर्ता में ग़लबा और असर डालने की ताक़त हो और दूसरे पक्ष में पराजित होने और असर क़बूल करने की क्षमता हो। क्योंकि अगर दोनों ताक़त में बराबर हों और किसी को किसी पर ग़लबा (प्रभुत्त्व) हासिल न हो, तो इनमें से कोई किसी का असर क़बूल न करेगा और सिरे से कार्य-सम्पादन ही न होगा। अगर कपड़े में भी वही कठोरता हो जो सूई में है तो सिलाई का काम पूरा नहीं हो सकता। अगर ज़मीन में वह नर्मी न हो जिसकी वजह से वह कुदाल और हल का ग़लबा क़बूल करती है तो खेती और निर्माणकार्य असम्भव हो जाए। अर्थात् दुनिया में जितने कार्य सम्पादित होते हैं, उनमें से कोई भी घटित नहीं हो सकता अगर एक कर्त्ता के मुक़ाबले में एक कर्त्ता का असर क़बूल करने वाला न हो और दूसरे में पहले के असर से पराजित होने की क्षमता न हो। अतः जोड़े में कर्त्ता पक्ष की तबियत (स्वभाव) का तक़ाज़ा यही है कि उसमें ग़लबा, कठोरता और हाकिमाना क्षमता हो, जिसको मर्दानगी और पुरुषत्व कहा जाता है, क्योंकि कर्त्ता-पुर्ज़े की हैसियत से अपना काम करने के लिए उसका ऐसा ही होना ज़रूरी है। इसके विपरीत जोड़े के दूसरे पक्ष के स्वभाव का यही तक़ाज़ा है कि उसमें नर्मी, नज़ाकत और कोमलता तथा प्रभावित होने की क्षमता हो, जिसे औरतपना या स्त्रीत्व कहा जाता है, क्योंकि जोड़े के असर क़बूल करने के पहलू में यही ख़ूबियां उसको कामियाब बना सकती हैं। जो लोग इस भेद को नहीं जानते, वे या तो कर्त्ता की निजी बरतरी को प्रतिष्ठा का समानार्थी समझकर दूसरे पक्ष को अपने आप में हेय और अपमानित क़रार दे बैठते हैं या फिर सिरे से इस श्रेष्ठता का इनकार करके इस पक्ष में भी वही ख़ूबियाँ पैदा करने की कोशिश करते हैं जो कर्त्ता में होनी चाहिएँ। लेकिन जिस इंजीनियर ने इन दोनों पुर्ज़ों को बनाया है, वह इनको मशीन में इस तौर पर लगाता है कि प्रतिष्ठा में दोनों बराबर और तर्बियत और वरदान में दोनों बराबर, लेकिन दोनों पक्षों की तबियत जिस ग़लबा होने और पराजित

होने का तक़ाज़ा करती है, वही उनमें पैदा हो ताकि वे जोड़ा होने के मंशा को पूरा कर सकें, न यह कि दोनों ऐसे पत्थर बन जाएँ जो टकरा तो सकते हैं, मगर आपस में कोई मेल और कोई संयोजन स्वीकार नहीं कर सकते।

ये वे उसूल हैं जो जोड़ा होने के बुनियादी मतलब से हासिल होते हैं। सिर्फ़ एक भौतिक अस्तित्व होने की हैसियत से औरत और मर्द का जोड़ा-जोड़ा होना ही इसका तक़ाज़ा कर रहा है कि उनके ताल्लुक़ात में इन उसूलों की रिआयत की जाए। इसलिए आगे चलकर आपको मालूम होगा कि आसमानों और ज़मीन के पैदा करने वाले ने रहन-सहन के जो नियम बनाए हैं, उसमें इन तीनों की पूरी रिआयत की गई है।

इंसान की हैवानी प्रकृति और उसके तक़ाज़े

अब एक क़दम आगे बढ़िए। औरत और मर्द का वुजूद सिर्फ़ एक भौतिक वुजूद ही नहीं है, बल्कि वह एक हैवानी वुजूद भी है। इस हैसियत से उनका जोड़ा होना किस चीज़ का तक़ाज़ा करता है। क़ुरआन कहता है–

> ''अल्लाह ने तुम्हारे लिए ख़ुद तुम्हीं में से जोड़े बनाए और इसी तरह जानवरों में से भी उन्हीं के सहजातीय जोड़े बनाए, इस तरीक़े से वह तुम्हारी नस्लें धरती पर फैलाता है।'' (क़ुरआन : 42:11)
>
> ''तुम्हारी औरतें तुम्हारी खेतियाँ हैं।'' (क़ुरआन : 2:223)

पहली आयत में इंसान और हैवान दोनों के जोड़े बनाने का एक साथ ज़िक्र किया गया है और उसका संयुक्त मक़सद यह बयान किया गया है कि उनके जोड़े होने के ताल्लुक़ से नस्ल के चलने का सिलसिला शुरू हो।

दूसरी आयत में इंसान को आम हैवानों से अलग करके यह ज़ाहिर किया गया है कि हैवानों की क़िस्म में से इस ख़ास क़िस्म के जोड़े में खेती और किसान का-सा ताल्लुक़ है। यह एक जैविक तथ्य (Biological Fact) है। जीव-विज्ञान की दृष्टि से बेहतरीन मिसाल जो औरत और मर्द की दी जा सकती है, वह यही है।

—इन दोनों आयतों से तीन और उसूल हासिल होते हैं –

1. अल्लाह ने तमाम हैवानों (जीवों) की तरह इंसान के जोड़े भी इस मक़सद के लिए बनाए हैं कि उनके यौन-सम्बन्ध से इंसानी नस्ल जारी रहे। यह इंसान की हैवानी प्रकृति का तक़ाज़ा है, जिसकी रिआयत ज़रूरी है। ख़ुदा ने इंसानी नस्ल को इसलिए नहीं पैदा किया है कि उसके कुछ लोग ज़मीन पर पलें-बढ़ें और बस ख़त्म हो जाएँ, बल्कि उसका इरादा एक निर्धारित समय तक इस नस्ल को बाक़ी रखने का है, और उसने इंसान की हैवानी प्रकृति में यौनाकर्षण इसी लिए रखा है कि उसके जोड़े आपस में मिलें और ख़ुदा की धरती को आबाद रखने के लिए अपनी नस्ल जारी रखें। अतः जो क़ानून ख़ुदा की ओर से होगा वह कभी यौनाकर्षण को कुचलनेवाला और नष्ट करनेवाला नहीं हो सकता। उससे घृणा और विमुखता की शिक्षा देनेवाला नहीं हो सकता, बल्कि उसमें अनिवार्यतः ऐसी गुंजाइश रखी जाएगी कि इंसान अपनी प्रकृति के इस तक़ाज़े को पूरा कर सके।

2. औरत और मर्द को खेती और किसान की मिसाल देकर बताया गया है कि इंसानी जोड़ों का ताल्लुक़ दूसरे जीवों के जोड़ों से भिन्न है। इंसानी हैसियत से हटकर भी और हैवानी एतिबार से भी इन दोनों की जिस्मानी बनावट इस तौर पर रखी गई है कि उनके ताल्लुक़ में वह स्थिरता होनी चाहिए जो किसान और उसके खेत में होती है। जिस तरह खेती में किसान का काम सिर्फ़ बीज फेंक देना ही नहीं है, बल्कि उसके साथ यह भी ज़रूरी होता है कि वह उसको पानी दे, खाद जुटाए और उसकी हिफ़ाज़त करता रहे। इसी तरह औरत भी वह ज़मीन नहीं है जिसमें एक जानवर चलते-फिरते कोई बीज फेंक जाए और वह एक स्वप्रजनित (ख़ुदरो) पेड़ उगा दे जिसका कोई मालिक न हो, बल्कि जब वह गर्भ धारण करती है तो हक़ीक़त में इसकी मुहताज होती है कि उसका किसान उसकी परवरिश और उसकी रखवाली का पूरा बोझ सँभाले।

3. इंसान के जोड़े में जो यौनाकर्षण है, वह जैविक दृष्टि से (Biologically) उसी प्रकार का है जो दूसरे जीवों में पाया जाता है। एक जाति (Sex) का हर व्यक्ति दूसरी जाति (Sex) के हर व्यक्ति की ओर हैवानी झुकाव रखता

है और नस्ल बढ़ाने की ज़बरदस्त प्रेरणा, जो उनकी प्रकृति में रखी गई है, दोनों जातियों के उन तमाम लोगों को एक-दूसरे की ओर खींचती है जिनमें नस्ल बढ़ाने की सलाहियत अमलन मौजूद हो। अतः सृष्टि के पैदा करनेवाले का बनाया हुआ क़ानून इंसान की हैवानी प्रकृति के इस कमज़ोर पहलू से बे-परवाह नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें यौन-सम्बन्धी अराजकता (Sexual Anarchy) की ओर ऐसा ज़बरदस्त झुकाव छिपा हुआ है जो सुरक्षा के ख़ास उपायों के बिना क़ाबू में नहीं रखा जा सकता, और एक बार अगर वह बे-क़ाबू हो जाए, तो इंसान को पूरा हैवान, बल्कि हैवानों में भी गिरा हुआ हैवान, बन जाने से कोई चीज़ रोक नहीं सकती–

> "हमने इंसान को सर्वोत्तम संरचना के साथ पैदा किया, फिर उसे उलटा फेरकर हमने सब नीचों से नीच कर दिया, सिवाए उन लोगों के जो ईमान लाए और नेक कर्म करते रहे कि उनके लिए कभी न ख़त्म होनेवाला बदला है।" (क़ुरआन, 95:4-6)

इंसानी प्रकृति और उसके तक़ाज़े

जैसा कि हम पहले बयान कर चुके हैं, हैवानी तबियत(स्वभाव) इंसानी बनावट की तह में ज़मीन और बुनियाद के तौर पर है और इसी ज़मीन पर इंसानियत की इमारत बनाई गई है। इंसान के वैयक्तिक वुजूद और जातिगत अस्तित्व, दोनों को बाक़ी रखने के लिए जिन चीज़ों की ज़रूरत है, उनमें से हर एक की ख़ाहिश और हर एक की प्राप्ति की क्षमता अल्लाह ने उसके हैवानी स्वभाव में रख दी है और अल्लाह की प्रकृति का मंशा यह हरगिज़ नहीं है कि इन इच्छाओं में से किसी इच्छा को पूरा न होने दिया जाए या उन क्षमताओं में से किसी क्षमता को समाप्त कर दिया जाए, क्योंकि ये सब चीज़ें भी बहरहाल ज़रूरी हैं और इनके बिना इंसान और उसकी नस्ल ज़िंदा नहीं रह सकती। अलबत्ता प्रकृति यह चाहती है कि इंसान अपनी इन इच्छाओं को पूरा करने और इन क्षमताओं से काम लेने में निरा हैवानी तरीक़ा न अपनाए, बल्कि उसका इंसानी स्वभाव जिन बातों का तक़ाज़ा करता है और उसमें हैवानियत से परे जिन बातों की माँग रखी गई है, उनके अनुकूल उसका तरीक़ा

इंसानी होना चाहिए। इसी मक़सद के लिए अल्लाह ने शरई हदें (इस्लामी वैधानिक सीमाएँ) निर्धारित की हैं, ताकि इंसान के कर्मों को एक उसूल का पाबन्द बनाया जाए और साथ ही सचेत भी कर दिया गया है कि अगर अतिवाद व असंतुलन का तरीक़ा अपनाकर इन हदों को पार करोगे तो अपने-आप को ख़ुद तबाह कर लोगे।

> "और जो कोई अल्लाह की सीमाओं का उल्लंघन करेगा, वह अपने ऊपर ख़ुद ज़ुल्म करेगा।" (क़ुरआन, 65:1)

अब देखिए कि यौन-सम्बन्धी मामलों में क़ुरआन इंसानी प्रकृति की किन विशेषताओं और किन तक़ाज़ों की ओर इशारा करता है–

1. दोनों लिंगों के दर्मियान जिस क़िस्म का ताल्लुक़ इंसानी प्रकृति में रख दिया गया है, उसकी व्याख्या यह है–

   > "अल्लाह ने तुम्हारे लिए ख़ुद तुम्हीं में से जोड़े बनाए हैं, ताकि तुम उनके पास सुकून हासिल करो और उसने तुम्हारे दर्मियान मुहब्बत और रहमत (दयालुता) रख दी है।" (क़ुरआन, 30:21)

   > "वे तुम्हारे लिए लिबास हैं और तुम उनके लिए लिबास हो।" (क़ुरआन, 2:187)

इससे पहले जिस आयत में इंसान और हैवान दोनों के लिए जोड़े बनाने का ज़िक्र एक साथ किया गया, वहाँ दोनों जोड़ों के पैदा करने का मक़सद सिर्फ़ नस्ल को बाक़ी रखना बताया गया है। अब हैवान से अलग करके इंसान की यह विशेषता बताई गई है कि उसमें युगलता का एक ऊंचा मक़सद भी है और वह यह कि उनका ताल्लुक़ सिर्फ़ वासनात्मक न हो, बल्कि मुहब्बत और लगाव का ताल्लुक़ हो, दिल के लगाव और रूहों के मिलन का ताल्लुक़ हो, वे एक-दूसरे के राज़दार और सुख-दुख में शरीक हों, उनके बीच ऐसा साथ और हमेशा का लगाव हो, जैसे लिबास और जिस्म में होता है। दोनों लिंगों का यही ताल्लुक़ इंसानी संस्कृति की इमारत की बुनियाद का पत्थर है, जैसा कि हम सविस्तार लिख चुके हैं।

इसके साथ 'ताकि तुम उनके पास सुकून हासिल करो' से इस ओर भी इशारा कर दिया गया कि औरत के व्यक्तित्व में मर्द के लिए सुकून व राहत की कुंजी है और औरत की प्राकृतिक सेवा यही है कि वह इस जिद्दोजुहद और कर्म-कोलाहल की मशक़्क़तों भरी दुनिया में सुकून व राहत का एक कोना जुटा दे। यह इंसान की घरेलू ज़िंदगी है जिसकी अहमियत को भौतिक लाभों के लिए पाश्चात्य देश के लोगों ने नज़रअंदाज़ कर दिया है। हालांकि संस्कृति और समाज के विभागों में जो अहमियत दूसरे विभागों की है, वही इस विभाग की भी है और सांस्कृतिक जीवन के लिए यह भी उतना ही ज़रूरी है, जितने दूसरे विभाग ज़रूरी हैं।

2. इस यौन-सम्बन्ध की अपेक्षा केवल यही नहीं है कि जोड़ों में पारस्परिक प्रेम हो, बल्कि उसकी अपेक्षा यह भी है कि इस सम्बन्ध से जो औलाद पैदा हो, उसके साथ भी एक गहरा आत्मिक सम्बन्ध हो। अल्लाह की प्रकृति ने इसके लिए इंसान की, और ख़ास तौर से औरत की, जिस्मानी बनावट और गर्भ और दूध पिलाने की स्वाभाविक स्थिति ही में ऐसा इन्तिज़ाम कर दिया है कि उसकी नस-नस और रेशे-रेशे में औलाद की मुहब्बत बैठ जाती है। क़ुरआन कहता है–

> "उसकी माँ ने कमज़ोरी पर कमज़ोरी झेलकर उसे अपने पेट में रखा और फिर वह दो साल के बाद माँ की छाती से जुदा हुआ।"
> (क़ुरआन, 31:14)

> "उसकी माँ ने उसको तकलीफ़ के साथ पेट में रखा, तक्लीफ़ के साथ उसे जन्म दिया और उसके गर्भ और दूध छुड़ाने में तीस महीने लगे।" (क़ुरआन, 46:15)

ऐसा ही हाल मर्द का है, यद्यपि औलाद की मुहब्बत में वह औरत से कमतर है –

> "लोगों के लिए लुभावनी बना दी गई है पसंदीदा चीज़ों की मुहब्बत, जैसे औरतें, औलाद .....।" (क़ुरआन, 3:14)

यही स्वाभाविक मुहब्बत इंसान और इंसान के दर्मियान ख़ानदानी और

ससुराली रिश्ते क़ायम करती है, फिर इन रिश्तों से ख़ानदान और ख़ानदानों से क़बीले और क़ौमें बनती हैं और इनके ताल्लुक़ात से संस्कृति वुजूद में आती है।

"और वह ख़ुदा वही है, जिसने पानी से इंसान को पैदा किया, फिर उससे वंश और ससुराल के अलग-अलग सिलसिले चलाए।"
(क़ुरआन, 25:54)

"लोगो! हमने तुमको एक मर्द और एक औरत से पैदा किया, फिर तुम्हारी क़ौमें और तुम्हारे क़बीले बना दिए, ताकि तुम एक-दूसरे को पहचानो।" (क़ुरआन, 49:13)

अतः ख़ानदान, नस्ल और ससुराल के रिश्ते असूल में इंसानी संस्कृति की आरम्भिक और प्राकृतिक बुनियादें हैं और इनके क़ायम होने की बुनियाद इस बात पर है कि औलाद अपने मालूम और जाने-पहचाने माँ-बाप से हो और नस्लें सुरक्षित हों।

3. इंसानी प्रकृति का तक़ाज़ा यह भी है कि वह अपनी मेहनतों के नतीजे और अपनी गाढ़ी कमाई में से अगर कुछ छोड़े तो अपनी औलाद और अपने रिश्तेदारों के लिए छोड़े, जिनके साथ वह तमाम उम्र ख़ूनी और नस्ली रिश्तों में बँधा रहा है :

"मगर अल्लाह की किताब में ख़ून के रिश्तेदार एक-दूसरे के ज़्यादा हक़दार हैं।" (क़ुरआन, 8:75)

"जिनको तुम मुँहबोला बेटा बना लेते हो उनको ख़ुदा ने तुम्हारा बेटा नहीं बनाया है।" (क़ुरआन, 33:4)

अतः विरासत के बँटवारे के लिए भी नस्ल और ख़ानदान की सुरक्षा की ज़रूरत है।

4. इंसान की प्रकृति में हया व लज्जा का जज़्बा एक प्राकृतिक जज़्बा है। उसके जिस्म के कुछ हिस्से ऐसे हैं जिन्हें छिपाने की ख़ाहिश अल्लाह ने उसके स्वभाव में पैदा की है। यही स्वाभाविक ख़ाहिश है जिसने शुरू ही से इंसान को

किसी न किसी तरह का लिबास पहनने पर मजबूर किया है। इस बारे में क़ुरआन निश्चितता के साथ आधुनिक विचारधारा का खंडन करता है। वह कहता है कि इंसानी जिस्म के जिन हिस्सों में मर्द और औरत के लिए यौनाकर्षण है, उनको ज़ाहिर करने में शर्म करना और उनको छिपाने की कोशिश करना इंसानी प्रकृति का तक़ाज़ा है, अलबत्ता शैतान यह चाहता है कि उनको खोल दे।

"फिर शैतान ने उनको (आदम और उनकी बीवी को) बहकाया, ताकि उनके जिस्म में से जो एक-दूसरे से छिपाया गया था उसको उनपर ज़ाहिर कर दे।" (क़ुरआन, 7:20)

"अतः जब उन्होंने उस पेड़ का मज़ा चखा, तो उनकी शर्मगाहें एक दूसरे के सामने खुल गईं और वे अपने शरीर को जन्नत के पत्तों से ढाँकने लगे।" (क़ुरआन, 7:22)

फिर क़ुरआन कहता है कि अल्लाह ने लिबास इसी लिए उतारा है कि वह तुम्हारे लिए शर्मवाले हिस्से छिपाने का ज़रीआ भी हो और सौन्दर्य का ज़रीआ भी। परन्तु सिर्फ़ शर्मवाला अंग छिपा लेना काफ़ी नहीं है, उसके साथ ज़रूरी है कि तुम्हारे दिलों में तक़्वा (अल्लाह का डर) भी हो।

"हमने तुमपर लिबास (वस्त्र) उतारा है कि तुम्हारे जिस्म के गुप्त अंगों को ढांके, और तुम्हारे लिए जिस्म की हिफ़ाज़त और सजावट का ज़रीआ भी हो, और बेहतरीन लिबास तक़्वा (परहेज़गारी) का लिबास है। यह अल्लाह की निशानियों में से एक निशानी है, शायद कि लोग इससे सबक़ लें।" (क़ुरआन, 7:26)

यह इस्लामी सामाजिक व्यवस्था की बुनियादी धारणाएँ हैं। इन धारणाओं को ज़ेहन में बिठाने के बाद अब इस व्यवस्था की विस्तृत रूप-रेखा देखिए जो इन धारणाओं की बुनियाद पर गठित की गई है।

इसको पढ़ते वक़्त आपको गहरी नज़र से इस बात को देखना चाहिए कि इस्लाम जिन धारणाओं को अपने क़ानून की बुनियाद क़रार देता है, उनके विस्तार में जाकर अमली जामा पहनाते हुए कहाँ तक एकरूपता, हमवारी और

तार्किक सम्बन्ध क़ायम रखता है। इंसान के बनाए हुए जितने क़ानून हमने देखे हैं, उन सबकी यह संयुक्त और स्पष्ट कमज़ोरी है कि उनकी बुनियादी धारणाएँ और व्यावहारिक विस्तारों के बीच पूरा तार्किक सम्बन्ध नहीं बन पाता। सिद्धांत और उनके विस्तृत अंशों में खुला टकराव पाया जाता है। सर्वांगीण सिद्धांत जो बयान किए जाते हैं, उनका स्वभाव कुछ और होता है और व्यवहार के लिए जो आंशिक चीज़ें निर्धारित की जाती हैं उनका स्वभाव कोई और शक्ल इख़्तियार कर लेता है। चिन्तन-मनन के आसमानों पर चढ़कर एक नज़रिया पेश कर दिया जाता है, मगर जब ऊपरी दुनिया से उतरकर हक़ीक़तों और अमल की दुनिया में आदमी अपने नज़रिये को व्यवहार में लाने की कोशिश करता है तो यहाँ व्यावहारिक समस्याओं में वह कुछ ऐसा खोया जाता है कि उसे ख़ुद अपना नज़रिया याद नहीं रहता। मानव-रचित क़ानूनों में से कोई एक क़ानून भी इस कमज़ोरी से ख़ाली नहीं पाया गया। अब आप देखें और ख़ुर्दबीन (सूक्ष्मदर्शी यंत्र) लगाकर बड़ी बारीकी से देखें कि यह क़ानून जो अरब के रेगिस्तान के एक अनपढ़ व्यक्ति (ख़ुदा के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद सल्ल.) ने दुनिया के सामने पेश किया है, जिसे बनाने में उसने किसी पार्लियामेन्ट और किसी सेलेक्टेड कमेटी से मश्विरा तक नहीं लिया, उसमें भी कहीं कोई तार्किक बेढंगापन और किसी टकराव की झलक पाई जाती है।

—●—

अध्याय-10

इस्लामी सामाजिक व्यवस्था

2. सिद्धान्त और मौलिक तत्त्व

सामाजिक संस्था के सिलसिले में सबसे अहम सवाल, जैसा कि हम पहले बयान कर चुके हैं, यौनाकर्षण को अमल के बिखराव से रोककर एक ज़ाबते (विधान) में लाने का है। क्योंकि इसके बिना संस्कृति-संरचना की ही नहीं जा सकती। और अगर ऐसा हो भी जाए तो उसके टूटने, बिखरने और इंसान को ज़बरदस्त अख़लाक़ी और ज़ेहनी गिरावट से बचाने की कोई शक्ल सम्भव नहीं। इस ग़रज़ के लिए इस्लाम ने औरत और मर्द के ताल्लुक़ात को बहुत-सी हदों (प्रतिबन्धों) का पाबन्द करके एक केन्द्र पर समेट दिया है।

महरम[1] लोग

सबसे पहले इस्लामी क़ानून उन सभी मर्दों और औरतों को एक-दूसरे के लिए हराम करता है, जो आपस में मिलकर रहने या बहुत ही क़रीबी ताल्लुक़ात रखने पर मजबूर हैं। जैसे, माँ और बेटा, बाप और बेटी, भाई और बहन, फूफी और भतीजा, चचा और भतीजी, मामूँ और भांजी, ख़ाला और भाँजा, सौतेला बाप और बेटी, सौतेली माँ और बेटा, सास और दामाद, ससुर और बहू, साली और बहनोई (बहन की ज़िंदगी में) और दूध शरीक रिश्तेदार। (क़ुरआन, 4:23-25) इन ताल्लुक़ात को प्रतिष्ठित (हराम) ठहराकर उनको एक दूसरे के प्रति यौनाकर्षण से इतना पाक कर दिया गया है कि इन रिश्तों के मर्द और औरत यह कल्पना भी नहीं सकते कि वे एक-दूसरे की ओर कोई यौनाकर्षण रखते हैं (अलावा ऐसी गन्दी प्रवृत्ति के पाशविक लोगों के, जिनकी पशुता किसी अख़लाक़ी ज़ाब्ते में रहना क़बूल नहीं करती)।

---

1. मर्द और औरत के ऐसे रिश्ते जिनके बीच यौन-सम्बन्ध (विवाह) हराम है।

(प्रकाशक)

ज़िना (व्यभिचार) का निषेध

इस हदबन्दी की दूसरी क़ैद यह लगाई गई कि ऐसी तमाम औरतें भी हराम (वर्जित) हैं जिनका विवाह अमलन किसी दूसरे के साथ हो चुका हो –

> "और वे औरतें भी तुमपर हराम हैं जो किसी दूसरे के विवाह में हों।" (क़ुरआन, 4:24)

इनके बाद जो औरतें बाक़ी बचती हैं उनके साथ हर क़िस्म के बे-ज़ाब्ता यौन-सम्बन्ध को हराम (अवैध) क़रार दिया गया है।

> "ज़िना (व्यभिचार) के पास भी न जाओ, क्योंकि वह बहुत बुरा कर्म है और बड़ा ही बुरा रास्ता।" (क़ुरआन, 17:32)

विवाह

इस तरह परिसीमा और क़ैद लगाकर यौन-विकार के तमाम रास्ते बन्द कर दिए गए, मगर इंसान के हैवानी स्वभाव के तक़ाज़े और क़ुदरत के मुक़र्रर किए हुए तरीक़े को जारी रखने के लिए एक दरवाज़ा खोलना भी ज़रूरी था। अतः वह दरवाज़ा विवाह की शक्ल में खोला गया है और कह दिया गया कि इस ज़रूरत को तुम पूरा करो, मगर विघटित और बे-ज़ाब्ता ताल्लुक़ात के द्वारा नहीं, चोरी-छिपे भी नहीं, खुले आम बे-हयाई के तरीक़े पर भी नहीं, बल्कि बा-क़ायदा एलान व इज़्हार के साथ। ताकि तुम्हारी सोसाइटी में यह बात मालूम भी हो जाए और मान भी ली जाए कि अमुक मर्द और औरत एक-दूसरे के हो चुके हैं–

> "इन औरतों के सिवा जो औरतें हैं, तुम्हारे लिए हलाल (वैध) किया गया कि तुम अपने मालों के बदले में (महर देकर) उनसे विवाह का बा-ज़ाब्ता ताल्लुक़ क़ायम करो, न कि आज़ादाना वासना पूर्ति।" (क़ुरआन, 4:24)

> "अतः उन (औरतों) के सरपरस्तों की रज़ामंदी से उनके साथ विवाह कर लो और सामान्य नियम के अनुसार उनके महर अदा कर

दो, ताकि वे विवाह की परिधि में सुरक्षित (मुहसनात) होकर रहें, स्वच्छंद कामतृप्ति न करती फिरें।" (क़ुरआन, 4:25)

यहाँ इस्लाम के संतुलित रास्ते की शान देखिए कि जो यौन-सम्बन्ध विवाह के दायरे के बाहर हराम (अवैध) और नफ़रत के क़ाबिल था, वही विवाह के दायरे के अन्दर न सिर्फ़ जायज़ (वैध) बल्कि प्रशंसनीय है, पुण्य का काम है, उसे अपनाने का हुक्म दिया जाता है। उससे विमुखता को नापसन्द किया जाता है। और दाम्पत्य का ऐसा ताल्लुक़ एक इबादत बन जाता है। यहाँ तक कि अगर औरत अपने शौहर की जायज़ इच्छा से बचने के लिए नफ़्ल रोज़ा रख ले या नमाज़ व तिलावत में व्यस्त हो जाए तो वह उलटी गुनाहगार होगी। इस सिलसिले में ख़ुदा के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* के कुछ हिकमत भरे कथन देखिए –

"तुमको विवाह करना चाहिए, क्योंकि वह आँखों को बद-नज़री से रोकने और गुप्तांगों की हिफ़ाज़त करने का बेहतरीन उपाय है और जो आदमी तुममें से विवाह की सामर्थ्य न रखता हो वह रोज़ा रखे, क्योंकि रोज़ा शहवत (वासना) को दबानेवाला है।"

(हदीस : तिर्मिज़ी, बुख़ारी)

"ख़ुदा की क़सम! मैं ख़ुदा से डरने और उसकी नाराज़गी से बचने में तुम सबसे बढ़कर हूँ, मगर मुझे देखो, मैं रोज़ा भी रखता हूँ और इफ़्तार भी करता हूँ, नमाज़ भी पढ़ता हूँ और रातों को सोता भी हूँ और औरतों से विवाह भी करता हूँ। यह मेरा तरीक़ा है और जो मेरे तरीक़े से हटे उसका मुझसे कोई वास्ता नहीं।" (हदीस : बुख़ारी)

"औरत अपने शौहर की मौजूदगी में उसकी इजाज़त के बिना नफ़्ल रोज़ा न रखे।" (हदीस : बुख़ारी)

"जो औरत अपने शौहर से बचकर उससे अलग रात गुज़ारे उसपर फ़रिश्ते लानत भेजते हैं, जब तक कि वह पलट न आए।"

(हदीस : बुख़ारी)

"जब तुममें से कोई आदमी किसी औरत को देख ले और उसके हुस्न से प्रभावित हो तो अपनी बीवी के पास चला जाए, क्योंकि उसके पास भी वही चीज़ है जो उसके पास थी।"

(हदीस : तिर्मिज़ी)

इन तमाम हुक्मों और हिदायतों से शरीअत का मंशा यह है कि यौन-विकार के तमाम दरवाज़े बन्द कर दिए जाएँ, दाम्पत्य सम्बन्धों को विवाह के दायरे में सीमित कर दिया जाए। इस दायरे के बाहर जिस हद तक संभव हो, किसी क़िस्म का यौनाचार न हो और जो यौन-प्रेरणा ख़ुद तबीयत के तक़ाज़े या किसी आकस्मिक घटना से पैदा हो उनकी तृप्ति के लिए एक केन्द्र बना दिया जाए — औरत के लिए उसका शौहर और मर्द के लिए उसकी बीवी — ताकि इंसान तमाम अप्राकृतिक और स्वनिर्मित उत्प्रेरकों तथा विघटन कार्य से बचकर अपनी संचित शक्ति (Conservated Energy) के साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक-व्यवस्था की सेवा करे और वह यौन-प्रेम और यौनाकर्षण का तत्त्व, जो अल्लाह ने इस कारख़ाने को चलाने के लिए हर मर्द व औरत में पैदा किया है, पूरे का पूरा एक ख़ानदान के निर्माण करने और उसे सुदृढ़ करने में लगे। दाम्पत्य सम्बन्ध हर हैसियत से पसन्दीदा है, क्योंकि वह इंसानी प्रकृति और हैवानी प्रकृति दोनों के मंशा और ख़ुदा के क़ानून के मक़सद को पूरा करता है; और दाम्पत्य-जीवन की अवहेलना हर हैसियत से नापसन्दीदा है, क्योंकि वह दो बुराइयों में से एक बुराई का वाहक अवश्य होगा... या तो इंसान प्रकृति के क़ानून के मंशा को पूरा ही न करेगा और अपनी ताक़तों को प्रकृति से लड़ने में बर्बाद करेगा, या फिर वह तबियत के तक़ाज़ों से मजबूर होकर ग़लत और नाजायज़ तरीक़ों से अपनी ख़ाहिशों को पूरा करेगा।

ख़ानदान का गठन

यौनाकर्षण को ख़ानदान के निर्माण और उसे सुदृढ़ करने का ज़रीआ बनाने के बाद इस्लाम ख़ानदान का गठन करता है और यहाँ भी वह पूरे सन्तुलन के साथ प्राकृतिक क़ानून के उन तमाम पहलुओं की रिआयत को ध्यान में रखता है, जिनका वर्णन इससे पहले किया जा चुका है। औरत और मर्द के अधिकारों

को निश्चित करने में न्याय व इंसाफ़ को उसने जितना ध्यान में रखा है, उसे सविस्तार मैंने एक अलग किताब में बयान किया है जो 'इस्लाम में पति-पत्नी के अधिकार' के नाम से छपी है। उसे पढ़ने से आपको मालूम हो जाएगा कि दोनों लिंगों में जिस हद तक बराबरी क़ायम की जा सकती थी, वह इस्लाम ने क़ायम कर दी है। लेकिन इस्लाम उस बराबरी का क़ायल नहीं है जो प्राकृतिक क़ानून के ख़िलाफ़ हो। इंसान होने की हैसियत से जैसे अधिकार मर्द के हैं, वैसे ही औरत के हैं –

> "और उन पत्नियों के भी सामान्य नियम के अनुसार वैसे ही अधिकार हैं जैसी उनपर ज़िम्मेदारियाँ डाली गई हैं।"
>
> (क़ुरआन, 2:228)

लेकिन कर्त्ता पक्ष होने की हैसियत से जो वैयक्तिक श्रेष्ठता (इज़्ज़त के अर्थ में नहीं, बल्कि ग़लबा व वर्चस्व के अर्थ में) मर्द को हासिल है, वह उसने पूरे इंसाफ़ के साथ मर्द को दे रखी है–

> "और मर्दों के लिए उनपर एक दर्जा ज़्यादा है।" (क़ुरआन, 2:228)

इस तरह औरत और मर्द में वर्चस्व रखनेवाले पक्ष और जिस पक्ष पर वर्चस्वता हो, उन दोनों के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध स्वीकारते हुए इस्लाम ने ख़ानदान का निम्नलिखित क़ायदों के मुताबिक़ गठन किया है–

मर्द की प्रधानता

ख़ानदान में मर्द की हैसियत प्रधान (क़व्वाम) की है, यानी वह ख़ानदान का हाकिम है, रक्षक है, अख़लाक़ और मामलों का निगराँ है, उसकी बीवी-बच्चों पर उसका आज्ञापालन अनिवार्य है (बशर्ते कि वह अल्लाह और रसूल की नाफ़रमानी का हुक्म न दे) और उसपर ख़ानदान के लिए रोज़ी कमाने और ज़िंदगी की ज़रूरतों को पूरा करने की ज़िम्मेदारी है–

> "मर्द औरतों के मामलों के ज़िम्मेदार हैं, उस श्रेष्ठता के आधार पर जो अल्लाह ने उनमें से एक को दूसरे पर दे रखी है, और इस आधार पर कि वह (पुरुष) उनपर (महर व भरण-पोषण की शक्ल में) अपने

माल ख़र्च करते हैं।" (क़ुरआन, 4:34)

"मर्द अपनी बीवी-बच्चों पर हुक्मराँ (शासक) है और अपने अधीनों के प्रति अपने अमल (कर्म) पर वह ख़ुदा के सामने जवाबदेह है।" (हदीस : बुख़ारी)

"जो भली औरतें हैं वे आज्ञाकारी होती हैं और मर्दों के पीछे अल्लाह की रक्षा और संरक्षण में उनके अधिकारों की हिफ़ाज़त करती हैं।" (क़ुरआन, 4:34)

ख़ुदा के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* ने फ़रमाया –

"जब औरत अपने शौहर की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ घर से निकलती है तो आसमान का हर फ़रिश्ता उसपर लानत भेजता है और जिन्नों और इंसानों के सिवा, हर वह चीज़ जिसपर से वह गुज़रती है, फिटकार भेजती है उस वक़्त तक कि वह वापस न हो।"

(हदीस : कश्फ़ुल-ग़ुम्मा)

"और जिन बीवियों से तुमको सरकशी और नाफ़रमानी का डर हो, उनको नसीहत करो, (न मानें तो) शयन-कक्ष (ख़्वाबगाह) में उनसे ताल्लुक़ तोड़ लो (फिर भी न मानें तो) मारो, फिर अगर वे तुम्हारी बात मान लें तो उनपर ज़्यादती करने के लिए कोई बहाना न ढूँढो।"

(क़ुरआन, 4:34)

ख़ुदा के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* ने फ़रमाया –

"जो आदमी ख़ुदा का आज्ञापालन न करे, उसकी आज्ञा का पालन न किया जाए। अल्लाह की नाफ़रमानी में किसी आदमी की फ़रमाँबरदारी नहीं की जा सकती। फ़रमाँबरदारी सिर्फ़ अच्छी बातों में है। (अर्थात ऐसे आदेश में जो वैध और उचित हो।)"

(हदीस : बुख़ारी)

"हमने इंसान को हिदायत की है कि अपने माँ-बाप से अदब से पेश आए लेकिन अगर वे तुझको हुक्म दें कि तू मेरे साथ कोई शरीक

(भागीदार) ठहराए, जिसके लिए तेरे पास कोई दलील नहीं है, तो उनकी आज्ञा का पालन न कर।" (क़ुरआन, 29:8)

ख़ानदान का गठन इस तरीक़े से किया गया है कि उसका एक प्रमुख और फ़ैसले करनेवाला हो। जो आदमी इस व्यवस्था में बाधा डालने की कोशिश करे, उसके हक़ में ख़ुदा के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* की यह चेतावनी है कि–

"जो कोई किसी औरत के ताल्लुक़ात को उसके शौहर से ख़राब करने की कोशिश करे, उसका कुछ ताल्लुक़ हम से नहीं।"

(हदीस : कश्फ़ुल-ग़ुम्मा)

औरत का कार्य-क्षेत्र

इस्लाम की पारिवारिक व्यवस्था में औरत को घर की रानी बनाया गया है। माल कमाने की ज़िम्मेदारी उसके शौहर पर है और उस माल से घर का इन्तिज़ाम करना औरत का काम है –

"औरत अपने शौहर के घर की हुक्मराँ है और वही अपनी हुकूमत के दायरे में अपने अमल के लिए जवाबदेह है।" (हदीस : बुख़ारी)

उसको ऐसी तमाम ज़िम्मेदारियों से आज़ाद कर दिया गया है, जो घर से बाहर के मामलों से सम्बन्धित हैं, जैसे–

- उसपर जुमे की नमाज़ वाजिब नहीं। (हदीस : अबू दाऊद)
- उसपर जिहाद भी फ़र्ज़ नहीं, यद्यपि ज़रूरत पड़ने पर वह मुजाहिदों की देख-भाल के लिए जा सकती है, जैसा कि आगे चलकर सप्रमाण बयान होगा।
- उसके लिए जनाज़ों में शिर्कत भी ज़रूरी नहीं, बल्कि उससे रोका गया है। (हदीस : बुख़ारी)
- उसपर जमाअत के साथ नमाज़ और मस्जिदों की हाज़िरी भी ज़रूरी

नहीं की गई। हाँ, कुछ पाबन्दियों के साथ मस्जिदों में आने की इजाज़त ज़रूर दी गई है, लेकिन इसको पसन्द नहीं किया गया।

- उसको महरम (ऐसा रिश्तेदार जिससे विवाह हराम हो) के बिना सफ़र करने की भी इजाज़त नहीं दी गई। (हदीस : तिर्मिज़ी, अबू दाऊद)

अर्थात् हर तरीक़े से औरत के घर से निकलने को ना-पसन्द किया गया है और इसके लिए इस्लामी क़ानून में पसंदीदा शक्ल यही है कि वह घर में रहे, जैसा कि आयत 'अपने घरों में टिककर रहो'[1] (क़ुरआन, 33:33) का साफ़ मंशा

---

1. कुछ लोग कहते हैं कि यह हुक्म पैग़म्बर मुहम्मद *(सल्ल.)* की पाक बीवियों के लिए ख़ास है, क्योंकि आयत की शुरुआत 'ऐ नबी की बीवियो !' से की गई है। लेकिन इस पूरी आयत ('नबी की बीवियो ! तुम आम औरतों की तरह नहीं हो। अगर तुम अल्लाह से डरनेवाली हो तो दबी ज़बान से बात न किया करो कि दिल की ख़राबी में ग्रस्त कोई भी आदमी लालच में पड़ जाए, बल्कि साफ़-सीधी बात करो। अपने घरों में टिककर रहो और जाहिलियत के पिछले दौर की-सी सज-धज न दिखाती फिरो। नमाज़ क़ायम करो, ज़कात दो और अल्लाह और उसके रसूल की आज्ञा का पालन करो। अल्लाह तो यह चाहता है कि तुम नबी की घर वालियों से गन्दगी को दूर करे, और तुम्हें पूरी तरह पाक कर दे। याद रखो अल्लाह की आयतों और हिक्मत की उन बातों को, जो तुम्हारे घरों में सुनाई जाती हैं। बेशक अल्लाह सूक्ष्मदर्शी और बाख़बर है।' —क़ुरआन, 33:32-34) में जो हिदायतें दी गई हैं, इनमें से कौन-सी हिदायत ऐसी है जो नबी *(सल्ल.)* की पाक बीवियों के साथ ख़ास हो और कौन-सी चीज़ है जो आम मुसलमान औरतों के लिए नहीं है ? क्या मुसलमान औरतें परहेज़गार न बनें ? क्या वे ग़ैर-मर्दों से लगावट की बातें किया करें ? क्या वे जाहिलियत के बनाव-सिंगार करती फिरें ? क्या वे नमाज़ व ज़कात और अल्लाह और रसूल की इताअत से कतराएँ ? क्या अल्लाह उनको गन्दगी में रखना चाहता है ? अगर ये सब हिदायतें सब मुसलमान औरतों के लिए आम हैं तो सिर्फ़ 'अपने घरों में टिक कर रहो' ही को नबी *(सल्ल.)* की बीवीयों के साथ ख़ास करने की क्या वजह है ?

   असल में ग़लतफ़हमी इस वजह से पैदा हुई है कि आयत के शुरू में लोगों को ये शब्द नज़र आए कि "ऐ नबी की बीवियो! तुम आम औरतों की तरह नहीं हो।" लेकिन बात कहने की यह शैली बिल्कुल इस तरह की है कि जैसे किसी शरीफ़ बच्चे से कहा जाए कि "तुम कोई आम बच्चों की तरह तो हो नहीं कि बाज़ारों में फिरो और बेहूदा हरकतें करो, तुम्हें तमीज़ से रहना चाहिए।" ऐसा कहने से यह मक़सद हरगिज़ नहीं होता कि

है। लेकिन इस बारे में ज़्यादा सख़्ती इस लिए नहीं की गई कि कुछ हालात में औरतों का घर से निकलना ज़रूरी हो जाता है।

हो सकता है कि एक औरत का कोई संरक्षक न हो, यह भी मुमकिन है कि ख़ानदान के संरक्षक की ग़रीबी, आजीविका की कमी, बीमारी, मजबूरी या ऐसी ही वजहों से औरत बाहर काम करने पर मजबूर हो जाए, ऐसी तमाम शक्लों के लिए क़ानून में काफ़ी गुंजाइश रखी गई है। चुनांचे हदीस में है—

> "अल्लाह ने तुमको इजाज़त दी है कि तुम अपनी ज़रूरतों के लिए घर से निकल सकती हो।" (हदीस : बुख़ारी, मुस्लिम)

लेकिन इस क़िस्म की इजाज़त, जो सिर्फ़ परिस्थितियों और ज़रूरतों की रिआयत से दी गई है, इस्लामी सामाजिक व्यवस्था के इस नियम में संशोधन नहीं करती कि औरत के अमल का दायरा उसका घर है। इसकी तो सिर्फ़ एक गुंजाइश रखी गई है और इसे इसी हैसियत में रहना चाहिए।

दूसरे बच्चों के लिए बाज़ारीपन और बेहूदा हरकतें पसन्दीदा हैं और तमीज़ और शिष्टता उनके लिए ज़रूरी नहीं है। बल्कि इससे अच्छे अख़लाक़ का एक पैमाना क़ायम करना अपेक्षित होता है, ताकि हर वह बच्चा जो शरीफ़ बच्चों की तरह रहना चाहता हो इस पैमाने पर पहुंचने की कोशिश करे। क़ुरआन में औरतों के लिए नसीहत का यह तरीक़ा इसलिए अपनाया गया है कि अरब जाहिलियत की औरतों में वैसी ही आज़ादी थी, जैसी इस वक़्त यूरोप में है। नबी *(सल्ल.)* के ज़रीए से धीरे-धीरे उनको इस्लामी सभ्यता का आदी बनाया जा रहा था और उनके लिए अख़लाक़ी हद और रहन-सहन के ज़ाब्ते की क़ैदें मुक़र्रर की जा रही थीं। इस हालत में नबी *(सल्ल.)* की बीवियों की ज़िंदगी को ख़ास तौर पर नियंत्रित एवं सुव्यवस्थित किया गया, ताकि वे दूसरी औरतों के लिए नमूना बन जाएं और आम मुसलमानों के घरों में उनके तरीक़ों की पैरवी की जाए। ठीक यही राय अल्लामा अबू बक्र जस्सास ने अपनी किताब 'अहकामुल क़ुरआन' में ज़ाहिर की है। वे लिखते हैं, 'यह हुक्म हालाँकि नबी *(सल्ल.)* और आपकी बीवियों के लिए उतरा है, मगर इससे आम औरतें भी मुराद हैं जिसमें आप *(सल्ल.)* और दूसरे सब मुसलमान शरीक हैं, क्योंकि हम आप की पैरवी पर लगाए गए हैं और सब हुक्म, जो आपके लिए उतरे हैं, हमारे लिए भी हैं सिवाय उन मामलों के जिनके बारे में खोलकर कह दिया गया है कि वे आप (सल्ल.) के लिए ख़ास हैं।" (भाग 3, पृ.55)

ज़रूरी पाबन्दियाँ

बालिग़ (व्यस्क) औरतों को अपने निजी मामलों में काफ़ी आज़ादी दी गई है मगर उसको इस हद तक आज़ादी नहीं दी गई जिस हद तक बालिग़ (व्यस्क) मर्द को दी गई है। जैसे –

मर्द अपने इख़्तियार से जहाँ चाहे जा सकता है। लेकिन औरत, चाहे कुंवारी हो या शादी-शुदा या विधवा, हर हाल में सफ़र में उसके साथ एक महरम ज़रूर हो –

> "किसी औरत के लिए, जो अल्लाह और आख़िरत के दिन पर ईमान रखती हो, यह हलाल (वैध) नहीं है कि वह तीन दिन या इससे ज़्यादा का सफ़र करे बिना इसके कि उसके साथ उसका बाप या भाई या शौहर या बेटा या कोई महरम मर्द हो।" (हदीस)
>
> और अबू हुरैरह *(रज़ि.)* की रिवायत नबी *(सल्ल.)* से यह है कि नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "औरत एक दिन रात का सफ़र न करे जब तक कि उसके साथ कोई महरम मर्द न हो।" (हदीस : तिर्मिज़ी)
>
> और हज़रत अबू हुरैरा *(रज़ि.)* से यह भी रिवायत है कि नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "किसी मुसलमान औरत के लिए हलाल नहीं है कि एक रात का सफ़र करे, उस वक़्त तक जब तक उसके साथ एक महरम मर्द न हो।" (हदीस : अबू दाऊद)

इन रिवायतों में सफ़र की दूरी निश्चित करने में जो मतभेद है वह इस बात की दलील है कि असल में एक दिन या दो दिन का सवाल अहमियत नहीं रखता, बल्कि अहमियत सिर्फ़ इस बात की है कि औरत को अकेले इधर-उधर फिरने की ऐसी आज़ादी न दी जाए जो नैतिक बुराई फैलने की वजह बन जाए। इसी लिए नबी *(सल्ल.)* ने सफ़र की दूरी निश्चित करने पर ज़्यादा ज़ोर न दिया और अलग-अलग हालतों में वक़्त और मौक़े की रिआयत से अलग-अलग दूरियों का वर्णन किया।

मर्द को अपने विवाह के मामले में पूरी आज़ादी हासिल है। मुसलमान या

अहले-किताब (ईसाई, यहूदी) औरतों में से जिसके साथ वह चाहे विवाह कर सकता है, लेकिन औरत इस मामले में बिल्कुल आज़ाद नहीं है। वह किसी ग़ैर-मुस्लिम से विवाह नहीं कर सकती।

"न ये उनके लिए हलाल हैं और न वे इनके लिए हलाल।"

(क़ुरआन, 60:10)

ग़ुलाम और ग़ैर-मुस्लिम को छोड़कर आज़ाद मुसलमान मर्दों में से औरत अपने लिए शौहर का चुनाव कर सकती है, लेकिन इस मामले में भी उसके लिए अपने बाप-दादा, भाई और दूसरे सरपरस्तों की राय का लिहाज़ रखना ज़रूरी है। जबकि सरपरस्तों को यह हक़ नहीं कि औरत की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ किसी से उसका विवाह कर दें, क्योंकि नबी *(सल्ल.)* का आदेश है कि–

"लड़की अपने मामले में फ़ैसला करने का हक़ अपने सरपरस्त से ज़्यादा रखती है।" और

"कुँवारी लड़की का विवाह न किया जाए, जब तक कि उससे इजाज़त न ले ली जाए।"

मगर औरत के लिए यह मुनासिब नहीं कि अपने ख़ानदान के ज़िम्मेदार मर्दों की राय के ख़िलाफ़ जिसके साथ चाहे विवाह कर ले। इसी लिए क़ुरआन मजीद में जहाँ मर्द के विवाह का ज़िक्र है, वहाँ 'न-क-ह' 'यनकिहु' का शब्द इस्तेमाल हुआ है, जिसका मतलब है ख़ुद विवाह कर लेना, जैसे 'वला तन-किहुल मुशरिकात' (मुशरिक औरतों से विवाह न करो), 'फ़न-किहू हुन-न बिइज़्नि अहलिहिन-न' (उनसे उनके घरवालों की इजाज़त लेकर विवाह कर लो।) मगर जहाँ औरत के विवाह का ज़िक्र आया है वहाँ आम तौर से 'इनकाह' का शब्द इस्तेमाल किया गया है जिसका मतलब विवाह कर देना है, जैसे, 'व अन-किहुल अयामा मिनकुम' (अपनी बे-शौहर औरतों के निकाह करो) (क़ुरआन, 24:32)। 'वला तुन-किहुल मुशरिकी-न हत्ता युअ-मिनू' (अपनी औरतों के निकाह मुशरिक मर्दों से न करो, जब तक कि वे ईमान न लाएँ।) (क़ुरआन, 2:221)

इसका मतलब यह है कि जिस तरह शादीशुदा औरत अपने शौहर के अधीन है, उसी तरह ग़ैर-शादीशुदा औरत अपने ख़ानदान के ज़िम्मेदार मर्दों के अधीन है, मगर यह अधीनता इस अर्थ में नहीं है कि उसके लिए इरादा और अमल की कोई आज़ादी नहीं, या उसे अपने मामले में कोई इख़्तियार नहीं, बल्कि इस अर्थ में है कि सामाजिक व्यवस्था को बिगाड़ व बिखराव से बचाए रखने और ख़ानदान के अख़लाक़ और मामलों को भीतरी और बाहरी फ़ितनों से बचाने की ज़िम्मेदारी मर्द पर है और इस व्यवस्था के लिए औरत पर यह ज़िम्मेदारी डाली गई है कि जो आदमी इस व्यवस्था का ज़िम्मेदार हो उसकी इताअत करे, चाहे वह उसका शौहर हो या बाप या भाई।

औरत के अधिकार

इस तरह इस्लाम में इस बात को कि "अल्लाह ने कुछ को कुछ पर प्रधानता दी" एक प्राकृतिक हक़ीक़त मान लेने के साथ इस बात को भी कि "मर्दों के लिए औरतों पर एक दर्जा ज़्यादा है" ठीक-ठीक निश्चित कर दिया है। औरत और मर्द में जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान की दृष्टि से जो फ़र्क़ है उसको वह ठीक वैसा ही स्वीकार करता है। जितना अन्तर है उसे ज्यों का त्यों बरक़रार रखता है और जैसा अन्तर है उसके अनुसार उनके पद और ज़िम्मेदारियाँ मुक़र्रर करता है।

इसके बाद एक महत्त्वपूर्ण सवाल औरत के अधिकारों का है। इन अधिकारों के निश्चित करने में इस्लाम ने तीन बातों का ख़ास तौर पर ध्यान रखा है।

एक यह कि मर्द को जो हाकिमाना अधिकार सिर्फ़ ख़ानदान की व्यवस्था चलाने के लिए दिए गए हैं, उनसे नाजायज़ फ़ायदा उठाकर वह ज़ुल्म न कर सके और ऐसा न हो कि यह प्रधानता और अधीनता का ताल्लुक़ अमलन दासी और स्वामी का ताल्लुक़ बन जाए।

दूसरी यह कि औरत को ऐसे तमाम अवसर जुटाए जाएँ जिनसे फ़ायदा उठा कर वह सामाजिक व्यवस्था की हदों में अपनी स्वाभाविक क्षमताओं को ज़्यादा से ज़्यादा तरक़्क़ी दे सके और संस्कृति के निर्माण में अपने हिस्से का काम बेहतर से बेहतर अंजाम दे सके।

तीसरी यह कि औरत के लिए तरक़्क़ी और कामियाबी के ऊँचे से ऊँचे दर्जों तक पहुँचना संभव हो, मगर उसकी तरक़्क़ी और कामियाबी जो कुछ भी हो, औरत होने की हैसियत से हो। मर्द बनना न तो उसका हक़ है, न मर्दाना ज़िंदगी के लिए उसको तैयार करना उसके लिए और संस्कृति के लिए फ़ायदेमंद है और न मर्दाना ज़िंदगी में वह कामियाब हो सकती है।

ऊपर की तीनों बातों को पूरा-पूरा ध्यान में रखकर इस्लाम ने औरत को जैसे विस्तृत सामाजिक और आर्थिक हक़ दिए हैं और इज़्ज़त और प्रतिष्ठा व गौरव के जो ऊंचे दर्जे दिए हैं और उन हक़्क़ों और दर्जों की हिफ़ाज़त के लिए अपनी अख़लाक़ी और क़ानूनी हिदायतों में जैसी पायेदार ज़मानतें जुटाई हैं, उनका उदाहरण दुनिया की किसी नई व पुरानी सामाजिक व्यवस्थाओं में नहीं मिलता।

आर्थिक अधिकार

सबसे अहम और ज़रूरी चीज़ जिसकी वजह से समाज में इंसान की प्रतिष्ठा क़ायम होती है और जिसके ज़रीए से वह अपनी प्रतिष्ठा को बरक़रार रखता है, वह उसकी आर्थिक स्थिति की मज़बूती है। इस्लाम के सिवा तमाम क़ानूनों ने औरत को आर्थिक हैसियत से कमज़ोर किया है, और यही आर्थिक बे-बसी समाज में औरत की ग़ुलामी की सबसे बड़ी वजह बनी है। यूरोप ने इस हालत को बदलना चाहा, मगर इस तरह कि औरत को एक कमानेवाला व्यक्ति बना दिया है। यह एक दूसरी बहुत बड़ी ख़राबी का कारण बन गया। इस्लाम बीच का रास्ता अपनाता है। वह औरत को विरासत के अत्यन्त व्यापक अधिकार देता है। बाप से, शौहर से, औलाद से और दूसरे क़रीबी रिश्तेदारों से उसको विरासत[1] मिलती है। साथ ही शौहर से उसको महर भी मिलता है और

1. विरासत में औरत का हिस्सा मर्द के मुक़ाबले में आधा रखा गया है। इसकी वजह यह है कि औरत को गुज़ारा ख़र्च और महर के हक़ हासिल हैं, जिनसे मर्द वंचित है। औरत का गुज़ारा-ख़र्च सिर्फ़ उसके शौहर पर ही वाजिब नहीं है, बल्कि शौहर न होने पर बाप, भाई, बेटे या दूसरे वलियों (सरपरस्तों) पर उसकी ज़िम्मेदारी वाजिब होती है। अतः जब औरत पर वे ज़िम्मेदारियाँ नहीं हैं जो मर्द पर हैं तो विरासत में उसका हिस्सा भी वह न होना चाहिए जो मर्द का है।

उन तमाम ज़रीओं से जो कुछ माल उसको पहुँचता है, उसमें मिल्कियत, क़ब्ज़ा और उपभोग के पूरे हक़ उसे दिए गए हैं जिसमें दख़ल देने का अधिकार न उसके बाप को हासिल है, न शौहर को, न किसी और को। साथ ही अगर वह किसी तिजारत में रुपया लगाकर या ख़ुद मेहनत करके कुछ कमाए तो उसकी मालिक भी पूरी की पूरी वही है, और इन सबके बावुजूद गुज़र-बसर का ख़र्च हर हाल में उसके शौहर पर वाजिब है। बीवी चाहे कितनी ही मालदार हो, उसका शौहर उसके गुज़ारा-ख़र्च से मुक्त नहीं हो सकता। इस तरह इस्लाम में औरत की आर्थिक हैसियत इतनी मज़बूत हो गई है कि कभी-कभी वह मर्द से ज़्यादा बेहतर हालत में होती है।

सामाजिक अधिकार

1. औरत को अपना शौहर चुनने का पूरा-पूरा अधिकार दिया गया है। उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ या उसकी रज़ामंदी के बिना कोई आदमी उसका विवाह नहीं कर सकता और अगर वह ख़ुद अपनी मर्ज़ी से किसी मुस्लिम व्यक्ति के साथ विवाह कर ले, तो कोई उसे रोक नहीं सकता। अलबत्ता, अगर उसके चुनाव की नज़र किसी ऐसे आदमी पर पड़े जो उसके ख़ानदानी मर्तबे से गिरा हुआ हो तो इस स्थिति में उसके सरपरस्तों को एतिराज़ का हक़ हासिल है।

2. एक नापसन्दीदा या ज़ालिम या नाकारा शौहर के मुक़ाबले में औरत को ख़ुलअ् लेने और विवाह के ख़त्म कराने और अलगाव इख़्तियार कर लेने के व्यापक अधिकार दिए गए हैं।

3. शौहर को बीवी पर जो अधिकार इस्लाम ने दिए हैं, उनके इस्तेमाल में अच्छा सुलूक और उदारतापूर्ण व्यवहार अपनाने की हिदायत की गई है। क़ुरआन का आदेश है –

   "औरतों के साथ नेकी का बर्ताव करो।" (क़ुरआन, 4:19)

   "आपस के ताल्लुक़ात में उदारता को न भूल जाओ।"
   (क़ुरआन, 2:237)

नबी (सल्ल.) का इर्शाद है–

''तुममें अच्छे वे लोग हैं जो अपनी बीवियों के साथ व्यवहार में अच्छे हैं और अपने बाल-बच्चों के साथ नर्मी व मेहरबानी का सुलूक करनेवाले हैं।''

ये सिर्फ़ अख़लाक़ी हिदायतें ही नहीं हैं। अगर शौहर अपने इख़्तियारों के इस्तेमाल में ज़ुल्म से काम ले तो औरत को क़ानून से मदद लेने का हक़ भी हासिल है।

4. विधवा और तलाक़शुदा औरतों और ऐसी तमाम औरतों को जिनके विवाह क़ानून के मुताबिक़ ख़त्म कर दिए गए हों, या जिनको अलगाव के हुक्म के ज़रीए से शौहर से जुदा किया गया हो, दूसरे विवाह का बिना शर्त अधिकार दिया गया है और इस बात को साफ़ कर दिया गया है कि उनपर पिछले शौहर या उसके किसी रिश्तेदार का कोई हक़ बाक़ी नहीं। यह वह अधिकार है जो आज तक यूरोप और अमरीका के बहुत-से मुल्कों में औरतों को नहीं मिला है।

5. दीवानी और फ़ौजदारी के क़ानूनों में औरत और मर्द के बीच पूरी समानता क़ायम की गई है। जान व माल और इज़्ज़त की हिफ़ाज़त में इस्लामी क़ानून औरत और मर्द के दर्मियान किसी क़िस्म का भेद नहीं करता।

औरतों की तालीम

औरतों को दीनी और दुनियावी तालीम की न सिर्फ़ इजाज़त दी गई है, बल्कि उनकी तालीम व तर्बियत को उतना ही ज़रूरी क़रार दिया गया है जितना मर्दों की तालीम व तर्बियत ज़रूरी है। नबी (सल्ल.) से दीन व अख़लाक़ की तालीम जिस तरह मर्द हासिल करते थे, उसी तरह औरतें भी करती थीं। आपने उनके लिए समय निश्चित कर दिए थे जिनमें वे आपसे सीखने के लिए हाज़िर होती थीं। आपकी पाक बीवियाँ और ख़ास तौर से हज़रत आइशा सिद्दीक़ा *(रज़ि.)* न सिर्फ़ औरतों को बल्कि मर्दों को भी सिखाती-पढ़ाती रहती थीं और बड़े-बड़े सहाबा व ताबिईन उनसे हदीस, तफ़्सीर और फ़िक़्ह की तालीम

हासिल करते थे। बड़े लोग तो दूर की बात, नबी *(सल्ल.)* ने लौंडियों तक को इल्म और अदब सिखाने का हुक्म दिया था। चुनांचे नबी *(सल्ल.)* का इर्शाद है कि–

> "जिस आदमी के पास कोई लौंडी हो और वह उसको ख़ूब तालीम दे और अच्छी तहज़ीब सिखाए, फिर उसको आज़ाद करके उससे शादी करे तो उसके लिए दोहरा अज्र (पुण्य, बदला) है।"
>
> (हदीस : बुख़ारी)

अत: जहाँ तक तालीम व तर्बियत का ताल्लुक़ है, इस्लाम ने औरत और मर्द के बीच कोई अन्तर नहीं किया है, अलबत्ता स्वरूप में अन्तर ज़रूरी है। इस्लामी दृष्टि से औरत की सही तालीम व तर्बियत वह है, जो उसको एक बेहतरीन बीवी, बेहतरीन माँ और बेहतरीन घरवाली बनाए। उसका कार्य-क्षेत्र घर है, इसलिए ख़ास तौर से उन विषयों की तालीम दी जानी चाहिए जो उस क्षेत्र में उसे ज़्यादा फ़ायदेमंद बना सकते हैं। साथ ही वह ज्ञान भी उसके लिए ज़रूरी है जो इंसान को इंसान बनानेवाले और उसके अख़लाक़ को सँवारने वाले और उसकी नज़र को व्यापक करनेवाले हैं। ऐसी तालीम और ऐसी तर्बियत हासिल करना हर मुसलमान औरत के लिए ज़रूरी है। इसके बाद अगर कोई औरत ग़ैर-मामूली अक़्ली व ज़ेहनी योग्यता रखती हो और उन विषयों के अलावा दूसरे विषयों की तालीम भी हासिल करना चाहे तो इस्लाम उसकी राह में रोक नहीं पैदा करता, बशर्ते कि वह उन हदों से आगे न बढ़े जो शरीअत ने औरतों के लिए मुक़र्रर कर दी हैं।

औरत का असली उद्धार (Emancipation)

यह तो सिर्फ़ अधिकारों का ज़िक्र है, मगर इससे उस बड़े एहसान का अन्दाज़ा नहीं किया जा सकता, जो इस्लाम ने औरत पर किया है। मानव समाज का पूरा इतिहास इसपर गवाह है कि औरत का वुजूद दुनिया में ज़िल्लत, शर्म और गुनाह का वुजूद था। बेटी की पैदाइश बाप के लिए बहुत बड़ा ऐब और अपमान का कारण समझी जाती थी। ससुराली रिश्ते रुसवाई के रिश्ते समझे जाते थे, यहाँ तक कि ससुर और साले शब्द इसी जाहिली विचार के

तहत आज तक गाली के तौर पर इस्तेमाल हो रहे हैं। बहुत-सी क़ौमों में इसी रुसवाई से बचने के लिए लड़कियों को क़त्ल कर देने का रिवाज हो गया था।[1] जाहिलों को तो छोड़ो, उलमा और मज़हबी पेशवा तक में मुद्दतों तक इस सवाल पर बहस छिड़ी रही कि औरत इंसान भी है या नहीं? और ख़ुदा ने उसको रूह बख़्शी है या नहीं ? हिन्दू धर्म में वेदों की तालीम का दरवाज़ा औरत के लिए बन्द था। बौद्ध मत में औरत से ताल्लुक़ रखनेवाले के लिए निर्वाण की कोई शक्ल न थी। ईसाइयों और यहूदियों की निगाह में औरत ही इंसानी गुनाह की बुनियाद डालनेवाली और ज़िम्मेदार थी। यूनान में घर वालियों के लिए न ज्ञान था, न संस्कृति, न सभ्यता और न ही नागरिकता के अधिकार। ये चीज़ें जिस औरत को मिलती थीं, वह रंडी (वेश्या) होती थी। रूम, ईरान, चीन और मिस्र और मानव संस्कृति के दूसरे केन्द्रों का हाल भी क़रीब-क़रीब ऐसा ही था। सदियों के उत्पीड़न और अधीनता और विश्वव्यापी अपमान के बर्ताव ने ख़ुद औरत के ज़ेहन से भी अपनी इज़्ज़त का एहसास मिटा दिया था। वह ख़ुद भी इस बात को भूल गई थी कि दुनिया में वह कोई हक़ लेकर पैदा हुई है या उसके लिए भी इज़्ज़त की कोई जगह है। मर्द उसपर ज़ुल्म व सितम करना अपना अधिकार समझता था और वह उसके ज़ुल्म को सहना अपना कर्त्तव्य जानती थी। ग़ुलामी की ज़ेहनियत इस हद तक उसमें पैदा कर दी गई थी कि वह गर्व के साथ अपने आपको शौहर की 'दासी' कहती थी। 'पतिव्रता' होना उसका धर्म था, और पतिव्रता का मतलब यह था कि शौहर उसका पूज्य-प्रभु और देवता है।

इस माहौल में जिसने न सिर्फ़ क़ानूनी और अमली हैसियत से बल्कि ज़ेहनी हैसियत से भी एक बड़ा इनक़िलाब पैदा किया है, वह इस्लाम है।

---

1. क़ुरआन इस जाहिली ज़ेहनियत को बड़े अच्छे और प्रभावपूर्ण अन्दाज़ में बयान करता है, "और जब उनमें से किसी को बेटी के पैदा होने की ख़बर दी जाती है तो उसके चेहरे पर कलौंस छा जाती है और वह ख़ून का-सा घूँट पीकर रह जाता है। इस ख़बर से जो शर्म का दाग़ उसको लग गया है, उसकी वजह से लोगों से मुँह छिपाता फिरता है और सोचता है कि क्या रुसवाई के साथ बेटी को लिए रहूँ या मिट्टी में दबा दूँ?"
(क़ुरआन, 16:58-59)

इस्लाम ने ही औरत और मर्द दोनों की ज़ेहनियतों को बदला है। औरत की इज़्ज़त और उसके हक़ का विचार ही इंसान के दिमाग़ में इस्लाम का पैदा किया हुआ है। आज औरतों के अधिकारों, औरतों की तालीम और औरतों की जागरूकता के जो शब्द आप सुन रहे हैं, ये सब उसी इनक़िलाबी आवाज़ की प्रतिध्वनियाँ हैं जो मुहम्मद *(सल्ल.)* की ज़बान से बुलन्द हुई थी और जिसने इंसानी विचारों का रुख़ हमेशा के लिए बदल दिया। वे मुहम्मद *(सल्ल.)* ही हैं जिन्होंने दुनिया को बताया कि औरत भी वैसी ही इंसान है, जैसा मर्द है—

> "अल्लाह ने तुम सबको एक जान से पैदा किया और उसी की जिंस (जाति) से उसके जोड़े को पैदा किया।" (क़ुरआन, 4:1)

> ख़ुदा की निगाह में औरत और मर्द के दर्मियान कोई अन्तर नहीं।

> "जो कुछ मर्दों ने कमाया है उसके अनुसार उनका हिस्सा है और जो कुछ औरतों ने कमाया है उसके अनुसार उनका हिस्सा है।" (क़ुरआन, 4:32)

ईमान और नेक अमल के साथ रूहानी तरक़्क़ी के जो दर्जे मर्द को मिल सकते हैं, वही औरत के लिए भी खुले हुए हैं। मर्द अगर इबराहीम-बिन-अदहम बन सकता है तो औरत को भी राबिआ बसरी जैसी महान महीला बनने से कोई चीज़ नहीं रोक सकती—

> "उनके रब ने उनकी दुआ के जवाब में फ़रमाया कि मैं तुममें से किसी के कर्म अकारथ करनेवाला नहीं हूँ, चाहे वह मर्द हो या औरत। तुम सब एक दूसरे के सहजाति हो।" (क़ुरआन, 3:195)

> "और जो कोई भी नेक कर्म करेगा, चाहे मर्द हो या औरत, मगर हो ईमानवाला, तो ऐसे सब लोग जन्नत में दाख़िल होंगे और उनपर रत्ती बराबर ज़ुल्म न होगा।" (क़ुरआम, 4:124)

फिर वे मुहम्मद *(सल्ल.)* ही हैं जिन्होंने मर्द को भी ख़बरदार किया और औरत में भी यह एहसास पैदा किया कि जैसे अधिकार औरत पर मर्द के हैं, वैसे ही मर्द पर औरत के हैं—

"औरत पर जैसी ज़िम्मेदारियाँ हैं वैसे ही उसके अधिकार भी हैं।"

(क़ुरआन, 2:228)

फिर वह मुहम्मद *(सल्ल.)* ही का व्यक्तित्त्व है जिसने औरत को ज़िल्लत और रुसवाई की जगह से उठाकर इज़्ज़त की जगह पर पहुँचाया। वे नबी *(सल्ल.)* ही हैं जिन्होंने बाप को बताया कि बेटी का वुजूद तेरे लिए शर्म की बात नहीं है, बल्कि उसका पालन-पोषण और उसके हक़ों का देना तुझे जन्नत का हक़दार बनाता है–

"जिसने दो लड़कियों की परवरिश की, यहाँ तक कि वे बालिग़ (व्यस्क) हो गईं, तो क़ियामत के दिन मैं और वह (व्यक्ति) इस तरह साथ आएँगे, जैसे मेरे हाथ की ये दो उँगलियाँ साथ-साथ हैं।"

(हदीस : मुस्लिम)

"जिसके यहाँ लड़कियाँ पैदा हों और वह अच्छी तरह उनकी परवरिश करे तो यही लड़कियाँ उसके लिए नरक से आड़ बन जाएँगी।" (हदीस : मुस्लिम)

नबी *(सल्ल.)* ही ने शौहर को बताया कि नेक बीवी तेरे लिए दुनिया में सबसे बड़ी नेमत है–

"दुनिया की नेमतों में बेहतरीन नेमत नेक बीवी है।"

(हदीस : नसई)

"दुनिया की चीज़ों में मुझको सबसे ज़्यादा महबूब औरत और ख़ुश्बू है, और मेरी आँखों की ठंडक नमाज़ में है।" (हदीस : नसई)

"दुनिया की नेमतों में से कोई चीज़ नेक बीवी से बेहतर नहीं है।"

(हदीस : इब्ने-माजा)

नबी *(सल्ल.)* ही ने बेटे को बताया कि ख़ुदा और रसूल के बाद सबसे ज़्यादा इज़्ज़त और क़द्र और अच्छे व्यवहार की हक़दार तेरी माँ है–

एक आदमी ने रसूल *(सल्ल.)* से पूछा, "ऐ अल्लाह के रसूल ! मुझ

पर अच्छे व्यवहार का सबसे ज़्यादा हक़ किसका है?" फ़रमाया, "तेरी माँ का।" उसने पूछा, "फिर किसका?" फ़रमाया, "तेरी माँ का।" उसने पूछा, "फिर किसका?" फ़रमाया, "तेरी माँ का।" उसने पूछा, "फिर किसका?" फ़रमाया, "तेरे बाप का!"

(हदीस : बुख़ारी)

"अल्लाह ने तुमपर माँओं की नाफ़रमानी और उनका हक़ मारना हराम कर दिया है।" (हदीस : बुख़ारी)

नबी *(सल्ल.)* ही ने इंसान को इस हक़ीक़त से आगाह किया कि भावनाओं की बहुलता, एहसासों की कोमलता और इन्तिहा-पसन्दी की ओर झुकाव औरत की फ़ितरत में है। इसी फ़ितरत पर अल्लाह ने उसको पैदा किया है और यह औरत के लिए ऐब नहीं, उसका सौन्दर्य है। तुम उससे जो कुछ भी फ़ायदा उठा सकते हो, उस फ़ितरत पर क़ायम रहकर ही उठा सकते हो। अगर उसको मर्दों की तरह सीधा और सख़्त बनाने की कोशिश करोगे तो उसे तोड़ दोगे। (हदीस : बुख़ारी)

इस तरह मुहम्मद *(सल्ल.)* वे पहले और वास्तव में आख़िरी व्यक्ति हैं, जिन्होंने औरत के बारे में न सिर्फ़ मर्द की बल्कि ख़ुद औरत की अपनी ज़ेहनियत को भी बदल दिया और जाहिली ज़ेहनियत की जगह एक निहायत सही ज़ेहनियत पैदा की जिसकी बुनियाद भावनाओं पर नहीं, बल्कि विशुद्ध बुद्धि और इल्म पर थी। फिर आपने आंतरिक सुधार ही को काफ़ी न समझा, बल्कि क़ानून के ज़रीए से औरतों के अधिकारों की सुरक्षा और मर्दों के ज़ुल्म की रोक-थाम का भी इन्तिज़ाम कर दिया और औरतों में इतनी जागरूकता पैदा की कि वे अपने जायज़ अधिकारों को समझें और उनकी हिफ़ाज़त के लिए क़ानून से मदद लें।

ख़ुदा के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* के व्यक्तित्व में औरतों को एक स्नेही और ममतामय समर्थक और ऐसा ज़बरदस्त सरपरस्त मिल गया था कि अगर उनपर ज़रा-सी भी ज़्यादती होती, तो वे शिकायत लेकर बेझिझक नबी

(सल्ल.) के पास दौड़ जाती थीं, और मर्द इस बात से डरते थे कि कहीं उनकी बीवियों को आप *(सल्ल.)* तक शिकायत ले जाने का मौक़ा न मिल जाए। हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-उमर *(रज़ि.)* का बयान है कि जब तक नबी *(सल्ल.)* ज़िंदा रहे, हम अपनी औरतों से बात करने में सावधानी बरतते थे कि कहीं हमारे बारे में अल्लाह का कोई हुक्म न नाज़िल हो जाए। जब नबी *(सल्ल.)* का इंतिक़ाल हुआ, तब हमने खुलकर बात करनी शुरू की। (हदीस : बुख़ारी)

हदीस की किताब इब्ने-माजा में है कि नबी *(सल्ल.)* ने बीवियों पर ज़ुल्म करने की आम मनाही कर दी थी। एक बार हज़रत उमर *(रज़ि.)* ने शिकायत की कि औरतें बहुत शोख़ (सरकश) हो गई हैं, उनको क़ाबू में करने के लिए मारने की इजाज़त होनी चाहिए। आपने इजाज़त दे दी। लोग न जाने कब से भरे बैठे थे। जिस दिन इजाज़त मिली, उसी दिन सत्तर औरतें अपने घरों में पीटी गईं। दूसरे दिन नबी *(सल्ल.)* के मकान पर फ़रियादी औरतों की भीड़ लग गई। आप *(सल्ल.)* ने लोगों को जमा होने का हुक्म दिया। ख़ुतबा देने खड़े हुए और फ़रमाया—

> "आज मुहम्मद के घरवालों के पास सत्तर औरतों ने चक्कर लगाया है। हर औरत अपने शौहर की शिकायत कर रही थी। जिन लोगों ने यह हरकत की है, वे तुममें से हरगिज़ अच्छे लोग नहीं हैं।"
>
> (हदीस : बुख़ारी)

इसी अख़लाक़ी और क़ानूनी सुधार का नतीजा है कि इस्लामी समाज में औरत को वह बुलन्द हैसियत हासिल हुई जिसकी मिसाल दुनिया की किसी सोसाइटी में नहीं पाई जाती। मुसलमान औरत दुनिया और दीन में भौतिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक स्तर पर इज़्ज़त और तरक़्क़ी के उन ऊँचे से ऊँचे दर्जों तक पहुँच सकती है जिन तक मर्द पहुँच सकता है और उसका औरत होना उसकी राह में तनिक भी रुकावट नहीं है। आज इस बीसवीं सदी में भी दुनिया इस्लाम से बहुत पीछे है। इंसानी चिन्तन का विकास अब भी उस जगह तक नहीं पहुँचा है जिसपर इस्लाम पहुँचा है। पश्चिमी संस्कृति ने औरत को जो कुछ

दिया है, औरत की हैसियत से नहीं दिया है बल्कि मर्द बनाकर दिया है। औरत हक़ीक़त में अब भी उसकी निगाह में वैसी ही अपमानित है, जैसी जाहिलियत के पुराने दौर में थी। घर की मालकिन, शौहर की बीवी, बच्चों की माँ, एक असली और हक़ीक़ी औरत के लिए अब भी कोई इज़्ज़त नहीं है। इज़्ज़त अगर है तो उस 'स्त्री रूपी मर्द' या 'मर्द रूपी औरत' के लिए है जो जिस्मानी हैसियत से तो औरत हो, मगर दिमाग़ी और ज़ेहनी हैसियत से मर्द हो, और समाज व संस्कृति में मर्द ही के समान काम करे। ज़ाहिर है कि यह औरत की इज़्ज़त नहीं, पुरुष की इज़्ज़त है।

फिर हीन-भावना (Inferiority Complex) का खुला हुआ सुबूत यह है कि पश्चिमी औरत मर्दाना लिबास गर्व के साथ पहनती है, हालांकि कोई मर्द ज़नाना लिबास पहनकर पब्लिक में आने की बात सोच भी नहीं सकता। बीवी बनना लाखों पाश्चात्य नारियों की दृष्टि में अपमानजनक है, हालांकि शौहर बनना किसी मर्द के नज़दीक अपमान की बात नहीं। मर्दाना काम करने में औरतें इज़्ज़त महसूस करती हैं, हालांकि घरेलू काम और बच्चों के पालन-पोषण जैसे शुद्ध ज़नाना कामों में कोई मर्द इज़्ज़त नहीं महसूस करता।

अतः, निस्संकोच कहा जा सकता है कि पश्चिम ने औरत को औरत होने की हैसियत में कोई इज़्ज़त नहीं दी है। यह काम इस्लाम और सिर्फ़ इस्लाम ने किया है कि किसी औरत को संस्कृति और समाज में उसकी स्वाभाविक जगह पर रखकर इज़्ज़त व प्रतिष्ठा का दर्जा दिया और सही अर्थों में 'औरत' के दर्जे को बुलन्द कर दिया। इस्लामी संस्कृति औरत को औरत और मर्द को मर्द रखकर दोनों से अलग-अलग वही काम लेती है जिनके लिए प्रकृति ने उन्हें बनाया है, और फिर हर एक को उसकी जगह ही पर रखते हुए इज़्ज़त, तरक़्क़ी और कामियाबी के समान अवसर जुटाती है। उसकी निगाह में औरत और मर्द दोनों इंसानियत के ज़रूरी हिस्से हैं। इस्लामी संस्कृति के लिए दोनों की अहमियत बराबर है। दोनों अपने-अपने दायरे में जो ख़िदमात अंजाम देते हैं। वे समान रूप से फ़ायदेमंद और समान रूप से क़द्र के हक़दार हैं, न मर्द होने में कोई इज़्ज़त है, न औरत होने में कोई रुसवाई। जिस तरह मर्द के लिए इज़्ज़त,

इस्लामी सामाजिक व्यवस्था

3. संरक्षण

यह इस्लामी सामाजिक व्यवस्था की पूरी रूप-रेखा थी। अब आगे बढ़ने से पहले इस रूप-रेखा की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को फिर एक नज़र देख लीजिए–

1. इस व्यवस्था का मंशा यह है कि सामूहिक माहौल को, जहाँ तक संभव हो, कामुक उत्तेजनाओं और हरकतों से पाक रखा जाए, ताकि इंसान की शारीरिक और मानसिक ताक़तों को एक साफ़-सुथरे और शांत माहौल में तरक़्क़ी का मौक़ा मिले और वह अपनी सुरक्षित और संचित शक्ति के साथ समाज के निर्माण में अपने हिस्से का काम अंजाम दे सके।
2. यौन-सम्बन्ध बिल्कुल शादी के दायरे में सीमित हों और इस दायरे के बाहर न सिर्फ़ अमल के बिखराव को रोका जाए, बल्कि विचार के बिखराव का भी संभव सीमा तक रास्ता बन्द कर दिया जाए।
3. औरत का कार्य-क्षेत्र मर्द के कार्य-क्षेत्र से अलग हो। दोनों की प्रकृति और शारीरिक व मानसिक क्षमता के लिहाज़ से समाज की अलग-अलग सेवाएँ उनके सुपुर्द की जाएँ और उनके ताल्लुक़ात इस तौर पर बनाए जाएँ कि वे जायज़ हदों के अन्दर एक-दूसरे के मददगार हों, मगर हदों से आगे बढ़कर कोई किसी के काम में बाधा न डाल सके।
4. ख़ानदान की व्यवस्था में मर्द की हैसियत अभिभावक की हो और घर के तमाम लोग उसके अधीन रहें।
5. औरत और मर्द दोनों को पूरे इंसानी हक़ हासिल हों और दोनों को तरक़्क़ी के बेहतर से बेहतर मौक़े दिए जाएँ, मगर दोनों में से कोई भी उन सीमाओं का उल्लंघन न कर सके जो समाज में उसके लिए मुक़र्रर कर दी गई हैं।

इस रूप-रेखा पर जिस सामाजिक व्यवस्था की बुनियाद रखी गई है, उसको कुछ ऐसे संरक्षणों की ज़रूरत है जिनसे उसकी व्यवस्था अपनी तमाम विशेषताओं के साथ बरक़रार रहे। इस्लाम में ये संरक्षण तीन प्रकार के हैं–

1. अन्तःकरण का सुधार
2. दण्ड-संहिता
3. रोक-थाम के उपाय

ये तीनों संरक्षण सामाजिक व्यवस्था के मिज़ाज और उसके उद्देश्यों का सही ताल-मेल ध्यान में रखकर निर्धारित किए गए हैं और मिल-जुलकर उसकी सुरक्षा करते हैं।

अंतःकरण के सुधार के ज़रीए से इंसान की तर्बियत इस तौर पर की जाती है कि वह अपने आप ही इस सामाजिक व्यवस्था के नियमों का पालन करने के लिए तैयार हो, साधारणतया चाहे बाहर में कोई ताक़त उसको पालन करने पर मजबूर करनेवाली हो या न हो।

दण्ड-संहिता के ज़रीए से ऐसे अपराधों की रोक-थाम की जाती है, जो इस व्यवस्था को तोड़ने और उसके स्तंभों को ध्वस्त करनेवाले हों।

रोक-थाम के उपायों के ज़रीए से सामूहिक ज़िंदगी में ऐसे तरीक़े प्रचलित किए गए हैं जो समाज के माहौल को अप्राकृतिक उत्तेजनाओं और बनावटी उत्प्रेरकों से पाक कर देते हैं और यौन-विकार की संभावनाओं को कम से कम हद तक घटा देते हैं। अख़लाक़ी तालीम से जिन लोगों के अन्तःकरण का सुधार मुकम्मल न हुआ हो और जिनको दण्ड-संहिताओं का डर भी न हो, उनकी राह में ये तरीक़े ऐसी रुकावटें डाल देते हैं कि यौन-विकार की ओर झुकाव रखने के बावुजूद उनके लिए अमली क़दम उठाना बहुत मुशकिल हो जाता है। इसके अलावा यही वे तरीक़े हैं जो औरत और मर्द के कार्य-क्षेत्रों को व्यावहारिक रूप से अलग करते हैं, ख़ानदान की व्यवस्था को उसकी सही इस्लामी शक्ल पर क़ायम करते हैं और उन हदों की हिफ़ाज़त करते हैं जो औरतों और मर्दों की ज़िंदगी में अन्तर क़ायम रखने के लिए इस्लाम ने मुक़र्रर की हैं।

अतं:करण का सुधार

इस्लाम में आज्ञापालन की बुनियाद पूर्णतः ईमान पर रखी गई है। जो आदमी ख़ुदा और उसकी किताब और उसके रसूल पर ईमान रखता हो, वही शरीअत की आज्ञा और निषेध का असल मुख़ातब है और उसको आज्ञा का पालक और निषेध से विमुख बनाने के लिए सिर्फ़ यह ज्ञान हो जाना काफ़ी है कि फ़लाँ हुक्म ख़ुदा का हुक्म है और फ़लाँ मनाही ख़ुदा की मनाही है। अतः जब एक मोमिन को ख़ुदा की किताब से यह मालूम हो जाए कि अल्लाह अश्लीलता और बदकारी से मना करता है तो उसके ईमान का तक़ाज़ा यही है कि वह इससे दूर रहे और अपने दिल को भी उसकी ओर आकर्षित होने से पाक रखे। इसी तरह जब एक मोमिन औरत को यह मालूम हो जाए कि अल्लाह और उसके रसूल ने समाज में उसके लिए क्या हैसियत निर्धारित की है तो उसका भी ईमान का तक़ाज़ा यही है कि वह भी राज़ी-ख़ुशी उस हैसियत को क़बूल करे और अपनी हद से आगे न बढ़े। इस लिहाज़ से ज़िंदगी के दूसरे विभागों की तरह अख़लाक़ और सामाजिकता के दायरे में भी इस्लाम के सही और पूर्ण पालन का दायित्व ईमान पर है और यही वजह है कि इस्लाम में अख़लाक़ और सामाजिकता के बारे में हिदायतें देने से पहले ईमान की ओर दावत दी गई है और दिलों में उसको मज़बूती के साथ बिठाने की कोशिश की गई है।

यह तो अंत:करण के सुधार का वह बुनियादी साधन है जिसका ताल्लुक़ सिर्फ़ अख़लाक़ी मामलों ही से नहीं, बल्कि पूरी इस्लामी व्यवस्था से है। इसके बाद विषेश रूप से अख़लाक़ के दायरे में इस्लाम ने तालीम व तर्बियत का एक अत्यन्त तत्त्वदर्शितापूर्ण तरीक़ा इख़्तियार किया है जिसको हम संक्षेप में यहाँ बयान करते हैं।

हया

पहले सांकेतिक रूप से यह कहा जा चुका है कि व्यभिचार (ज़िना), चोरी, झूठ और तमाम दूसरे गुनाह के काम जिन्हें हैवानी प्रकृति के ग़लबे से इंसान करता है, सब के सब इंसानी प्रकृति के ख़िलाफ़ हैं। क़ुरआन ऐसे सारे कामों

को 'मुनकर' शब्द से अभिव्यक्त करता है। 'मुनकर' अरबी शब्द है जिसका अर्थ 'अनजाना', 'अपरिचित' है। इन कामों को मुनकर कहने का मतलब यह हुआ कि ये ऐसे काम हैं, जिनसे इंसानी प्रकृति परिचित नहीं है। अब यह ज़ाहिर है कि जब इंसान की प्रकृति उनसे परिचित नहीं है और हैवानी प्रकृति उसपर ज़बरदस्ती हमला करके उसको इन कामों के करने पर मजबूर करती है तो ख़ुद इंसान ही की प्रकृति में कोई ऐसी चीज़ भी होनी चाहिए, जो तमाम अजनबी चीज़ों से नफ़रत करने वाली हो। ख़ुदा ने इस चीज़ की निशानदेही कर दी है। वह इसे ''हया'' का नाम देता है।

हया का मतलब है 'शर्म'। इस्लाम की विशिष्ट परिभाषा में हया से मुराद वह शर्म है जिसको किसी अजनबी और अपरिचित काम की ओर झुकाव रखने वाला इंसान ख़ुद अपनी प्रकृति के सामने और अपने ख़ुदा के सामने महसूस करता है। यही हया वह ताक़त है जो इंसान को अश्लील और बुरे काम करने से रोकती है और अगर वह हैवानी प्रवृत्ति के ग़लबे से कोई बुरा काम कर गुज़रता है तो यही चीज़ उसके दिल में खटक पैदा करती है। इस्लाम की अख़लाक़ी तालीम व तर्बियत का ख़ुलासा यह है कि वह हया के इसी छिपे हुए तत्त्व को इंसानी प्रकृति की गहराइयों से निकालकर ज्ञान, समझ और चेतना के भोजन से उसे पालती-पोसती है और एक मज़बूत अख़लाक़ी एहसास की दीवार बनाकर उसको इंसानी अन्तःचेतना में एक कोतवाल की हैसियत से नियुक्त कर देती है। यह हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* के उस कथन की ठीक-ठीक व्याख्या है, जिसमें इर्शाद हुआ है कि ''हर दीन का एक अख़लाक़ होता है, और इस्लाम का अख़लाक़ हया है।'' और वह हदीस भी इसी विषय पर रौशनी डालती है जिसमें आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया कि ''जब तुझमें हया नहीं तो जो तेरा जी चाहे कर।'' क्योंकि जब हया न होगी तो ख़ाहिश, जिसका स्रोत हैवानी प्रकृति है, तुझपर ग़ालिब आ जाएगी और कोई मुनकर तेरे लिए मुनकर ही न रहेगा।

इंसान की प्राकृतिक हया एक ऐसे अनगढ़ तत्व की हैसियत रखती है जिसने अभी कोई शक्ल न इख़्तियार की हो। वह तमाम बुराइयों से स्वभावतः नफ़रत तो करती है, मगर उसमें समझ-बूझ नहीं है। इस वजह से वह नहीं जानती कि किसी ख़ास बुरे काम से उसे किस लिए नफ़रत है। यही न जानना

धीरे-धीरे उसके नफ़रत के एहसास को कमज़ोर कर देता है, यहाँ तक कि हैवानियत के ग़लबे से इंसान बुराइयाँ करने लगता है, और ऐसा बार-बार करने की वजह से आख़िरकार हया का एहसास बिल्कुल ख़त्म हो जाता है। इस्लाम की अख़लाक़ी व नैतिक शिक्षा का उद्देश्य इसी नादानी को दूर करना है। वह उसको न सिर्फ़ खुली हुई बुराइयों से परिचित कराती है, बल्कि मन के चोर-ख़ानों तक में नीयतों, इरादों और ख़ाहिशों की जो बुराइयाँ छिपी हुई हैं, उनको भी उसके सामने प्रकट कर देती है और एक-एक चीज़ के फ़साद से उसे ख़बरदार करती है, ताकि वह अपनी सूझ-बूझ की बुनियाद पर उससे नफ़रत करे, फिर अख़लाक़ी तर्बियत इस ज्ञान सम्पन्न शिक्षित शर्म व हया को इतना संवेदनशील बना देती है कि बुराई की ओर मामूली से मामूली रुझान भी उससे छिपा नहीं रहता और नीयत और ख़याल के थोड़े-से भटकाव को भी वह चेतावनी दिए बिना नहीं छोड़ती।

इस्लामी नैतिक शिक्षाओं में हया का दायरा इतना फैला हुआ है कि ज़िंदगी का कोई विभाग उससे छूटा हुआ नहीं है। अतः संस्कृति और समाज का जो विभाग इंसान के यौन-सम्बन्धी जीवन से ताल्लुक़ रखता है, उसमें भी इस्लाम ने अख़लाक़ के सुधार के लिए इसी चीज़ से काम लिया है। वह यौन-सम्बन्धी मामलों में इंसान के अंदर की अति सूक्ष्म चोरियों को पकड़कर हया को उनसे ख़बरदार करता है और उनकी निगरानी पर लगा देता है। यहाँ विस्तार में जाने का मौक़ा नहीं, इसलिए हम सिर्फ़ कुछ मिसालें ही प्रस्तुत करेंगे।

दिल के चोर

क़ानून की नज़र में व्यभिचार (ज़िना) सिर्फ़ शारीरिक मिलन का नाम होता है, मगर अख़लाक़ की नज़र में शादी के दायरे के बाहर विपरीत लिंग की ओर हर झुकाव, इरादे और नीयत की दृष्टि से, ज़िना है। अजनबी के हुस्न से आँख का लुत्फ़ लेना, उसकी आवाज़ से कानों का लज़्ज़त लेना, उससे बातें करने में ज़बान का लोच खाना, उसके कूचे की ख़ाक छानने के लिए क़दमों का बार-बार उठना, ये सब ज़िना की भूमिकाएँ हैं और ख़ुद भावात्मक दृष्टि से ज़िना हैं। क़ानून इस ज़िना को नहीं पकड़ सकता। यह दिल का चोर है और सिर्फ़ दिल ही

का कोतवाल इसको गिरफ़्तार कर सकता है। नबी *(सल्ल.)* की हदीस इसकी ख़बर इस तरह देती है–

"आँखें ज़िना करती हैं और उनकी ज़िना नज़र है, और हाथ ज़िना करते हैं और उनका ज़िना हाथ बढ़ाना है, और पाँव ज़िना करते हैं और उनका ज़िना उस राह में चलना है, और ज़बान की ज़िना बातचीत है और दिल का ज़िना तमन्ना और ख़ाहिश है। आख़िर में यौनांग या तो इन सबकी पूर्ति कर देते हैं या इन्हें रद्द कर देते हैं।"

नज़र का फ़ितना

मन का सबसे बड़ा चोर निगाह है, इसलिए क़ुरआन और हदीस दोनों सबसे पहले उसकी पकड़ करते हैं। क़ुरआन कहता है –

"ऐ नबी ! ईमानवाले मर्दों से कह दो कि अपनी निगाहों को (ग़ैर-औरतों को देखने से) बचाकर रखें और अपने गुप्तांगों की हिफ़ाज़त करें, यह उनके लिए ज़्यादा पाकीज़ा तरीक़ा है। जो कुछ वे करते हैं, उसकी ख़बर अल्लाह को है। और ऐ नबी ! ईमानवाली औरतों से भी कह दो कि अपनी निगाहों को (ग़ैर-मर्दों के देखने से) बचाकर रखें और अपने गुप्तांगों की हिफ़ाज़त करें।" (क़ुरआन, 24:30,31)

हदीस में है–

"ऐ इंसान! तेरी पहली नज़र तो माफ़ है, मगर ख़बरदार! दूसरी नज़र न डालना।" (हदीस : अल-जस्सास)

नबी *(सल्ल.)* ने हज़रत अली *(रज़ि.)* से फ़रमाया –

"ऐ अली! एक नज़र के बाद दूसरी नज़र न डालो, पहली नज़र तो माफ़ है, मगर दूसरी नहीं।" (हदीस : अबू दाऊद)

हज़रत जाबिर *(रज़ि.)* ने पूछा कि अचानक नज़र पड़ जाए तो क्या करूँ ? नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "फ़ौरन नज़र फेर लो।"

(हदीस : अबू दाऊद)

हुस्न ज़ाहिर करने की भावना

नज़र के इसी फ़ितने का एक हिस्सा वह भी है जो औरत के दिल में यह ख़ाहिश पैदा करता है कि उसका हुस्न देखा जाए। यह ख़ाहिश हमेशा स्पष्ट और ज़ाहिर ही नहीं होती, दिल के पर्दों में कहीं न कहीं हुस्न की नुमाइश की भावना छिपी हुई होती है और वही कपड़ों की ज़ीनत में, बालों की सजावट में, बारीक और चटकीले कपड़ों के चुनाव में और ऐसी छोटी-छोटी बातों तक में अपना असर ज़ाहिर करती है जिनका शुमार मुमकिन नहीं। क़ुरआन ने इन सबके लिए एक व्यापक शब्द 'तबर्रुजे-जाहिलियत' इस्तेमाल किया है। हर वह ज़ीनत और हर वह साज-सज्जा जिसका मक़सद शौहर के सिवा दूसरों के लिए लज़्ज़ते नज़र बनना हो 'तबर्रुजे जाहिलियत' की परिभाषा में आ जाती है। अगर बुर्क़ा भी इस उद्देश्य के लिए सुन्दर बनाया जाए कि निगाहें उसका मज़ा लें, तो यह भी 'तबर्रुजे-जाहिलियत' है। इसके लिए कोई क़ानून नहीं बनाया जा सकता, इसका ताल्लुक़ औरत की अपनी अन्तरात्मा और मन से है। उसको ख़ुद ही अपने दिल का हिसाब लेना चाहिए कि कहीं उसमें यह नापाक भावना तो छिपी हुई नहीं है। अगर है, तो वह ख़ुदा के उस हुक्म की मुख़ातब है कि "इस्लाम से पहले जाहिलियत के ज़माने में जिस बनाव-सिंगार की नुमाइश तुम किया करती थीं, वह अब न करो" (क़ुरआन, 33:33)। जो साज-सज्जा हर बुरी नीयत से पाक हो वह इस्लाम की साज-सज्जा है और जिसमें थोड़ी-सी भी बुरी नीयत शामिल हो वह जाहिलियत की साज-सज्जा है।

ज़बान का फ़ितना

मन के शैतान की एक दूसरी एजेंट ज़बान है। कितने ही फ़ितने हैं, जो ज़बान के ज़रीए से पैदा होते और फैलते हैं। मर्द और औरत बात कर रहे हैं, कोई बुरी भावना सामने नहीं है। मगर दिल का छिपा हुआ चोर आवाज़ में मिठास, बात की शैली में लगावट, बातों में घुलावट पैदा किए जा रहा है। क़ुरआन इस चोर को पकड़ लेता है–

> "अगर तुम्हारे दिल में ख़ुदा का डर है, तो दबी ज़बान से बात न किया करो कि जिस आदमी के दिल में ख़राबी हो वह लालच में पड़ जाए, बल्कि साफ़ सीधी बात करो।" (क़ुरआन, 33:32)

यही दिल का चोर है जो दूसरों के जायज़ या नाजायज़ यौन-सम्बन्धों का हाल बयान करने में भी मज़े लेता है और सुनने में भी। इसी मज़े के लिए आशिक़ाना ग़ज़लें कही जाती हैं और इश्क़ व मुहब्बत की कहानियाँ झूठ-सच मिलाकर जगह-जगह बयान की जाती हैं और समाज में इनका प्रचार इस तरह होता है जैसे पोले-पोले आँच लगती चली जाए। क़ुरआन इसपर भी चेतावनी देता है–

"जो लोग चाहते हैं कि मुसलमानों के गरोह में बेहयाई फैले, उनके लिए दुनिया में भी दर्दनाक सज़ा है और आख़िरत में भी।"

(क़ुरआन, 24:19)

ज़बान के फ़ितने के और भी बहुत-से विभाग हैं और हर विभाग में दिल का एक न एक चोर अपना काम करता है। इस्लाम ने इन सबका सुराग़ लगाया है और उनसे सचेत किया है। औरत को इजाज़त नहीं कि अपने शौहर से दूसरी औरतों की हालत बयान करे।

"औरत औरत से खला-मला न करे। ऐसा न हो कि वह उसकी हालत अपने शौहर से इस तरह बयान करे कि मानो वह ख़ुद उसको देख रहा है।" (हदीस : तिर्मिज़ी)

औरत और मर्द दोनों को इससे मना किया गया है कि अपने गुप्त निजी यौनाचार का हाल दूसरे लोगों के सामने बयान करें, क्योंकि इससे भी बे-हयाई का प्रचार होता है और दिलों में शौक़ पैदा होता है। (हदीस : अबू दाऊद)

जमाअत के साथ नमाज़ पढ़ाने के दौरान अगर इमाम कोई ग़लती करे, या उसको किसी हादसे पर सचेत करना हो तो मर्दों को सुब्हानल्लाह कहने का हुक्म है, मगर औरतों को हिदायत की गई है कि सिर्फ़ दस्तक दें अर्थात् हाथ थपथपाकर सचेत करें, ज़बान से कुछ न बोलें। (हदीस : अबू दाऊद, बुख़ारी)

आवाज़ का फ़ितना

कभी-कभी ज़बान ख़ामोश रहती है, मगर दूसरी हरकतों से सुनने की क्षमता को प्रभावित किया जाता है। इसका ताल्लुक़ भी नीयत की ख़राबी से है

और इस्लाम इसपर रोक लगाता है –

"और वे अपने पाँव ज़मीन पर मारती हुई न चला करें कि अपना जो शृंगार उन्होंने छिपा रखा है वह लोगों को मालूम हो जाए।"

(क़ुरआन, 24:31)

ख़ुशबू का फ़ितना

ख़ुशबू भी उन वाहकों में से एक है जो एक दुष्ट मन का सन्देश दूसरे दुष्ट मन तक पहुँचाता है। ख़बर पहुँचाने का यह सबसे ज़्यादा सूक्ष्म ज़रीआ है, जिसको दूसरे तो तुच्छ ही जानते हैं, मगर इस्लामी हया का एहसास इतना तेज़ है कि उसकी नाज़ुक तबियत पर यह सूक्ष्म हरकत भी बोझ है। वह एक मुसलमान औरत को इसकी इजाज़त नहीं देती कि ख़ुशबू में बसे हुए कपड़े पहनकर रास्तों से गुज़रे या महफ़िलों में शिर्कत करे, क्योंकि उसका हुस्न और उसकी ज़ीनत छिपी भी रही तो क्या फ़ायदा हुआ, उसकी ख़ुशबू तो फ़िज़ा में फैलकर भावनाओं को भड़का रही है –

"नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया कि 'जो औरत सुगंध (इत्र, सेंट) लगाकर लोगों के दर्मियान से गुज़रती है, वह आवारा क़िस्म की औरत है।"

(हदीस : तिर्मिज़ी)

"जब तुममें से कोई औरत मस्जिद में जाए, तो ख़ुशबू न लगाए।"

(हदीस : मुवत्ता व मुस्लिम)

"मर्दों के लिए वह इत्र मुनासिब है जिसकी ख़ुशबू स्पष्ट और रंग छिपा हुआ हो और औरतों के लिए वह इत्र मुनासिब है जिसका रंग स्पष्ट और ख़ुशबू छिपी हुई हो।" (हदीस : तिर्मिज़ी, अबू दाऊद)

नंगेपन का फ़ितना

सत्र (छिपाने योग्य अंग) के बारे में इस्लाम ने इंसानी शर्म व हया का जितना सही और मुकम्मल भावनात्मक नक़्शा खींचा है, उसकी मिसाल दुनिया की किसी संस्कृति में नहीं पाया जाता। आज दुनिया की सबसे ज़्यादा सभ्य क़ौमों का भी यह हाल है कि उनके मर्दों और उनकी औरतों को अपने जिस्म

का कोई हिस्सा खोल देने में तकल्लुफ़ नहीं है। उनके यहाँ कपड़ा सिर्फ़ ज़ीनत के लिए है, सत्र (वह अंग जिसका दिखाना मना है) के छिपाने के लिए नहीं है। मगर इस्लाम की निगाह में ज़ीनत से ज़्यादा सत्र की अहमियत है। वह औरत और मर्द दोनों को जिस्म के उन तमाम हिस्सों को छिपाने का हुक्म देता है जिनमें एक-दूसरे के लिए यौनाकर्षण पाया जाता है। नंगापन एक ऐसी अशिष्टता है, जिसको इस्लामी हया किसी हाल में भी सहन नहीं कर सकती। पराए तो पराए इस्लाम इसको भी पसंद नहीं करता कि मियाँ और बीवी भी एक-दूसरे के सामने निर्वस्त्र हों–

"जब तुममें से कोई आदमी अपनी बीवी के पास जाए तो उसको चाहिए कि सत्र का ध्यान रखे, बिल्कुल गधों की तरह दोनों नंगे न हो जाएँ।" (हदीस : इब्ने-माजा)

"हज़रत आइशा *(रज़ि.)* फ़रमाती हैं कि मैंने अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* को कभी निर्वस्त्र नहीं देखा।"

(हदीस : शिमाइले-तिर्मिज़ी)

इससे बढ़कर शर्म द हया यह है कि तनहाई में भी नंगा रहना इस्लाम को गवारा नहीं, इसलिए कि–

"अल्लाह इसका ज़्यादा हक़ रखता है कि उससे हया (शर्म) की जाए।" (हदीस : तिर्मिज़ी)

हदीस में आता है कि–

"ख़बरदार, कभी नंगे न रहो, क्योंकि तुम्हारे साथ ख़ुदा के फ़रिश्ते लगे हुए हैं जो तुमसे जुदा नहीं होते सिवाय उन वक़्तों के जिनमें तुम शौच-क्रिया पूरी करते हो या अपनी बीवियों के पास जाते हो। इसलिए तुम उनसे शर्म करो और उनकी इज़्ज़त का ध्यान रखो।"

(हदीस : तिर्मिज़ी)

इस्लाम की निगाह में वह पहनावा वास्तव में पहनावा ही नहीं, जिसमें बदन झलके और सत्र नज़र आ जाए –

"अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमाया कि जो औरतें कपड़े पहनकर भी नंगी ही रहें और दूसरों को रिझाएँ और ख़ुद दूसरों पर रीझें और बुख़्ती ऊँट की तरह नाज़ से गरदन टेढ़ी करके चलें, वे जन्नत में हरगिज़ दाख़िल न होंगी और न उसकी सुगंध पाएँगी।"

(हदीस : मुस्लिम)

यहाँ विस्तार में जाना उद्देश्य नहीं है। सिर्फ़ कुछ मिसालें इसलिए पेश की गई हैं कि उनसे अख़लाक़ के इस्लामी मानदण्ड और इस्लाम की अख़लाक़ी स्प्रिट का अन्दाज़ा हो जाए। इस्लाम सोसाइटी के माहौल और उसकी फ़िज़ा को बेहयाई और गन्दगी की तमाम बातों से पाक कर देना चाहता है। इन बातों का स्रोत इंसान के अंदर है। बेहयाई और बुराई के कीटाणु वहीं पलते हैं और वहीं से उन छोटी-छोटी बातों की शुरुआत होती है, जो आगे चलकर बिगाड़ की वजह बनती हैं। जाहिल इंसान इन्हें तुच्छ समझकर नज़रअंदाज़ कर देता है, मगर किसी भी सूझबूझवाले इंसान की निगाह में दरअसल वही अख़लाक़ और संस्कृति व सभ्यता को तबाह कर देनेवाली ख़तरनाक बीमारियों की जड़ हैं। इसलिए इस्लाम की अख़लाक़ी तालीम अन्तःकरण ही में हया का इतना ज़बरदस्त एहसास पैदा कर देना चाहती है कि इंसान ख़ुद अपने आप की जाँच करता रहे और बुराई की तरफ़ मामूली से मामूली झुकाव भी अगर पाया जाए तो उसको महसूस करके वह आप ही आत्मबल से उसकी जड़ें उखाड़ दे।

दण्ड-संहिता

इस्लाम की दण्ड-संहिता का बुनियादी उसूल यह है कि इंसान को राजनीति के शिकंजे में उस वक़्त तक न कसा जाए, जब तक कि वह संस्कृति की व्यवस्था को बर्बाद करनेवाली कोई हरकत अमलन न कर बैठे। मगर जब वह ऐसा कर गुज़रे तो उसको हल्की सज़ाएँ दे-देकर गुनाह करने और सज़ा भुगतने का आदी बनाना ठीक नहीं है। जुर्म के सुबूत की शर्तें बहुत सख़्त रखो।[1] लोगों को क़ानून की हदों के निशाने पर आने से जहाँ तक संभव हो,

1. गवाही के इस्लामी क़ानून में जुर्म के सुबूत की शर्तें आम तौर से बहुत सख़्त हैं, मगर ज़िना (व्यभिचार) के जुर्म के सुबूत की शर्तें सबसे ज़्यादा सख़्त रखी गई हैं। आम तौर से

बचाओ।[1] मगर जब कोई आदमी क़ानून के निशाने पर आ जाए तो उसे ऐसी सख़्त सज़ा दो कि न सिर्फ़ वह ख़ुद इस जुर्म को दोहराने में ख़ुद को असमर्थ पाए, बल्कि दूसरे हज़ारों इंसान भी जो इस काम की ओर क़दम बढ़ानेवाले हों, इस सबक़ सिखा देने वाली सज़ा को देखकर भयभीत हो जाएँ। क्योंकि क़ानून का मक़सद समाज को जुर्म से पाक करना है, न यह कि लोग बार-बार जुर्म करें और बार-बार सज़ा भुगतें।

सामाजिक व्यवस्था की हिफ़ाज़त के लिए इस्लामी दण्ड-संहिता ने जिन जुर्मों को सज़ा के क़ाबिल क़रार दिया है, वे सिर्फ़ दो हैं – एक ज़िना (व्याभिचार), दूसरे क़ज़्फ़ (यानी ज़िना की तोहमत लगाना)।

ज़िना (व्यभिचार) की सज़ा

ज़िना के बारे में हम इससे पहले बयान कर चुके हैं कि अख़लाक़ी हैसियत से यह काम इंतिहाई पस्ती का नतीजा है। जो आदमी ज़िना करता है वह असल में इसका सुबूत देता है कि उसकी इंसानियत हैवानियत से पराजित हो चुकी है और वह इंसानी समाज का एक अच्छा और नेक सदस्य बनकर नहीं रह सकता। सामूहिक दृष्टि से यह उन सबसे बड़े जुर्मों में से एक है जो इंसानी समाज की मूल बुनियाद पर हमला करते हैं। इन वजहों से इस्लाम ने इसको अपने आप में एक दण्डनीय अपराध क़रार दिया है, चाहे इसके साथ कोई दूसरा जुर्म, जैसे ज़ोर-ज़बदस्ती या किसी दूसरे का अधिकार-हनन, शामिल हो या न हो। क़ुरआन मजीद का हुक्म है कि –

> "ज़िनाकार (व्यभिचारिणी) औरत और ज़िनाकार (व्यभिचारी) मर्द, दोनों में से हर एक को सौ कोड़े मारो, और उनपर तरस खाने

तमाम मामलों के लिए इस्लामी क़ानून सिर्फ़ दो गवाहों को काफ़ी समझता है, मगर ज़िना के लिए कम से कम चार गवाह ज़रूरी क़रार दिए गए हैं।

1. नबी *(सल्ल.)* का आदेश है, "मुसलमानों को सज़ा से बचाओ, जहाँ तक संभव हो। अगर मुजरिम के लिए छुटकारे की कोई शक्ल हो तो उसे छोड़ दो, क्योंकि न्यायाधीश का माफ़ करने में ग़लती करना इससे बेहतर है कि वह सज़ा देने में ग़लती करे।" (हदीस : तिर्मिज़ी)

की भावना अल्लाह के धर्म के विषय में तुमको न सताए अगर तुम अल्लाह और अंतिम दिन पर ईमान रखते हो। और जब उनको सज़ा दी जाए तो मुसलमानों का एक गरोह हाज़िर रहे।''

(क़ुरआन, 24:2)

इस बारे में इस्लामी क़ानून और पाश्चात्य क़ानून में बहुत बड़ा विरोध है। पाश्चात्य क़ानून ज़िना (व्यभिचार) को अपने आप में कोई जुर्म नहीं समझता। उसकी निगाह में यह काम सिर्फ़ उस वक़्त जुर्म होता है जब कि इसे ज़बरदस्ती के साथ किया जाए या किसी ऐसी औरत के साथ किया जाए, जो दूसरे व्यक्ति के विवाह में हो। दूसरे शब्दों में इस क़ानून के नज़दीक ज़िना ख़ुद जुर्म नहीं है, बल्कि जुर्म अस्ल में सहमति के बिना ज़बरदस्ती या दूसरे का हक़ मार लेना है। इसके विपरीत इस्लामी क़ानून की नज़र में यह काम ख़ुद एक जुर्म है और ज़बरदस्ती या दूसरे के हक़ में दख़लअंदाज़ी से इसपर एक और जुर्म बढ़ जाता है। इस बुनियादी मतभेद की वजह से सज़ा केबारे में भी दोनों के तरीक़े अलग-अलग हो जाते हैं। पाश्चात्य क़ानून, बलात्कार में सिर्फ़ क़ैद की सज़ा काफ़ी समझता है और शादीशुदा औरत के साथ ज़िना करने पर औरत के शौहर को सिर्फ जुर्माना वुसूल करने का हक़दार क़रार देता है। यह सज़ा जुर्म को रोकने वाली नहीं, बल्कि इसे, एक तरह से बढ़ावा देनेवाला है। इसी लिए उन मुल्कों में, जहाँ यह क़ानून लागू है, ज़िना का जुर्म बढ़ता चला जा रहा है। इसके मुक़ाबले में इस्लामी क़ानून ज़िना पर ऐसी सख़्त सज़ा देता है जो सोसाइटी को इस जुर्म और ऐसे मुजरिमों से एक मुद्दत के लिए पाक कर देती है। जिन मुल्कों में ज़िना पर इस्लाम की यह सज़ा दी गई है, वहाँ व्यभिचार कभी आम नहीं हुआ। एक बार शरई सज़ा जारी हो जाए, फिर पूरे मुल्क की आबादी पर ऐसा भय छा जाता है कि वर्षों तक कोई व्यक्ति उसे करने का दुस्साहस नहीं कर सकता। यह आपराधिक प्रवृत्तिवालों के ज़ेहनों का एक तरह का मनोवैज्ञानिक (Psychological) ऑपरेशन है जिससे उनकी अपनी मनोवृत्तियों का स्वयं सुधार हो जाता है।

पाश्चात्य लोगों की मानसिकता सौ कोड़ों की सज़ा पर नफ़रत ज़ाहिर करती है। इसकी वजह यह नहीं है कि वह इंसान को जिस्मानी तक्लीफ़

पहुँचाना पसन्द नहीं करती। बल्कि असल वजह यह है कि उसकी नैतिक चेतना का विकास अभी तक अधूरा है। वह ज़िना (व्यभिचार) को पहले सिर्फ़ एक ऐब समझती थी और अब उसे सिर्फ़ एक खेल, एक मनोरंजन समझती है जिससे दो इंसान थोड़ी देर के लिए अपना मन बहला लेते हैं। इसलिए वह चाहती है कि क़ानून इस काम पर उदारता बरते और उस वक़्त तक कोई पकड़ न करे जब तक कि व्यभिचारी दूसरे व्यक्ति की आज़ादी या उसके क़ानूनी हक़ों में हस्तक्षेप न करे। फिर इसमें हस्तक्षेप को भी वह ऐसा जुर्म समझती है जिससे बस एक ही आदमी के हक़ प्रभावित होते हैं, इसलिए मामूली सज़ा या जुर्माना उसके नज़दीक ऐसे जुर्म की काफ़ी सज़ा है।

ज़ाहिर है कि जो आदमी ज़िना के प्रति यह धारणा रखता हो, वह इसपर सौ कोड़ों की सज़ा को एक ज़ालिमाना सज़ा ही समझेगा, मगर जब उसकी नैतिक व सामूहिक चेतना तरक़्क़ी करेगी और उसको मालूम होगा कि ज़िना चाहे रज़ामंदी से हो या ज़बरदस्ती और चाहे विवाहित औरत के साथ हो या अविवाहिता के साथ, बहरहाल वह एक सामूहिक जुर्म है और पूरी सोसाइटी पर उसके नुक़सान लागू होते हैं, तो सज़ा के बारे में भी उसका नज़रिया ख़ुद-बख़ुद बदल जाएगा। उसे मानना पड़ेगा कि सोसाइटी को इन नुक़सानों से बचाना ज़रूरी है और चूंकि ज़िना पर उभारनेवाली वजहें इंसान की हैवानी प्रकृति में निहायत गहरी जड़ें रखती हैं और उन जड़ों को सिर्फ़ क़ैद व माली जुर्माने के ज़ोर से नहीं उखाड़ा जा सकता। इसलिए इसकी रोक-थाम करने के लिए सख़्त उपायों को इस्तेमाल किए बिना चारा नहीं। एक आदमी या दो आदमियों को सख़्त जिस्मानी तकलीफ़ पहुँचाकर लाखों लोगों को अनगिनत अख़लाक़ी और समाजी नुक़्सानों से बचा देना इससे बेहतर है कि मुजरिमों को तकलीफ़ से बचा कर पूरी क़ौम को ऐसे नुक़्सानों में डाल दिया जाए जो आनेवाली बेगुनाह नस्लों तक भी पहुँचनेवाले हों।

सौ कोड़ों की सज़ा को ज़ालिमाना सज़ा क़रार देने की एक वजह और भी है जो पाश्चात्य सभ्यता की बुनियादों पर विचार करने से आसानी से समझ में आ सकती है। जैसा कि पहले बयान किया जा चुका है, उस सभ्यता की शुरुआत ही समाज के मुक़ाबले में व्यक्ति की हिमायत की भावना से हुई है

और उसका सारा ख़मीर (तत्त्व) व्यक्तिगत अधिकारों की एक अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पना से तैयार हुआ है। इसलिए व्यक्ति चाहे समाज पर कितना ही ज़ुल्म करे, पश्चिम वालों को कुछ ज़्यादा नागवारी नहीं होती, बल्कि अक्सर हालात में वे उसे ख़ुशी से गवारा कर लेते हैं। अलबत्ता सामाजिक अधिकारों की हिफ़ाज़त के लिए जब व्यक्ति पर हाथ डाला जाता है तो उनके रोंगटे खड़े होने लगते हैं और उनकी सारी हमदर्दी समाज के बजाए व्यक्ति के साथ होती है। इसके अलावा सभी अज्ञान के धारकों की तरह पाश्चात्य-अज्ञान के अनुयायियों की भी ख़ास विशेषता यह है कि वे बुद्धिसंगत बातों के बजाय महसूस हो सकने वाली बातों को ज़्यादा अहमियत देते हैं। जो नुक़्सान एक व्यक्ति पर लागू होता है, वह चूंकि सीमित शक्ल में महसूस तौर पर उनके सामने आता है, इसलिए वे उसे एक बड़ा मामला समझते हैं, इसके विपरीत वे उस नुक़्सान की अहमियत को महसूस नहीं कर सकते जो बड़े पैमाने पर तमाम सोसाइटी और उसकी अगली नस्लों को पहुंचता है। क्योंकि वह अपनी व्यापकता और दूरगामी होने के कारण महसूस नहीं होता।

व्यभिचार की झूठी तोहमत लगाने की सज़ा

ज़िना (व्यभिचार) के जो नुक़्सान हैं, उन्हीं से मिलते-जुलते नुक़्सान ज़िना के झूठे आरोप (क़ज़्फ़) के भी हैं। किसी शरीफ़ औरत पर ज़िना की झूठी तोहमत लगाना मात्र उसी एक के लिए बदनामी की वजह नहीं, बल्कि इससे ख़ानदानों में दुश्मनी फैलती है, ख़ानदान की विशुद्धता पर शक होने लगते हैं, मियाँ-बीवी के ताल्लुक़ात में ख़राबी उत्पन्न होती है और एक आदमी सिर्फ़ एक बार ज़बान हिलाकर बीसियों इंसानों को वर्षों के लिए दुःख व तकलीफ़ में डाल देता है। क़ुरआन ने इस जुर्म के लिए भी सख़्त सज़ा निर्धारित की है –

> ''और जो लोग पाक-दामन औरतों पर तोहमत (मिथ्यारोपण) लगाएँ, फिर चार गवाह उसके सुबूत में पेश न करें, उनको अस्सी कोड़े मारो और आगे उनकी गवाही कभी स्वीकार न करो। ऐसे लोग ख़ुद ही बदकार हैं।'' (क़ुरआन, 24:4)

रोक-थाम के उपाय

इस तरह इस्लाम का फ़ौजदारी क़ानून अपनी राजनीतिक शक्ति से एक ओर तो बदकारी को ज़बरदस्ती रोक देता है और दूसरी ओर समाज के सज्जन सदस्यों को बुरी नीयतवाले लोगों की बद-ज़बानी से भी बचा लेता है। इस्लाम की अख़लाक़ी तालीम इंसान को भीतर से ठीक करती है, ताकि उसमें बदी और गुनाह की ओर रुझान ही पैदा न हो और उसका दण्ड-विधान उसको बाहर से ठीक करता है, ताकि नैतिक प्रशिक्षण केअधूरे रह जाने से अगर इस तरह के बुरे रुझान पैदा हो जाएँ और वे पूरे ज़ोर-शोर से व्यवहार में आने लगें तो उनको ज़बरदस्ती रोक दिया जाए। इन दोनों उपायों के दर्मियान कुछ और उपाय इस मक़सद से अपनाए गए हैं कि अन्तःकरण के सुधार की अख़लाक़ी तालीम (नैतिक शिक्षा) के लिए मददगार हों। इन उपायों से सामाजिक व्यवस्था को इस तरह ठीक किया गया है कि नैतिक प्रशिक्षण की ख़राबियों से जो कमज़ोरियाँ समाज के व्यक्तियों में बाक़ी रह जाएँ, उनको तरक़्क़ी करने और अमली जामा पहनने का मौक़ा ही न मिल सके। समाज में एक ऐसा माहौल पैदा हो जाए, जिसमें बुरे रुझानों को बढ़ानेवाला वातावरण न मिले, भड़कानेवाले प्रेरकों का अभाव हो, यौन-विकार की सामग्री इंतिहाई हद तक कम हो जाए और ऐसी तमाम शक्लों की रोक-थाम हो जाए जिनसे सांस्कृतिक व्यवस्था के बिखराव की संभावना हो।

अब हम विस्तार से इन उपायों में से एक-एक को बयान करते हैं –

लिबास और सत्र के नियम

सामाजिक नियमों के सिलसिले में इस्लाम का पहला काम यह है कि उसने नंगेपन की जड़ें काट दीं और मर्दों और औरतों के लिए सत्र (छिपाने योग्य अंग) की हदें निश्चित कर दीं। इस मामले में अरब जाहिलियत का जो हाल था, आज-कल की अति सभ्य क़ौमों का हाल उससे कुछ अलग नहीं है। वे एक-दूसरे के सामने बिना झिझक नंगे हो जाते थे।[1] नहाने और पाख़ाना-

1. हदीस में आया है कि हज़रत मिसवर बिन मख़रिमा *(रज़ि.)* एक पत्थर उठाए हुए ला रहे थे। रास्ते में तहबन्द खुलकर गिर पड़ा और वे इसी हाल में पत्थर उठाए चले आए।

पेशाब के मौक़े पर परदा करना उनके नज़दीक ग़ैर-ज़रूरी था। काबा का तवाफ़ (परिक्रमा) बिल्कुल नंगे होकर किया जाता था और इसे एक अच्छी इबादत समझा जाता था।[1] औरतें तक तवाफ़ के वक़्त नंगी हो जाती थीं।[2] उनकी औरतों का पहनावा ऐसा था जिसमें सीने का कुछ हिस्सा खुला रहता था और बाज़ू, कमर और पिंडलियों के भी कुछ हिस्से खुल जाते थे।[3] बिल्कुल यही स्थिति आज यूरोप, अमरीका और जापान की है और पूर्वी देशों में भी दूसरी कोई सामाजिक व्यवस्था ऐसी नहीं है जिसमें छिपाने-खोलने की हदें बाक़ायदा मुक़र्रर की गई हों।

इस्लाम ने इस बारे में इंसान को पहला सबक़ सिखाया। उसने बताया कि–

> "ऐ आदम की औलाद! हम (अल्लाह) ने तुमपर लिबास इसी लिए उतारा है कि तुम्हारे शरीर के गुप्त अंगों को ढांके और तुम्हारे लिए शरीर की रक्षा और सौन्दर्य का साधन हो।"
>
> (क़ुरआन, 7:26)

इस आयत के मुताबिक़ जिस्म ढाँकने को हर मर्द और औरत के लिए फ़र्ज़ (अनिवार्य) कर दिया गया। नबी *(सल्ल.)* ने सख़्त आदेश दिए कि कोई आदमी किसी के सामने नंगा न हो –

> "उसपर लानत है जो अपने भाई के सत्र (गुप्तांग) पर नज़र डाले।"
>
> (जस्सास : अहकामुल-क़ुरआन)

नबी *(सल्ल.)* ने देखा तो फ़रमाया कि जाओ, पहले अपना जिस्म ढाँको और नंगे न फिरा करो। (हदीस : मुस्लिम)

1. इब्ने अब्बास, मुजाहिद, ताऊस और ज़ुहरी की रिवायत है कि काबा का तवाफ़ नग्नता की हालत में किया जाता था।
2. हदीस की किताब 'मुस्लिम' में अरब की यह रस्म बयान की गई है कि एक औरत नंगी होकर तवाफ़ करती, फिर मौजूद लोगों से कहती कि "कौन मुझे एक कपड़ा देता है कि मैं उससे अपना बदन ढाँकूं?" इस तरह माँगनेवाली को कपड़ा देना एक सवाब का काम समझा जाता था।
3. तफ्सीरे-कबीर, आयत 'वल-यज़्रिब-न बिख़ुमुरिहिन-न अला जुयूबिहिन-न'।

"कोई मर्द किसी मर्द को नग्न और कोई औरत किसी औरत को नग्न न देखे।" (हदीस : मुस्लिम)

"ख़ुदा की क़सम! मैं आसमान से फेंका जाऊँ, और मेरे दो टुकड़े हो जाएँ, यह मेरे लिए ज़्यादा बेहतर है, इसके मुक़ाबले में कि मैं किसी के गुप्तांग देखूँ या कोई मेरे गुप्तांग देखे।"

(अल-मबसूत : किताबुल-इस्तेहसान)

"ख़बरदार! कभी नग्न न हो, क्योंकि तुम्हारे साथ वह है, जो तुमसे कभी जुदा नहीं होता, अलावा पाख़ाना-पेशाब और सम्भोग के वक़्त के।" (हदीस : तिर्मिज़ी)

"जब तुममें से कोई अपनी बीवी के पास जाए तो उस वक़्त भी गुप्तांग ढाँके और बिल्कुल गधों की तरह नग्न न हो जाए।"

(हदीस : इब्ने-माजा)

एक बार प्यारे नबी *(सल्ल.)* ज़कात के ऊँटों की चरागाह में गए तो देखा कि उनका चरवाहा जंगल में नंगा लेटा है। आप (सल्ल.) ने उसी वक़्त उसे अपदस्थ कर दिया और फ़रमाया, "जो आदमी बे-शर्म है, वह हमारे किसी काम का नहीं।"

मर्दों के लिए सत्र (जिस्म ढाँकने) की सीमाएँ

इन आदेशों के साथ औरतों और मर्दों के लिए जिस्म ढाँकने की हदें भी अलग-अलग मुक़र्रर की गईं। शरीअत की परिभाषा में जिस्म के उस हिस्से को सत्र कहते हैं, जिसका ढांकना फ़र्ज़ है। मर्दों के लिए नाभि (नाफ़) और घुटने के बीच का हिस्सा 'सत्र' क़रार दिया गया और हुक्म दिया गया कि उसे किसी के सामने न खोलें और न किसी दूसरे आदमी के उस हिस्से पर नज़र डालें—

"जो कुछ घुटने के ऊपर है, वह छिपाने के लायक़ है और जो कुछ नाभि से नीचे है, वह छिपाने के लायक़ है।" (हदीस : दार-क़ुतनी)

"मर्द के लिए नाभि से घुटने तक का हिस्सा छिपाने के लायक़ है।"

(हदीस : मबसूत)

> "अपनी रान को किसी के सामने न खोलो और न किसी ज़िंदा आदमी या मुर्दा आदमी की रान पर नज़र डालो।"
>
> (हदीस : तफ्सीरे-कबीर)

यह हुक्म आम है जिससे मियाँ-बीवियों के सिवा और कोई अपवाद नहीं। अत: हदीस में है –

> "अपने सत्र की हिफ़ाज़त करो अलावा अपनी बीवियों के और अपनी लौंडियों के।" (जस्सास, अहकामुल-क़ुरआन)

औरतों के लिए सत्र (जिस्म ढाँकने) की सीमाएँ

औरतों के लिए सत्र की हदें इससे ज़्यादा फैली हुई हैं। उनको हुक्म दिया गया है कि अपने चेहरे और हथेलियों के सिवा तमाम जिस्म को तमाम लोगों से छिपाएँ। इस हुक्म में बाप, भाई और तमाम रिश्तेदार मर्द शामिल हैं, और शौहर के सिवा कोई मर्द इसका अपवाद नहीं है –

> नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "किसी औरत के लिए, जो अल्लाह और आख़िरत के दिन पर ईमान रखती हो, जायज़ नहीं कि वह अपना हाथ इससे ज़्यादा खोले।" यह कहकर आपने अपनी कलाई के आधे हिस्से पर हाथ रखा। (हदीस : इब्ने-जरीर)

> "जब औरत बालिग़ हो जाए, तो उसके जिस्म का कोई हिस्सा नज़र न आना चाहिए सिवाय चेहरे और कलाई के जोड़ तक हाथ के।"
>
> (हदीस : अबू दाऊद)

हज़रत आइशा *(रज़ि.)* फ़रमाती हैं कि मैं अपने भतीजे अब्दुल्लाह-बिन-तुफ़ैल के सामने ज़ीनत (साज-सज्जा)के साथ आई, तो नबी *(सल्ल.)* ने इसे नापसन्द किया। मैंने अर्ज़ किया कि ऐ अल्लाह के रसूल ! यह तो मेरा भतीजा है। नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया–

> "जब औरत बालिग़ हो जाए तो उसके लिए जायज़ नहीं कि अपने जिस्म में से कुछ ज़ाहिर करे सिवाए चेहरे के और सिवाए इसके।" यह कहकर आपने अपनी कलाई पर इस तरह हाथ रखा कि आप

की पकड़ की जगह और हथेली के बीच सिर्फ़ एक मुट्ठी भर जगह बाक़ी थी। (हदीस : इब्ने-जरीर)

हज़रत अस्मा-बिन्त-अबू बक्र *(रज़ि.)* जो नबी *(सल्ल.)* की साली थीं, एक बार आपके सामने बारीक लिबास पहनकर आईं, इस हाल में कि जिस्म अन्दर से झलक रहा था। नबी *(सल्ल.)* ने तुरन्त नज़र फेर ली और फ़रमाया–

"ऐ अस्मा ! जब औरत बालिग़ हो जाए, तो दुरुस्त नहीं कि उसके जिस्म में से कुछ देखा जाए, अलावा इसके और इसके।" यह कह कर आपने अपने चेहरे और हथेलियों की ओर इशारा किया।

(फ़त्हुल-क़दीर)

हफ़्सा-बिन्त-अब्दुर्रहमान हज़रत आइशा *(रज़ि.)* की ख़िदमत में हाज़िर हुईं। वे एक बारीक दोपट्टा ओढ़े हुए थीं। हज़रत आइशा *(रज़ि.)* ने उसको फाड़ दिया और एक मोटी ओढ़नी उनपर डाल दी। (हदीस : मुवत्ता इमाम मालिक)

नबी *(सल्ल.)* का इर्शाद है कि "अल्लाह की लानत है उन औरतों पर जो लिबास पहनकर भी नंगी की नंगी रहें।"

(हदीस : मुवत्ता इमाम मालिक)

हज़रत उमर *(रज़ि.)* का इर्शाद है कि "अपनी औरतों को ऐसे कपड़े न पहनाओ जो जिस्म पर इस तरह चुस्त हों कि सारे जिस्म की बनावट नुमायां हो जाए।" (अल-मबसूत)

इन तमाम रिवायतों से मालूम होता है कि चेहरे और हाथों के सिवा औरत का पूरा जिस्म सतर में दाख़िल है, जिसे अपने घर में अपने क़रीबी रिश्तेदारों से भी छिपाना उसपर वाजिब है। वह शौहर के सिवा किसी के सामने अपने सतर को नहीं खोल सकती, चाहे वह उसका बाप, भाई या भतीजा ही क्यों न हो। यहाँ तक कि वह ऐसा बारीक लिबास भी नहीं पहन सकती जिसमें सतर नज़र आता हो।

इस बारे में जितने आदेश हैं, वे सब जवान औरत के लिए हैं। सतर के हुक्म उस वक़्त से लागू होते हैं जब से औरत बालिग़ होने के क़रीब पहुँच जाए

और उस वक़्त तक लागू रहते हैं जब तक उसमें यौनाकर्षण बाक़ी रहे। इस उम्र के गुज़र जाने के बाद उनमें कमी कर दी जाती है। अतः क़ुरआन में है –

'और जो औरतें जवानी को पार कर चुकी हों, विवाह की चाहत न रखती हों, वे अगर अपनी चादरें उतारकर रख दें तो उनपर कोई गुनाह नहीं, शर्त यह है कि बनाव-सिंगार का प्रदर्शन करनेवाली न हों, इसपर भी वे हयादारी ही बरतें तो उनके लिए अच्छा है।''

(क़ुरआन, 24:60)

यहाँ कमी की वजह साफ़ बयान कर दी गई है। विवाह की उम्मीद बाक़ी न रहने से ऐसी उम्र मुराद है, जिसमें यौन-भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं और कोई आकर्षण भी बाक़ी नहीं रहता। फिर भी अधिक सावधानी के तौर पर यह शर्त लगा दी गई कि बनाव-सिंगार का दिखावा मक़सद न हो, यानी अगर यौन-इच्छा की एक चिंगारी भी सीने में बाक़ी हो तो दोपट्टा वग़ैरह उतारकर बैठना दुरुस्त नहीं। छूट सिर्फ़ उन बूढ़ियों के लिए है, जिनके बुढ़ापे ने लिबास की क़ैदों से मुक्त कर दिया हो और जिनकी ओर आदर के सिवा दूसरी किसी भावना से नज़र उठने की कोई संभावना न हो। ऐसी औरतें घर में बग़ैर दोपट्टे और ओढ़नी के भी रह सकती हैं।

इजाज़त चाहना

इसके बाद दूसरी हद यह क़ायम की गई कि घर के आदमियों को बग़ैर सूचना अचानक घरों में दाख़िल होने से मना कर दिया, ताकि औरतों को किसी ऐसे हाल में न देखें जिसमें मर्दों को नहीं देखना चाहिए –

''और जब तुम्हारे लड़के बालिग़ (व्यस्क) हो जाएँ तो चाहिए कि उसी तरह इजाज़त लेकर घर में आएँ, जिस तरह उनके बड़े इजाज़त लेते रहे हैं।'' (क़ुरआन, 24:59)

यहाँ भी हुक्म की वजह पर रौशनी डाली गई है। इजाज़त लेने की उम्र उसी वक़्त शुरू होती है, जबकि यौन-भावना पैदा हो जाए। इससे पहले इजाज़त माँगना ज़रूरी नहीं।

इसके साथ ग़ैर लोगों को भी हुक्म दिया गया है कि किसी के घर में बग़ैर इजाज़त दाख़िल न हों –

> "ऐ ईमानवालो ! अपने घरों के सिवा दूसरे घरों में दाख़िल न हो, जब तक कि घरवालों से पूछ न लो और घरवालों पर सलाम न भेज लो।" (क़ुरआन, 24:27)

अस्ल मक़सद घर के अन्दर और घर के बाहर के दर्मियान हदबन्दी करना है, ताकि अपनी घरेलू ज़िंदगी में औरतें और मर्द अजनबियों की नज़रों से बची रहें।

इसी के साथ अजनबी मर्दों को हुक्म दिया गया कि किसी दूसरे के घर से कोई चीज़ माँगनी हो तो घरों में न चले जाएँ, बल्कि बाहर परदे की ओट से माँगें –

> "और जब तुम उनसे (नबी की पत्नियों से) कोई चीज़ माँगो तो परदे की ओट से माँगा करो। इसमें तुम्हारे दिलों के लिए भी ज़्यादा उचित तरीक़ा है और उनके दिलों के लिए भी।"
>
> (क़ुरआन, 33:53)

यहाँ भी हदबन्दी के मक़सद पर पूरी रौशनी डाल दी गई है कि दोनों के दिलों को पाकीज़गी हासिल हो । औरतों और मर्दों को यौनाकर्षणों और प्रेरणाओं से बचाना ही अस्ल मक़सद है और ये हद-बन्दियाँ इसी लिए की जा रही हैं कि औरतों और मर्दों के बीच घुलना-मिलना और बे-तकल्लुफ़ी न होने पाए।

ये हुक्म सिर्फ़ अपरिचितों के ही लिए नहीं, बल्कि घरेलू नौकरों के लिए भी हैं। अतः रिवायत में आया है कि हज़रत बिलाल *(रज़ि.)* या हज़रत अनस *(रज़ि.)* ने सय्यिदा फ़ातिमा *(रज़ि.)* से उनके किसी बच्चे को माँगा तो उन्होंने परदे के पीछे से हाथ बढ़ाकर दिया। (फ़त्हुल क़दीर) हालाँकि ये दोनों नबी *(सल्ल.)* के ख़ास ख़ादिम थे और आपके पास घरवालों की तरह रहते थे।

एकांत मिलन और स्पर्श का निषेध

तीसरी हदबन्दी यह की गई कि शौहर के सिवा कोई मर्द किसी स्त्री के पास न अकेले में रहे और न उसके शरीर का स्पर्श करे, चाहे वह क़रीबी रिश्तेदार ही क्यों न हो –

> उक़्बा-बिन-आमिर *(रज़ि.)* से रिवायत है कि नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "ख़बरदार! औरतों के पास एकांत में न जाओ।" अंसार में से एक आदमी ने अर्ज़ किया, "ऐ अल्लाह के रसूल! देवर और जेठ के बारे में क्या इर्शाद है?" फ़रमाया, "वह तो मौत है।"
>
> (हदीस : तिर्मिज़ी, बुख़ारी और मुस्लिम)
>
> "शौहरों की ग़ैर-मौजूदगी में औरतों के पास न जाओ, क्योंकि शैतान तुममें से हर किसी के अन्दर ख़ून की तरह गर्दिश कर रहा है।" (हदीस : तिर्मिज़ी)
>
> अम्र-बिन-आस की रिवायत है कि "नबी *(सल्ल.)* ने हमको औरतों के पास उनके शौहरों की इजाज़त के बग़ैर जाने से मना फ़रमाया।"
>
> (हदीस : तिर्मिज़ी)
>
> "आज के बाद कोई आदमी किसी औरत के पास उसके शौहर की ग़ैर-हाज़िरी में न जाए, जब तक उसके साथ एक-दो आदमी और न हों।" (हदीस : मुस्लिम)
>
> ऐसे ही हुक्म स्पर्श के बारे में भी हैं–
>
> नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "जो आदमी किसी ऐसी औरत का हाथ छुएगा, जिसके साथ उसके जायज़ ताल्लुक़ात न हों, उसकी हथेली पर क़ियामत के दिन अंगारा रखा जाएगा।"(तकमिला फ़त्हुल-क़दीर)

हज़रत आइशा *(रज़ि.)* का बयान है कि नबी *(सल्ल.)* औरतों से सिर्फ़ ज़बानी इक़रार लेकर बैअत लिया करते थे, उनके हाथ अपने हाथ में न लेते थे। आप *(सल्ल.)* ने कभी किसी ऐसी औरत के हाथ को स्पर्श नहीं किया जो आपके निकाह में न हो। (हदीस : बुख़ारी, मुस्लिम)

उमैमा-बिन्त-रक़ीक़ा का बयान है कि मैं कुछ औरतों के साथ नबी *(सल्ल.)* से बैअत करने हाज़िर हुई। आप (सल्ल.) ने हमसे इक़रार लिया कि शिर्क, चोरी, ज़िना, बोहतान तराशी, झूठ और नबी की नाफ़रमानी से बचना। जब इक़रार हो चुका तो हमने अर्ज़ किया कि तशरीफ़ लाइए, ताकि हम आपसे बैअत करें। आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "मैं औरतों से हाथ नहीं मिलाता, सिर्फ़ ज़बानी इक़रार काफ़ी है।" (हदीस : नसई, इब्ने-माजा)

ये हुक्म भी सिर्फ़ जवान औरतों के लिए हैं। बूढ़ी औरतों के साथ अकेले में बैठना जायज़ है और उनके छूने पर भी रोक नहीं। हज़रत अबू बक्र *(रज़ि.)* के बारे में लिखा गया है कि वे एक क़बीले में जाते थे जहाँ उन्होंने बचपन में दूध पिया था और आप उस क़बीले की बूढ़ी औरतों से मुसाफ़ा (हाथ मिलाया) करते थे। हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-ज़ुबैर *(रज़ि.)* के बारे में यह रिवायत है कि वे एक बूढ़ी औरत से पाँव और सर दबवाया करते थे। यह फ़र्क़ जो बूढ़ी और जवान औरतों के दर्मियान किया गया है, ख़ुद इस बात की दलील है कि असल में मर्द व औरत के बीच ऐसे मेल-मिलाप को रोकना मक़सद है जो फ़ितने की वजह बन सकता हो।

महरमों और ग़ैर-महरमों के बीच फ़र्क़

ये तो वे हुक्म थे जिनमें शौहर के सिवा तमाम मर्द शामिल हैं, चाहे वे महरम हों या ग़ैर-महरम। औरत उनमें से किसी के सामने अपना सत्र यानी चेहरे और हाथ के सिवा जिस्म का कोई हिस्सा नहीं खोल सकती। बिल्कुल उसी तरह जिस तरह मर्द किसी के सामने अपना सत्र यानी नाफ़ (नाभि) और घुटने के दर्मियान का हिस्सा नहीं खोल सकता। सब मर्दों को घर में इजाज़त लेकर दाख़िल होना चाहिए और उनमें से किसी का औरत के पास अकेले में बैठना या उसके जिस्म को हाथ लगाना जायज़ नहीं।[1]

---

1. जिस्म को हाथ लगाने के मामले में महरमों और ग़ैर-महरम मर्दों के दर्मियान काफ़ी फ़र्क़ है। भाई अपनी बहन का हाथ पकड़कर उसे सवारी पर चढ़ा या उतार सकता है। ज़ाहिर बात है कि यह बात किसी ग़ैर मर्द के लिए नहीं है। नबी (सल्ल.) जब कभी सफ़र से वापस होते तो अपनी बेटी हज़रत फ़ातिमा *(रज़ि.)* को गले लगाकर सिर का बोसा लेते।

इसके बाद महरमों और ग़ैर-महरमों के बीच फ़र्क़ किया जाता है। क़ुरआन और हदीस में विस्तार के साथ बताया गया है कि आज़ादी और बे-तकल्लुफ़ी के कौन से दर्जे ऐसे हैं जो सिर्फ़ महरम मर्दों के सामने बरते जा सकते हैं और ग़ैर-महरम मर्दों के सामने बरतने जायज़ नहीं हैं। यही चीज़ है जिसको आम तौर से परदा या हिजाब कहा जाता है।

—●—

इसी तरह हज़रत अबू बक्र *(रज़ि.)* अपनी बेटी हज़रत आइशा *(रज़ि.)* के सिर का बोसा लेते थे।

परदे से सम्बन्धित आदेश

क़ुरआन मजीद की जिन आयतों में परदे से सम्बन्धित आदेश बयान हुए हैं वे निम्नलिखित हैं—

"ऐ नबी! मोमिन मर्दों से कहो कि अपनी नज़रें नीची रखें और अपने गुप्तांगों की हिफ़ाज़त करें, यह उनके लिए ज़्यादा पाकीज़ा तरीक़ा है। यक़ीनन अल्लाह जानता है जो कुछ वे करते हैं। और मोमिन औरतों से कहो कि अपनी निगाहें नीची रखें और अपने गुप्तांगों की हिफ़ाज़त करें और अपने बनाव-सिंगार को ज़ाहिर न करें, सिवाए उस के जो खुद ज़ाहिर हो जाए और वे अपने सीनों पर अपनी ओढ़नियों के आँचल डाले रहें। और अपने बनाव-सिंगार को ज़ाहिर न करें, मगर इन लोगों के सामने — शौहर, बाप, ससुर, बेटे, सौतेले बेटे, भाई, भतीजे, भाँजे, अपनी मेल-जोल की औरतें, अपने लौंडी-गुलाम, वे मर्द जो औरतों से किसी और तरह की ग़रज़ न रखते हों, और वे बच्चे जो अभी औरतों की छिपी बातों से आगाह नहीं हुए हों। (साथ ही उनको हुक्म दो कि) वे अपने पाँव ज़मीन पर इस तरह न मारती चला करें कि जो बनाव-सिंगार उन्होंने छिपा रखा है, (आवाज़ के ज़रीए से) वह लोगों को मालूम हो जाए।" (क़ुरआन, 24:30-31)

"ऐ नबी की बीवियो! तुम कुछ आम औरतों की तरह तो हो नहीं, अगर तुम अल्लाह से डरनेवाली हो तो दबी ज़ुबान से बात न किया करो कि जिस आदमी के दिल में कोई ख़राबी है, वह लालच में पड़ जाए, बल्कि बात सीधी-सादी करो। अपने घरों में टिककर रहो और जाहिलियत के अगले ज़माने की-सी सज-धज न दिखाती फिरो।"

(क़ुरआन, 33:32-33)

"ऐ नबी! अपनी बीवियों और बेटियों और ईमानवालों की औरतों

से कह दो कि अपने ऊपर अपनी चादरों के पल्लू डाल लिया करें। यह ज़्यादा अच्छा तरीक़ा है ताकि वे पहचान ली जाएँ और सताई न जाएँ।'' (क़ुरआन, 33:59)

इन आयतों पर विचार कीजिए। मर्दों को तो सिर्फ़ इतनी ताकीद की गई है कि अपनी निगाहें नीची रखें और बेहयाई की चीज़ों से अपने अख़्लाक़ की हिफ़ाज़त करें, मगर औरतों को मर्दों की तरह इन दोनों चीज़ों का हुक्म भी दिया गया है और फिर रहन-सहन और बर्ताव केबारे में कुछ और हिदायतें भी दी गई हैं। इसका साफ़ मतलब यह है कि उनके अख़्लाक़ की हिफ़ाज़त के लिए सिर्फ़ निगाहों को नीची रखने और गुप्तांगों की हिफ़ाज़त करने की कोशिश भी काफ़ी नहीं है, बल्कि कुछ और पाबन्दियों की भी ज़रूरत है। अब हमको देखना चाहिए कि इन संक्षिप्त हिदायतों को नबी *(सल्ल.)* और आपके साथियों (सहाबा रज़ि.) ने इस्लामी रहन-सहन में किस तरह लागू किया है और उनकी कथनी और करनी से इन हिदायतों की सार्थकता और व्यवहार पर क्या रौशनी पड़ती है।

निगाहें नीची रखना

सबसे पहला हुक्म जो मर्दों और औरतों को दिया गया है, वह यह है कि निगाहें नीची रखो।

निगाहें नीची रखने का असल मक़सद यह नहीं है कि लोग हर वक़्त नीचे ही देखते रहें और कभी नज़र ही न उठाएँ। मक़सद असल में यह है कि उस चीज़ से परहेज़ करो जिसको हदीस में आँखों का ज़िना (व्यभिचार) कहा गया है। अजनबी औरतों के हुस्न और उनकी ज़ीनत के दर्शन से आनन्द लेना मर्दों के लिए और अजनबी मर्दों को घूरना औरतों के लिए फ़ितने की वजह है। बिगाड़ की शुरुआत फ़ितरी तौर पर और आदत के तौर से यहीं से होती है। इसलिए सबसे पहले इसी दरवाज़े को बन्द किया गया है, और यही 'नज़रें नीची रखने' का मतलब है। इसी को नज़र बचाना भी कह सकते हैं।

यह ज़ाहिर है कि जब इंसान आँखें खोलकर दुनिया में रहेगा तो सभी चीज़ों पर उसकी नज़र पड़ेगी। यह तो मुमकिन नहीं है कि कोई मर्द किसी औरत

को और कोई औरत किसी मर्द को कभी देखे ही नहीं, इसी लिए प्यारे नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया कि अचानक नज़र पड़ जाए तो माफ़ है। अलबत्ता जिस चीज़ से मना किया गया है, वह यह है कि एक निगाह में जहाँ तुमको हुस्न महसूस हो, वहाँ दोबारा नज़र दौड़ाओ और उसको घूरने की कोशिश करो।

हज़रत जरीर *(रज़ि.)* कहते हैं कि मैंने अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* से पूछा, "अचानक नज़र पड़ जाए तो क्या करूँ?" आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "नज़र फेर लो।" (हदीस : अबू दाऊद)

हज़रत बुरैदा *(रज़ि.)* की रिवायत है कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने हज़रत अली *(रज़ि.)* से फ़रमाया, "ऐ अली! एक नज़र के बाद दूसरी नज़र न डालो। पहली नज़र तुम्हें माफ़ है, पर दूसरी नज़र की इजाज़त नहीं।" (हदीस : अबू दाऊद)

नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "जो आदमी किसी अजनबी औरत की सुन्दरता पर वासना भरी नज़र डालेगा, क़ियामत के दिन उसकी आँखों में पिघला हुआ सीसा डाला जाएगा।"

(तकमिला फ़त्हुल-क़दीर)

मगर कुछ मौक़े ऐसे भी आते हैं जिनमें पराई औरत को देखना ज़रूरी हो जाता है, जैसे कोई बीमार औरत किसी डॉक्टर के इलाज में हो या कोई औरत किसी मुक़द्दमे में क़ाज़ी के सामने गवाह की हैसियत से या फ़रीक़ की हैसियत से पेश हो या किसी ऐसी जगह कोई औरत फँस गई हो, जहाँ आग लगी हो या पानी में डूब रही हो या उसकी जान या आबरू किसी ख़तरे में पड़ गई हो। ऐसी शक्लों में चेहरा तो दूर की बात, ज़रूरत पड़ने पर सत्र को भी देखा जा सकता है, जिस्म को हाथ भी लगाया जा सकता है, बल्कि डूबती हुई या जलती हुई औरत को गोद में उठाकर लाना भी सिर्फ़ जायज़ नहीं, फ़र्ज़ है। इस्लाम का हुक्म यह है कि ऐसी शक्लों में जहाँ तक मुमकिन हो, अपनी नीयत को पाक रखो, लेकिन इंसानी तक़ाज़ों से अगर भावनाओं में कोई थोड़ी-सी हल-चल पैदा हो जाए तब भी कोई गुनाह नहीं, क्योंकि ऐसे देखने और ऐसे छूने के लिए ज़रूरत पड़ जाती है और प्रकृति के तक़ाज़ों को बिल्कुल रोक देने पर इंसान

क़ुदरत नहीं रखता।[1]

इसी तरह अजनबी औरत को विवाह के लिए देखना और तफ़्सीली नज़र के साथ देखना न सिर्फ़ जायज़ है, बल्कि हदीसों में इसका हुक्म आया है और ख़ुद नबी *(सल्ल.)* ने इस उद्देश्य के लिए औरत को देखा है–

"मुग़ीरा-बिन-शोबा *(रज़ि.)* से रिवायत है कि उन्होंने एक औरत को विवाह का पैग़ाम दिया। नबी *(सल्ल.)* ने उनसे फ़रमाया कि उसको देख लो, क्योंकि यह तुम दोनों के दर्मियान मुहब्बत और मेल-जोल पैदा करने के लिए सबसे ज़्यादा मुनासिब होगा।" (हदीस : तिर्मिज़ी)

"सह्ल-बिन-साद *(रज़ि.)* से रिवायत है कि एक औरत प्यारे नबी *(सल्ल.)* के पास हाज़िर हुई और बोली कि मैं अपने आपको आपके निकाह में देने के लिए आई हूँ। इसपर अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने नज़र उठाई और उसको देखा।" (हदीस : बुख़ारी)

हज़रत अबू हुरैरा *(रज़ि.)* का बयान है कि मैं नबी *(सल्ल.)* के पास बैठा था। एक आदमी ने हाज़िर होकर अर्ज़ किया कि मैंने अंसार में से एक औरत के साथ विवाह का इरादा किया है। नबी *(सल्ल.)* ने पूछा, "क्या तूने उसे देखा है?" उसने अर्ज़ किया, "नहीं।" आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "जा और उसको देख ले, क्योंकि अंसार की आँखों में आम तौर से कुछ ऐब होता है।" (हदीस : मुस्लिम)

हज़रत-जाबिर-बिन अब्दुल्लाह *(रज़ि.)* से रिवायत है कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "जब तुममें से कोई आदमी किसी औरत को विवाह का पैग़ाम दे, तो जहाँ तक मुमकिन हो उसे देख लेना चाहिए, हो सकता है कि उसमें कोई ऐसी चीज़ हो जो उसको उस औरत के साथ आकर्षण उत्पन्न करनेवाली हो।"

(हदीस : अबू दाऊद)

1. इस विषय पर सविस्तार जानकारी के लिए देखिए 'तफ़सीर इमाम राज़ी' आयत 'क़ुल लिल्-मुअमिनी-न यग़ुज़्ज़ू मिन अब्सारिहिम,' जस्सास : अहकामुल-क़ुरआन, इसी आयत की तफ़सीर में, तकमिला फ़त्हुल-क़दीर।

इन बातों पर ग़ौर करने से मालूम होता है कि नबी *(सल्ल.)* का मक़्सद, देखने को बिल्कुल ही रोक देना नहीं है, बल्कि असूल में फ़ितने का दरवाज़ा बन्द कर देना है, और इस ग़रज़ के लिए सिर्फ़ उसे देखने को मना किया गया है, जिसकी कोई ज़रूरत भी न हो, जिसका कोई सामाजिक लाभ भी न हो और जिसमें वासनापूर्ण भावनाओं को भड़काने के कारण भी मौजूद हों।

यह हुक्म जिस तरह मर्दों के लिए है, उसी तरह औरतों के लिए भी है। अतः हदीस में हज़रत उम्मे-सलमा *(रज़ि.)* से रिवायत है कि एक बार वे और हज़रत मैमूना[1] नबी *(सल्ल.)* के पास बैठी थीं। इतने में हज़रत इब्ने-उम्मे-मक्तूम आए, जो नाबीना (नेत्रहीन) थे, नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "इनसे परदा करो।" हज़रत उम्मे-सलमा ने अर्ज़ किया, "क्या ये नाबीना (नेत्रहीन) नहीं हैं? न वे हमको देखेंगे, न हमें पहचानेंगे।" नबी *(सल्ल.)* ने जवाब दिया, "क्या तुम दोनों भी नाबीना हो? क्या तुम उन्हें नहीं देखती हो?"

(हदीस : तिर्मिज़ी)

मगर औरत के मर्दों को देखने और मर्द के औरत को देखने में मनोविज्ञान के पहलू से एक नाज़ुक फ़र्क़ है। मर्द के स्वभाव में अग्रसरता है, किसी चीज़ को पसंद करने के बाद वह उसको हासिल करने की कोशिश में क़दम आगे बढ़ाता है, मगर औरत के स्वभाव में मुकरना और फ़रार है, जब तक कि उसकी प्रकृति बिल्कुल ही बिगड़ न जाए, वह कभी आगे बढ़कर हाथ डालनेवाली, बहादुर और बे-बाक नहीं हो सकती कि किसी को पसन्द करने के बाद ख़ुद उसकी ओर आगे बढ़ जाए। नबी *(सल्ल.)* ने इस फ़र्क़ को सामने रखकर औरतों के लिए ग़ैर-मर्दों को देखने के मामले में वह सख़्ती नहीं की है जो मर्दों के लिए ग़ैर औरतों को देखने के मामले में की है। इसी लिए हदीसों में हज़रत आइशा *(रज़ि.)* की यह रिवायत मशहूर है कि नबी *(सल्ल.)* ने ईद के मौक़े पर उनको हब्शियों का तमाशा दिखाया था।[2] इससे मालूम हुआ कि

---

1. दूसरी रिवायत में हज़रत आइशा *(रज़ि.)* का ज़िक्र है।
2. यह रिवायत बुख़ारी, मुस्लिम, नसई और मुस्नद अहमद वग़ैरह में कई तरीक़ों से आई है। कुछ लोगों ने इसकी वजह यह बताई है कि यह वाक़िआ शायद उस वक़्त का है जब हज़रत आइशा *(रज़ि.)* कमसिन थीं और परदे के हुक्म नहीं उतरे थे। मगर इब्ने-

औरतों का मर्दों को देखना बिल्कुल ही मना नहीं है, बल्कि एक मज्लिस में मिलकर बैठना और नज़र जमाकर देखना बुरा है और ऐसी नज़र भी जायज़ नहीं, जिसमें फ़ितना पैदा होने का खतरा हो। वही नेत्रहीन सहाबी इब्ने-उम्मे-मक्तूम *(रज़ि.)* जिनसे नबी *(सल्ल.)* ने हज़रत उम्मे-सलमा को परदा करने का हुक्म दिया था, एक -दूसरे मौक़े पर नबी *(सल्ल.)* उन्हीं के घर में फ़ातिमा-बिन्त-क़ैस को इद्दत[1] बसर करने का हुक्म देते हैं।

क़ाज़ी अबू बक्र इब्नुल-अरबी ने अपनी पुस्तक अहकामुल क़ुरआन में इस वाक़िए को यूँ बयान किया है कि फ़ातिमा-बिन्त-क़ैस, उम्मे शरीक के घर में इद्दत गुज़ारना चाहती थीं। नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया कि इस घर में लोग आते-जाते रहते हैं, तुम इब्ने-उम्मे-मक्तूम के यहाँ रहो, क्योंकि वे एक नेत्रहीन आदमी हैं और उसके यहाँ तुम बे-परदा रह सकती हो। इससे मालूम हुआ कि असूल मक़सद फ़ितने के ख़तरों को कम करना है। जहाँ फ़ितने की सम्भावना ज़्यादा थी, वहाँ रहने से मना फ़रमा दिया। जहाँ सम्भावना कम थी, वहाँ इजाज़त रहने की दे दी, क्योंकि बहरहाल उस औरत को कहीं रहना ज़रूर था, लेकिन जहाँ कोई हक़ीक़ी ज़रूरत न थी वहाँ औरतों को एक ग़ैर-मर्द के साथ एक मज्लिस में जमा होने और आमने-सामने उसको देखने से रोक दिया।

ये सब बातें बुद्धिमत्ता पर आधारित हैं, और जो आदमी शरीअत की रूह तक पहुँचने की सलाहियत रखता हो, वह आसानी केसाथ समझ सकता है कि नज़रें नीची रखने के आदेशों में क्या मस्लहतें हैं। और इन मस्लहतों के लिहाज़ से इन आदेशों में सख़्ती और नर्मी का आश्रय किन बातों पर है। ख़ुदा का असूल मक़सद तुमको नज़रबाज़ी से रोकना है, वरना उसे तुम्हारी आँखों से कोई

हिब्बान में स्पष्ट किया गया है कि यह वाक़िआ उस वक़्त का है जब हब्शा की एक मंडली मदीना आई थी, और इतिहास से साबित है कि यह मंडली सन् 07 हि. में आई थी। इस लिहाज़ से हज़रत आइशा *(रज़ि.)* की उम्र उस वक़्त पन्द्रह-सोलह वर्ष की थी। साथ ही बुख़ारी की रिवायत है कि नबी *(सल्ल.)* हज़रत आइशा *(रज़ि.)* को चादर ढांकते जाते थे। इससे ज़ाहिर है कि परदे के हुक्म भी उस वक़्त उतर चुके थे।

1. इद्दत = वह अवधि या निर्धारित समय जो तलाक़ पाने या विधवा हो जाने पर दूसरा विवाह करने से पूर्व बिताना, शरीअत ने अनिवार्य ठहराया है। (प्रकाशक)

दुश्मनी नहीं है। ये आँखें शुरू में बड़ी मासूम निगाहों से देखती हैं, मन का शैतान उनकी ताईद में बड़े-बड़े फ़रेब से भरी हुई दलीलें पेश करता है, कहता है कि यह सौंदर्य-प्रियता है जो प्रकृति ने तुम्हें दे रखी है। प्रकृति के सौंदर्य की दूसरी चीज़ों को जब तुम देखते हो और उनसे बहुत आनंद लेते हो, तो मानव-सौंदर्य को भी देखो और रूहानी मज़ा लो। मगर अन्दर ही अन्दर यह शैतान आनंद-लोलुपता की लय को बढ़ाता चला जाता है, यहाँ तक कि सौंदर्य-प्रियता तरक़्क़ी करके मिलन की चाह में बदल जाती है। कौन है जो इस हक़ीक़त से इंकार कर सकता हो कि दुनिया में जितना दुष्कर्म अब तक हुआ है और अब हो रहा है, उसका पहला और सबसे बड़ा प्रेरक यही आँखों का फ़ितना है? कौन यह दावा कर सकता है कि अपने विपरीत लिंग के किसी हसीन और जवान व्यक्ति को देखकर उसमें वही भावनाएँ पैदा होती हैं, जो एक ख़ूबसूरत फूल को देखकर होती हैं ? अगर दोनों स्थितियों में फ़र्क़ है और एक के विपरीत दूसरी स्थिति में कम व बेश कामुक भावना की स्थिति है तो फिर तुम कैसे कह सकते हो कि एक सौंदर्य-प्रेम के लिए भी वही आज़ादी होनी चाहिए जो दूसरे सौंदर्य-प्रेम के लिए है ? ख़ुदा तुम्हारे सौंदर्य-प्रेम को मिटाना तो नहीं चाहता। वह कहता है कि तुम अपनी पसन्द के मुताबिक़ अपना एक जोड़ा चुन लो और जितना सौंदर्य-प्रेम तुममें है, उसका केन्द्र सिर्फ़ इसी एक को बना लो, फिर जितना चाहो, उससे आनंदित हो। इस केन्द्र से हटकर नज़रबाज़ी करोगे, तो बेहयाई के कामों में फँस जाओगे। अगर आत्म-संयम या दूसरी रुकावटों की वजह से अमली आवारापन में न भी फँसे, तो वैचारिक आवारापन से कभी न बच सकोगे। तुम्हारी बहुत-सी ताक़त आँखों के रास्ते बर्बाद होगी, बहुत-से बिन किए गुनाहों की हसरत तुम्हारे दिल को नापाक करेगी। बार-बार मुहब्बत के फ़रेब में गिरफ़्तार होगे और बहुत-सी रातें जाग-जागकर सपने देखने में बर्बाद करोगे। बहुत-से हसीन नागों और नागिनों से डसे जाओगे। तुम्हारी बहुत-सी जीवन-शक्ति दिल की धड़कन और ख़ून के उफान में बर्बाद हो जाएगी। यह नुक़्सान क्या कुछ कम है ? और यह सब कुछ अपने देखने के केन्द्र से हटकर देखने ही का नतीजा है। इसलिए अपनी आँखों को क़ाबू में रखो। बे-ज़रूरत देखना और ऐसा देखना कि जो आज़माइश की वजह बन सकता हो, उससे बचा जाना चहिए। अगर देखने की उचित ज़रूरत हो या उसका कोई

सांस्कृतिक व सामाजिक लाभ हो तो फ़ितने की सम्भावना के बावुजूद देखना जायज़ है। और अगर ज़रूरत न हो, लेकिन फ़ितने का भी ख़तरा न हो, तो औरत के लिए मर्द को देखना जायज़ है, मगर मर्द के लिए औरत को देखना जायज़ नहीं, अलावा इसके कि अचानक नज़र पड़ जाए।

ज़ीनत ज़ाहिर करने पर रोक और उसकी हदें

नज़र नीची रखने का आदेश औरत और मर्द दोनों के लिए था। इसके बाद कुछ आदेश ख़ास औरतों के लिए हैं। इनमें से पहला आदेश यह है कि एक सीमित दायरे के बाहर अपनी ज़ीनत (साज-सज्जा) ज़ाहिर करने से बचो।

इस हुक्म के उद्देश्यों पर विचार करने से पहले उन आदेशों को एक बार फिर ज़ेहन में ताज़ा कर लीजिए, जो इससे पहले लिबास और सत्र ढाँकने के बारे में बयान हो चुके हैं। चेहरा और हाथों के सिवा औरत का पूरा जिस्म सत्र है, जिसे बाप, चचा, भाई, और बेटे तक के सामने खोलना जायज़ नहीं। यहाँ तक कि औरत पर भी औरत के सत्र का खुलना बुरा (मकरूह) है।[1] इस सच्चाई को सामने रखते हुए ज़ीनत ज़ाहिर करने की हदों को देखिए–

1. औरत को इजाज़त दी गई है कि वह अपनी ज़ीनत को इन रिश्तेदारों के सामने ज़ाहिर कर सकती है–शौहर, बाप, ससुर, बेटे, सौतेले बेटे, भाई भतीजे और भाँजे।
2. उसको यह भी इजाज़त दी गई है कि अपने ग़ुलामों के सामने ज़ीनत ज़ाहिर कर सकती है, (न कि दूसरों के ग़ुलामों के सामने)।
3. वह ऐसे मर्दों के सामने भी ज़ीनत केसाथ आ सकती है जो किसी केअधीन हों और औरतों की ओर झुकाव और चाव रखनेवाले मर्दों में से न हों।[2]

---

1. औरत के लिए औरत के जिस्म का नाफ़ (नाभि) से घुटने तक का हिस्सा देखना उसी तरह हराम है जिस तरह मर्द के लिए दूसरे मर्द के जिस्म का यही हिस्सा देखना हराम है, इसके सिवा बाक़ी जिस्म का हिस्सा देखना उसके लिए मकरूह है, क़तई हराम नहीं है।
2. इस हुक्म की व्याख्या करते हुए हाफ़िज़ इब्ने-कसीर लिखते हैं कि इससे मुराद वे मज़दूर मुलाज़िम और ताबेदार मर्द हैं जो औरतों के बराबर हैसियत के न हों, साथ ही चालाक

और तेज़ क़िस्म के लोग न हों, बल्कि सीधे-सादे लोग हों जो औरतों के प्रति यौन-भावना न रखते हों। (तफ़सीर इब्ने-कसीर, भाग 3, पृ. 285)

यौन-भावना न रखने की दो शक्लें मुम्किन हैं। एक यह कि उनमें सिरे से वासना ही न हो, जैसे बहुत बूढ़े लोग, अक़्ल के कमज़ोर, पैदाइशी हिजड़े। दूसरे यह कि इनमें मर्दाना ताक़त और औरतों की ओर प्राकृतिक झुकाव मौजूद तो हो, मगर अपनी मातहती और अधीनता की वजह से वे उस आदमी के घर की औरतों के साथ किसी क़िस्म की वासना भरी भावनाओं को जोड़ न सकते हों, जिसके यहाँ मज़दूर या नौकर की हैसियत से वे काम करते हों या जिसके यहाँ फ़क़ीर और मिस्कीन की हैसियत से वे ख़ैरात लेने जाया करते हों।

''वे मर्द सेवक जो औरतों से कुछ मतलब नहीं रखते।'' यह आयत इन दोनों क़िस्मों के आदमियों पर लागू होगी, लेकिन यह ख़याल रहे कि इस तरह के तमाम वे मर्द जिनके सामने औरतों को ज़ीनत (शृंगार) के साथ आने की इजाज़त दी जाए, उनमें ज़रूरी तौर पर दो ख़ूबियाँ मौजूद होनी चाहिएँ। एक यह कि वे उस घर के मातहत हों, जिसकी औरतें उनके सामने आ रही हैं। दूसरे यह कि वे उस घर की औरतों के साथ यौन-संबध क़ायम करने को सोच भी न सकते हों, और यह देखना हर ख़ानदान के मुखिया का काम है कि ऐसे जिन मातहतों को वह घर में आने की इजाज़त दे रहा है, उनपर 'मतलब न रखने' का जो गुमान उसने शुरू में किया था, वह सही साबित हो रहा है या नहीं। अगर शुरू की इजाज़त के बाद आगे चलकर किसी वक़्त यह शक करने की गुंजाइश निकल आए कि वे 'मतलब न रखनवालों' में से हैं, तो इजाज़त ख़त्म कर देनी चाहिए। इस मामले में सबसे बेहतर मिसाल उस हिजड़े की है, जिसे नबी *(सल्ल.)* ने घरों में आने की इजाज़त दे रखी थी और फिर एक घटना के बाद उसको न सिर्फ़ घरों में आने से रोक दिया, बल्कि मदीना ही से निकाल दिया। उसका क़िस्सा यह है कि मदीना में एक हिजड़ा था, जो नबी *(सल्ल.)* की पाक बीवियों के पास आया-जाया करता था। एक बार वह हज़रत उम्मे-सलमा *(रज़ि.)* के यहाँ बैठा हुआ उनके भाई हज़रत अब्दुल्लाह *(रज़ि.)* से बातें कर रहा था। इतने में नबी *(सल्ल.)* तशरीफ़ ले आए और मकान में दाख़िल होते हुए आप *(सल्ल.)* ने सुना, वह अब्दुल्लाह *(रज़ि.)* से कह रहा था, ''अगर कल तायफ़ पर विजय प्राप्त हो गई तो मैं बादिया-बिन्त-ग़ैलान सक़फ़ी को तुम्हें दिखाऊँगा, जिसका हाल यह है कि जब सामने से आती है तो उसके पेट में चार बल नज़र आते हैं, और जब पीछे पलटती है, तो आठ बल।'' इसके बाद एक अश्लील वाक्य में उसने उस औरत के सत्र (गुप्तांग) की तारीफ़ की। नबी *(सल्ल.)* ने उसकी ये बातें सुनकर फ़रमाया, ''ऐ ख़ुदा के दुश्मन! तूने तो उसे ख़ूब नज़रें गाड़कर देखा है।'' फिर पाक बीवियों से फ़रमाया, ''मैं देखता हूँ कि यह औरतों के हालात को

4. औरत ऐसे बच्चों के सामने भी ज़ीनत ज़ाहिर कर सकती है, जिनमें अभी काम-वासना न जागी हो। क़ुरआन में है, "ऐसे बच्चे जो अभी औरतों की गुप्त बातों को न जानते हों।"

5. अपने मेल-जोल की औरतों के सामने भी औरत का ज़ीनत के साथ आना जायज़ है। क़ुरआन में सिर्फ़ 'औरतों' के शब्द नहीं कहे गए, बल्कि 'अपनी औरतों' के शब्द कहे गए हैं। इससे ज़ाहिर हुआ कि शरीफ़ औरतें या अपने ख़ानदान या अपने वर्ग की औरतें मुराद हैं। इनके अलावा ग़ैर-औरतें, जिनमें हर क़िस्म की उलटी-सीधी और संदिग्ध चाल-चलन वालियाँ और आवारा व बदनाम सभी शामिल होती हैं, इस इजाज़त से अलग हैं, क्योंकि वे भी फ़ितने की वजह बन सकती हैं। इसी वजह से जब शाम (सीरिया) के इलाक़े में मुसलमान गए और उनकी औरतें वहाँ की ईसाई और यहूदी औरतों के साथ बे-तकल्लुफ़ी से मिलने लगीं तो हज़रत उमर *(रज़ि.)* ने शाम के गवर्नर हज़रत अबू-उबैदा *(रज़ि.)* को लिखा कि मुसलमान औरतों को अहले-किताब के साथ हम्मामों में जाने से मना कर दो।[1] हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-अब्बास *(रज़ि.)* ने स्पष्ट किया है कि मुसलमान औरत दुश्मनों और ग़ैर-मुस्लिमों के सामने अपना शरीर उससे ज़्यादा ज़ाहिर नहीं कर सकती, जितना अजनबी मर्दों के सामने ज़ाहिर कर सकती है।[2] इससे कोई धार्मिक पक्षपात ध्येय न था बल्कि मुसलमान औरतों को ऐसी औरतों के प्रभाव से बचाना मक़सद था, जिनके अख़लाक़ और तहज़ीब का सही हाल मालूम न हो, या जिस हद तक मालूम हो वह

जानता है, इसलिए अब यह तुम्हारे पास न आने पाए।" फिर आप *(सल्ल.)* ने इसपर भी बस न किया, बल्कि उसे मदीना से निकालकर बेदा में रहने का हुक्म दिया, क्योंकि उसने बिन्ते-ग़ैलान के सतर का जो चित्र खींचा था, उससे आप *(सल्ल.)* ने अन्दाज़ा कर लिया कि उस व्यक्ति के ज़नानापन की वजह से औरतें उसके साथ उतनी ही बे-तकल्लुफ़ हो जाती हैं जितना अपनी साथी औरतों से हो सकती हैं, और इस तरह यह उनके अन्दरूनी हालत को जानकर उनकी तारीफ़ें मर्दों के सामने बयान करता है जिससे बड़े फ़ितने पैदा हो सकते हैं। (बज़्लुल मज्हूद, किताबुल्लिबास)

1. इब्ने-जरीर, ऊपर की आयत की तफ़सीर में।
2. तफ़सीरे-कबीर, ऊपर की आयत की तफ़सीर में।

इस्लामी दृष्टिकोण से एतिराज़ के लायक़ हो। रहीं वे ग़ैर-मुस्लिम औरतें, जो शरीफ़ और हयादार और नेक आदतों वाली हों, तो वे 'अपनी औरतों' में ही गिनी जाएँगी।

इन सीमाओं पर विचार करने से दो बातें मालूम होती हैं–

एक यह कि जिस ज़ीनत को ज़ाहिर करने की इजाज़त इस सीमित क्षेत्र में दी गई है, वह सत्र के अलावा है। इससे मुराद ज़ेवर पहनना, अच्छे कपड़ों से अपने को सजाना, सुर्मा, मेंहदी, बालों की साज-सज्जा और दूसरे वे शृंगार हैं, जो औरतें अपने स्त्रीत्व के तक़ाज़े से अपने घर में करने की आदी होती हैं।

दूसरे यह कि इस क़िस्म की सजावटों को ज़ाहिर करने की इजाज़त या तो उन मर्दों के सामने दी गई है जिनको स्थायी रूप से विशेष रिश्तों की औरतों के लिए हराम कर दिया है या उन लोगों के सामने जिनके भीतर यौनप्रवृत्तियाँ नहीं हैं या उनके सामने जो फ़ितने की वजह न बन सकते हों। इसलिए औरतों के लिए 'निसाइहिन-न' (अपनी औरतों) की क़ैद है, मातहतों के लिए 'ग़ैरि उलिल इरबा' (जो औरतों से कोई मतलब नहीं रखते) और बच्चों के लिए 'लम यज़-हरूअला औरातिन्निसाइ' (जो औरतों की परदे की बातों से आगाह नहीं हुए हैं) की। इससे मालूम हुआ कि क़ुरआन की मंशा औरतों की ज़ीनत ज़ाहिर करने को ऐसे क्षेत्र में सीमित करना है, जिसमें उनके हुस्न और उनकी सजावट से किसी क़िस्म की नाजायज़ भावना पैदा होने और यौन-विकार के कारण जुटने का ख़तरा नहीं है।

इस दायरे के बाहर जितने मर्द हैं, उनके बारे में आदेश है कि उनके सामने अपनी ज़ीनत न ज़ाहिर करो, बल्कि चलने में पाँव भी इस तरह न मारो कि छिपी हुई ज़ीनत का हाल आवाज़ से ज़ाहिर हो और इस ज़रीए से ध्यान तुम्हारी ओर आकर्षित हो। इस फ़रमान में जिस ज़ीनत को अजनबी लोगों से छिपाने का हुक्म दिया गया है, वह वही ज़ीनत है जिसके ज़ाहिर करने की इजाज़त ऊपर के सीमित क्षेत्र में दी गई है। मक़सद बिल्कुल स्पष्ट है, औरतें अगर बन-ठनकर ऐसे लोगों के सामने आएँगी जो कामुक इच्छाएँ रखते हैं और जिनकी कामोत्तेजनाओं को स्थायी रूप से हराम होने के आदेश ने शुद्ध व पवित्र और

मासूम भावनाओं में नहीं बदला है, तो इसके परिणाम बुरे ही होंगे। यह कोई नहीं कहता कि ज़ीनत के इस तरह ज़ाहिर करने से हर औरत अश्लील और बेहया ही होकर रहेगी और हर मर्द अमली तौर पर बदकार ही बनकर रहेगा, मगर इससे भी कोई इंकार नहीं कर सकता कि साज-सज्जा और बनाव-सिंगार के साथ औरतों के खुले-आम फिरने और महफ़िलों में शरीक होने से अनगिनत छिपे-खुले और भौतिक-अभौतिक नुक़्सान प्रकट होते हैं। आज यूरोप और अमरीका की औरतें अपनी और अपने शौहरों की आमदनी का बड़ा हिस्सा अपनी सजावट पर ख़र्च कर रही हैं और दिन-ब-दिन उनका यह ख़र्च इतना बढ़ता चला जा रहा है कि उनके आर्थिक साधन उसे सह पाने की ताक़त नहीं रखते।[1] क्या यह पागलपन उन्हीं शौक़ीन निगाहों ने पैदा नहीं किया है जो बाज़ारों, दफ़्तरों और सभाओं में सजी-धजी औरतों का स्वागत करती हैं? फिर विचार कीजिए कि आख़िर औरतों में साज-सज्जा का इतना शौक़ पैदा होने और तूफ़ान की तरह बढ़ने का कारण क्या है? यही ना कि वे मर्दों की वाहवाही लूटना और मर्दों की नज़रों का तारा बनना चाहती हैं।[2] यह किस लिए? क्या

---

1. हाल ही में केमिकल सामान बनानेवालों की नुमाइश हुई थी जिसमें विशेषज्ञों के बयान से मालूम हुआ कि इंग्लैंड की औरतें अपने श्रृंगार पर दो करोड़ पौंड और अमरीका की औरतें साढ़े बारह करोड़ पौंड सालाना ख़र्च करती हैं, और क़रीब-क़रीब 90 प्रतिशत औरतें किसी न किसी तरीक़े के श्रृंगार (Make up) की आदी हैं। (सन 1940 ई.)
2. सुन्दर बनने का जुनून औरतों में इस हद तक बढ़ गया है कि इसके लिए वे अपनी जानें तक दे रही हैं। उनकी अत्यधिक कोशिश यह होती है कि हल्की-फुल्की गुड़िया-सी बनकर रहें और उनके शरीर पर एक औंस भी ज़रूरत से ज़्यादा मांस न हो। ख़ूबसूरती के लिए पिंडली, जाँघ और स्तन के जो नाप विशेषज्ञों ने मुक़र्रर कर दिए हैं, हर लड़की अपने आपको उस नाप के अन्दर रखना चाहती है, मानो उस कमबख़्त की ज़िंदगी का कोई और मक़सद दूसरों की निगाह में पसंदीदा बन जाने के सिवा न रहा। इस मक़सद के लिए ये बेचारियाँ उपवास करती हैं, जिस्म को बढ़ानेवाली खाद्य-वस्तुओं से जान-बूझकर अपने आपको वंचित रखती हैं। नीबू के रस, कड़वी काफ़ी और ऐसे ही हल्के भोजनों पर जीती हैं और डॉक्टरी मशिवरे के बग़ैर, बल्कि इसके ख़िलाफ़ ऐसी दवाएँ इस्तेमाल करती हैं जो उन्हें दुबला करें। इस पागलपन के लिए बहुत-सी औरतों ने अपनी जानें दी हैं और दे रही हैं। सन्1937 ई. में बुडापेस्ट की मशहूर एक्ट्रेस 'जोसीला बास' यकायक दिल की हरकत बन्द हो जाने की वजह से मर गई। बाद में जाँच से पता

यह बिल्कुल ही मासूम भावना है? क्या इसकी तह में वे यौन-कामनाएँ छिपी हुई नहीं हैं जो अपने प्राकृतिक दायरे से निकलकर फैल जाना चाहती हैं और जिनकी माँगें पूरी करने के लिए दूसरी ओर भी वैसी ही ख़ाहिशें मौजूद हैं? अगर आप इससे इंकार करेंगे तो शायद कल आप यह दावा करने में भी न झिझकें कि ज्वालामुखी पहाड़ पर जो धुआँ नज़र आता है उसकी तह में कोई लावा बाहर निकलने के लिए व्याकुल नहीं है। आप अपने कर्म के मालिक हैं, जो चाहे कीजिए, मगर सच्चाइयों से इंकार न कीजिए। ये सच्चाइयाँ अब कुछ ढकी-छिपी भी नहीं रही हैं, सामने आ चुकी हैं और इनके नतीजे भी सर्व-विदित रूप में सामने आ चुके हैं। आप इन नतीजों को जानते-बूझते या अनजाने में क़बूल कर लेते हैं, मगर इस्लाम इन्हें ठीक उसी जगह पर रोक देना

चला कि वह कई साल से जान-बूझकर आधे उपवास की ज़िंदगी जी रही थी और जिस्म घटाने की पेटेंट दवाएँ इस्तेमाल किए जाती थी। आख़िर उसकी ताक़तों ने यकायक जवाब दे दिया। इसके बाद लगातार बुडापेस्ट ही में तीन और ऐसी ही घटनाएँ घटीं। मागदा ब्रसैली जो अपने हुस्न और कमालात के लिए पूरे हंगरी में मशहूर थी, इसी 'हल्केपन' के शौक़ की भेंट चढ़ गई। फिर एक गानेवाली लुइ सा ज़ाबू, जिसके गानों की हर ओर धूम थी, एक रात ठीक स्टेज पर अपना काम करती हुई हज़ारों दर्शकों के सामने मूर्छित होकर गिर पड़ी। उसको यह ग़म खाए जाता था कि उसका जिस्म मौजूदा ज़माने के हुस्न के मापदण्ड पर पूरा नहीं उतरता। इस 'मुसीबत' को दूर करने के लिए बेचारी ने कृत्रिम उपाय अपनाना शुरू किया और दो महीने में 60 पौंड वज़न कम कर डाला। नतीजा यह हुआ कि दिल हद से ज़्यादा कमज़ोर हो गया और एक दिन वह भी हुस्न के ख़रीदारों की भेंट चढ़कर रही। उसके बाद एमूला नामक एक और एक्ट्रेस की बारी आई और उसने कृत्रिम उपायों से अपने आपको इतना हल्का किया कि स्थायी दिमाग़ी रोग में फँस गई और स्टेज के बजाए उसे पागलख़ाने की राह लेनी पड़ी। इस तरह के मशहूर लोगों की घटनाएँ तो अख़बारों में आ जाती हैं, मगर कौन जानता है कि यह हुस्न और माशूक़ियत का जुनून जो घर-घर फैला हुआ है, प्रति दिन कितनी सेहतों और कितनी ज़िंदगियों को बर्बाद करता होगा? कोई बताए कि यह औरतों की आज़ादी है या उनकी ग़ुलामी? इस कथित आज़ादी ने तो उनपर मर्दों की ख़ाहिशों को और ज़्यादा लाद दिया है। उसने तो उनको ऐसा ग़ुलाम बना दिया है कि वे खाने-पीने और तन्दुरुस्त रहने की आज़ादी से भी वंचित हो गईं। इन ग़रीबों का तो जीना और मरना अब बस मर्दों ही की वासना-तृप्ति के लिए रह गया है।

चाहता है, जहाँ से उनके ज़ाहिर होने की शुरुआत होती है। क्योंकि उसकी नज़र शृंगार प्रदर्शन के आरंभ पर नहीं जिसमें प्रकटतः कोई बुराई दिखाई नहीं देती, बल्कि उसकी नज़र उस परिणाम पर है जो घोर पाप है, जो पूरे समाज पर भयानक अंधेरा लेकर फैल जाता है।

> "परायों में ज़ीनत के साथ नाज़ व अन्दाज़ से चलनेवाली औरत ऐसी है जैसे क़ियामत के दिन का घोर अंधकार कि उसमें कोई प्रकाश नहीं।" (हदीस : तिर्मिज़ी)

क़ुरआन में जहाँ परायों के सामने औरत के शरीर की ज़ीनत ज़ाहिर करने पर रोक है, वहीं एक अपवाद भी है 'इल्ला मा ज़-ह-र मिनहा' जिसका मतलब यह है कि ऐसी ज़ीनत के ज़ाहिर होने में कोई हरज नहीं है जो ख़ुद ज़ाहिर हो जाए। लोगों ने इस अपवाद (छूट) से बहुत कुछ फ़ायदा उठाने की कोशिश की है मगर मुश्किल यह है कि इन शब्दों में कुछ ज़्यादा फ़ायदा उठाने की गुंजाइश ही नहीं है। क़ुरआन सिर्फ़ यह कहता है कि तुम अपने इरादे से दूसरों के सामने अपनी ज़ीनत ज़ाहिर न करो, लेकिन जो ज़ीनत ख़ुद ज़ाहिर हो जाए या मजबूरी के तौर पर ज़ाहिर ही रहनेवाली हो, उसकी तुमपर कोई ज़िम्मेदारी नहीं। मतलब साफ़ है। तुम्हारी नीयत ज़ीनत ज़ाहिर करने की न होनी चाहिए। तुममें यह भावना, यह इरादा हरगिज़ न होना चाहिए कि अपनी साज-सज्जा परायों को दिखाओ या और कुछ नहीं तो छिपे हुए ज़ेवरों की झंकार ही सुनाकर उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लो।[1] तुमको अपनी ओर से तो ज़ीनत छिपाने की भरसक कोशिश करनी चाहिए, फिर अगर कोई चीज़ मजबूरी में खुल जाए तो उसपर अल्लाह तुम्हारी कोई पकड़ न करेगा। तुम जिन कपड़ों में ज़ीनत को छिपाओगी, वे तो बहरहाल ज़ाहिर ही होंगे। तुम्हारा क़द व क़ामत, शारीरिक गठन, डील-डौल तो उनमें महसूस होगा। किसी ज़रूरत या

1. अब ऐसे ज़ेवर और गहनों का रिवाज, जिनमें झंकार पैदा होती हो, लगभग ख़त्म हो गया है। अब तो छिपे हुए ज़ेवरों की ज़ीनत के बजाय, स्वयं शरीर के छिपे हुए अंगों तथा उनके उतार-चढ़ाव की सारी बारीकियों को, कपड़े पहन कर भी स्पष्ट करने का रिवाज है; क्योंकि छिपे हुए आभूषणों में पराये मर्दों के लिए उतना यौनाकर्षण बहरहाल नहीं हो सकता जो साक्षात शरीर के कामोत्तेजक अंगों में हो सकता है। (प्रकाशक)

काम-काज के लिए कभी हाथ या चेहरे का कोई हिस्सा तो खोलना ही पड़ेगा, कोई हरज नहीं अगर ऐसा हो। तुम्हारी नीयत उसको ज़ाहिर करने की नहीं। तुम उसे ज़ाहिर करने पर मजबूर भी हो। अगर इन चीज़ों से भी कोई कमीना व्यक्ति लज़्ज़त लेता है तो लिया करे, अपनी बद-नीयती की सज़ा ख़ुद भुगतेगा। जितनी ज़िम्मेदारी संस्कृति और नैतिकता के लिए तुमपर डाली गई थी, उसको तुमने अपनी हद तक पूरा कर दिया।

यह है सही मतलब इस आयत का। टीकाकारों में इसके मतलब में जितने मतभेद हैं उन सबपर जब आप विचार करेंगे तो मालूम होगा कि तमाम मतभेदों के बावजूद, उनकी मंशा यही है जो हमने बयान किया है।

इब्ने-मसऊद, इबराहीम नख़ई और हसन बसरी के नज़दीक ज़ाहिरी ज़ीनत से मुराद वे कपड़े हैं जिनमें भीतरी ज़ीनत को छिपाया जाता है, जैसे बुर्क़ा या चादर।

इब्ने-अब्बास, मुजाहिद, इब्ने-उमर, अनस, ज़हहाक, सईद-बिन-जुबैर, औज़ाई और आम हनफ़ियों के नज़दीक इससे मुराद चेहरा और हाथ हैं। ज़ीनत के अन्य साधन भी इस अपवाद में दाख़िल हैं जो चेहरे और हाथ में स्वाभाविक रूप से होते हैं, जैसे हाथ की मेंहदी, अँगूठी और आँखों का सुर्मा वग़ैरह।

सईद-बिन-मुसय्यिब के नज़दीक सिर्फ़ चेहरा अपवाद है और एक कथन हसन बसरी से भी उनकी ताईद में नक़ल किया गया है।

हज़रत आइशा (रज़ि.) का चेहरा छिपाने की ओर झुकाव है। उनके नज़दीक ज़ाहिरी ज़ीनत से मुराद हाथ और चूड़ियाँ, कंगन और अंगूठियाँ हैं।

मिस्वर-बिन-मख़रिमा और क़तादा हाथों को उनकी ज़ीनत समेत खोलने की इजाज़त देते हैं, मगर चेहरे के बारे में उनकी बातों से ऐसा लगता है कि पूरे चेहरे के बजाए वे सिर्फ़ आँखें खोलने को जायज़ रखते हैं।[1]

इन मतभेदों के मंशा पर विचार कीजिए। इन सब टीकाकारों ने 'इल्ला मा

1. ये तमाम कथन तफ़्सीर-इब्ने जरीर और अल्लामा जस्सास की पुस्तक 'अहकामुल क़ुरआन' से लिए गए हैं।

ज़-ह-र मिन्हा' (अलावा उसके जो उसमें से ज़ाहिर हो) से यही समझा है कि अल्लाह ऐसी ज़ीनत को ज़ाहिर करने की इजाज़त देता है जो मजबूरी में ज़ाहिर हो जाए या जिसको ज़ाहिर करने की ज़रूरत पेश आ जाए। चेहरे और हाथों की नुमाइश करना या उनको देखने योग्य बनाना, इनमें से किसी का भी मक़सद नहीं। हर एक ने अपनी समझ और औरतों की ज़रूरतों के लिहाज़ से यह समझने की कोशिश की है कि ज़रूरत किस हद तक किस चीज़ को बे-परदा करने का तक़ाज़ा करती है या क्या चीज़ मजबूरी में या आदत के तौर पर खुल सकती है। हम कहते हैं कि आप 'इल्ला मा ज़-ह-र मिन्हा' को इनमें से किसी शर्त के साथ भी न जोड़िए। एक मुसलमान औरत जो ख़ुदा और रसूल के हुक्मों की सच्चे दिल से पाबन्द रहना चाहती है और जिसको फ़ितने में पड़ना मंज़ूर नहीं है, वह ख़ुद अपने हालात और ज़रूरतों के हिसाब से फ़ैसला कर सकती है कि चेहरा और हाथ खोले या नहीं, कब खोले और कब न खोले, किस हद तक खोले और किस हद तक छिपाए। इस बारे में कोई क़तई हुक्म न ख़ुदा और रसूल ने दिए हैं, न हालात और ज़रूरत की तब्दीलियों को देखते हुए यह हिक्मत का तक़ाजा है कि क़तई हुक्म दे दिए जाएँ। जो औरत अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए बाहर जाने और काम-काज करने पर मजबूर है, उसको किसी वक़्त हाथ भी खोलने की ज़रूरत पेश आएगी और चेहरा भी। ऐसी औरत के लिए ज़रूरत भर इजाज़त है, और जिस औरत का हाल यह नहीं है उसके लिए बे-ज़रूरत जान-बूझकर खोलना सही नहीं।

अतः ख़ुदा और रसूल का मक़सद यह है कि अपना हुस्न दिखाने के लिए अगर कोई चीज़ बे-परदा की जाए तो यह गुनाह है, अपने आप बे-इरादा कुछ ज़ाहिर हो जाए तो कोई गुनाह नहीं। सच्ची ज़रूरत अगर कुछ खोलने पर मजबूर करे तो उसका खोलना बिल्कुल जायज़ है। अब रहा यह सवाल कि हालात के अदलते-बदलते रहने से हटकर सिर्फ़ चेहरे के बारे में क्या हुक्म है? ख़ुदा और रसूल उसके खोलने को पसन्द करता है या ना-पसन्द? उसके खोलनें की इजाज़त सिर्फ़ बहुत अनिवार्य ज़रूरत के तौर पर दी गई है या उनके नज़दीक चेहरा परायों से छिपाने की चीज़ ही नहीं है? इन सवालों पर क़ुरआन मजीद की सूरा-33 अल-अहज़ाब वाली आयत में रौशनी डाली गई है।

चेहरे के बारे में हुक्म

क़ुरआन मजीद की सूरा अहज़ाब की जिस आयत का ज़िक्र ऊपर किया गया है, उसका अनुवाद यह है–

> "ऐ नबी! अपनी बीवियों और बेटियों और ईमानवालों की औरतों से कह दो कि अपने ऊपर अपनी चादरों के घूंघट डाल लिया करें, यह ज़्यादा उचित तरीक़ा है ताकि वे पहचान ली जाएँ और सताई न जाएँ।" (क़ुरआन, 33:59)

यह आयत ख़ास चेहरों को छिपाने के लिए है। 'जलाबीब' बहुवचन है 'जिलबाब' का, जिसका मतलब चादर है। 'इदना' का मतलब लटकाना है। 'युदनी-न-अलैहिन-न मिन जलाबी-बिहिन-न' का शाब्दिक अनुवाद यह होगा कि "अपने ऊपर अपनी चादरों में से एक हिस्सा लटका लिया करें।" यही मतलब घूंघट डालने का है, मगर असूल मक़सद वह ख़ास डिज़ाइन नहीं है, जिसको आम तौर से नक़ाब या घूँघट कहा जाता है, बल्कि चेहरे को छिपाना उद्देश्य है, चाहे घूँघट से छिपाया जाए या नक़ाब से या किसी और तरीक़े से। इसका फ़ायदा यह बताया गया है कि जब मुसलमान औरतें इस तरह परदे में बाहर निकलेंगी तो लोगों को मालूम हो जाएगा कि ये शरीफ़ औरतें हैं, बेहया नहीं हैं, इसलिए कोई व्यक्ति उनसे छेड़ख़ानी न करेगा।

क़ुरआन मजीद के तमाम टीकाकारों ने इस आयत का यही मतलब बयान किया है। हज़रत इब्ने-अब्बास *(रज़ि.)* इसकी टीका में फ़रमाते हैं–

> "अल्लाह ने मुसलमान औरतों को हुक्म दिया है कि जब वे किसी ज़रूरत से निकलें तो सिर के ऊपर से अपनी चादरों के पल्लू लटकाकर अपने चेहरों को ढाँक लिया करें।"
>
> (तफ़सीर इब्ने-जरीर, भाग 22, पृ. 29)

इमाम मुहम्मद-बिन-सीरीन (रह.) ने हज़रत उबैदा-बिन-सुफ़ियान-हारिस हज़रमी (रह.) से पूछा कि इस हुक्म पर अमल करने का तरीक़ा क्या है? उन्होंने ख़ुद चादर ओढ़कर बताया और अपना माथा और नाक और एक आँख

को छिपाकर सिर्फ़ एक आँख खुली रखी।

(तफ़्सीर इब्ने-जरीर, भाग-22, पृ. 29 और अह्कामुल क़ुरआन, भाग-3 पृ. 457)

अल्लामा इब्ने-जरीर तबरी (रह.) इस आयत की व्याख्या में लिखते हैं–

"ऐ नबी ! अपनी बीवियों, बेटियों और मुसलमानों की औरतों से कह दो कि जब अपने घरों से किसी ज़रूरत के लिए निकलें तो लौंडियों के जैसे पहनावे न पहनें कि सिर और चेहरे खुले हुए हों, बल्कि वे अपने ऊपर अपनी चादरों के घूँघट डाल लिया करें, ताकि कोई दुराचारी उनसे छेड़ख़ानी न कर सके और सब जान लें कि वे शरीफ़ औरतें है।" (तफ़्सीर-इब्ने जरीर, भाग-22, पृ. 29)

अल्लामा अबू बक्र (रह.) जस्सास लिखते हैं –

"यह आयत इस बात की दलील है कि जवान औरत को परायों से चेहरा छिपाने का हुक्म है और उसे घर से निकलते वक़्त परदादारी और पाकदामनी ज़ाहिर करनी चाहिए, ताकि बद-नीयत लोग उसके सिलसिले में कोई लालसा न कर सकें।'

(अहकामुल-क़ुरआन, भाग-3 पृ. 458)

अल्लामा नीशापुरी अपनी टीका 'ग़राइबुल -क़ुरआन' में लिखते हैं–

"इस्लाम के आरंभिक ज़माने में औरतें जाहिलियत के ज़माने की तरह क़मीस और दोपट्टे के साथ निकलती थीं और शरीफ़ औरतों का पहनावा निचले वर्ग की औरतों से अलग न था। फिर हुक्म दिया गया कि वे चादरें ओढ़ें और अपने सिर और चेहरों को छिपाएँ, ताकि लोगों को मालूम हो जाए कि वे शरीफ़ औरतें हैं, गन्दी और बेहया औरतें नहीं हैं।"

(तफ़्सीर ग़राइबुल-क़ुरआन, हाशिया इब्ने-जरीर, भाग 22, पृ. 32)

इमाम राज़ी (रह.) लिखते हैं–

"जाहिलियत (अज्ञानता) के युग में कुलीन वर्ग की शरीफ़ औरतें और लौंडियाँ सब खुली फिरती थीं और बदकार लोग उनका पीछा

किया करते थे। अल्लाह ने शरीफ़ औरतों को हुक्म दिया कि वे अपने ऊपर चादर डाल लें। और यह जो फ़रमाया कि 'इसकी ज़्यादा उम्मीद है कि इस तरह वे पहचान ली जाएँगी और उन्हें सताया न जाएगा' तो इसके दो मतलब हो सकते हैं। एक यह कि इस पहनावे से पहचान लिया जाएगा कि वे शरीफ़ औरतें हैं और उनका पीछा न किया जाएगा। दूसरे यह कि इससे मालूम हो जाएगा कि वे बदकार नहीं हैं, क्योंकि जो औरत चेहरा छिपाएगी, जबकि चेहरा 'औरत'[1] नहीं हैं, जिसका छिपाना ज़रूरी हो तो कोई आदमी उससे यह उम्मीद न करेगा कि ऐसी शरीफ़ औरत अपने जिस्म के उन हिस्सों को खोलने पर तैयार हो जाएगी जिनका छिपाना ज़रूरी है। बस इस पहनावे से यह ज़ाहिर हो जाएगा कि वह एक परदादार औरत है और उससे बदकारी की उम्मीद न की जा सकेगी।''

(तफ़्सीर कबीर, भाग 6, पृ. 591)

क़ाज़ी बैज़ावी (रह.) लिखते हैं–

''युदनी-न अलैहिन-न मिन जलाबीबिहिन-न' अर्थात जब वे अपनी ज़रूरतों के लिए बाहर निकलें तो अपनी चादरों से अपने चेहरों और अपने जिस्मों को छिपा लें। यहाँ 'मिन' शब्द कुछ हिस्सों को बताने के लिए आया है, अर्थात् चादरों के एक हिस्से को मुँह पर डाला जाए और एक हिस्से को जिस्म पर लपेट लिया जाए।''

'ज़ालि-क अदना अंय्युअ-रफ़-न' अर्थात इससे उनके और लौंडियों और गानेवालियों के बीच अन्तर मालूम हो जाएगा। 'फ़ला यूज़ै-न' और संदिग्ध चाल-चलन के लोग उससे छेड़ख़ानी की हिम्मत न कर सकेंगे।'' (तफ़्सीर बैज़ावी, भाग 4, पृ. 168)

इन कथनों से ज़ाहिर है कि सहाबा किराम *(रज़ि.)* के मुबारक दौर से लेकर

1. 'औरत' शरीअत की शब्दावली में जिस्म के उस हिस्से को कहते हैं जिसको बीवी या शौहर के सिवा हर एक से छिपाने का हुक्म है। मर्द के जिस्म का भी वह हिस्सा जो नाफ़ (नाभि) और घुटने के बीच है, इस अर्थ में 'औरत' ही है।

आठवीं सदी तक हर ज़माने में इस आयत का एक ही मतलब समझा गया है, और वह मतलब वही है जो उसके शब्दों से हमने समझा है। इसके बाद हदीसों की ओर आइए तो वहाँ भी मालूम होता है कि इस आयत के उतरने के बाद से नबी *(सल्ल.)* के मुबारक दौर में आम तौर पर मुसलमान औरतें अपने चेहरों पर नक़ाब डालने लगी थीं और खुले चेहरों के साथ फिरने का चलन बन्द हो गया था। अबू दाऊद, तिर्मिज़ी, मुवत्ता और हदीस की दूसरी किताबों में लिखा है कि नबी *(सल्ल.)* ने औरतों को एहराम[1] की हालत में चेहरों पर नक़ाब डालने और दस्ताने पहनने से मना फ़रमाया था। इससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि उस मुबारक ज़माने में चेहरों को छिपाने के लिए नक़ाब और हाथों को छिपाने के लिए दस्तानों का आम चलन हो चुका था। सिर्फ़ एहराम की हालत में इससे मना किया गया, मगर इससे भी यह मक़सद न था कि हज में चेहरे सबके सामने पेश किए जाएँ, बल्कि असल में मक़सद यह था कि एहराम के फ़क़ीराना भेस में नक़ाब औरत के लिबास का हिस्सा न हो, जिस तरह आम तौर पर होता है। चुनांचे दूसरी हदीसों में स्पष्ट कर दिया गया है कि एहराम की हालत में भी नबी *(सल्ल.)* की बीवियाँ और आम मुस्लिम औरतें नक़ाब के बग़ैर अपने चेहरों को परायों से छिपाती थीं। अबू दाऊद में है–

> ''हज़रत आइशा *(रज़ि.)* फ़रमाती हैं कि सवार हमारे क़रीब से गुज़रते थे और हम औरतें अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* के साथ एहराम की हालत में होती थीं। अत: जब वे लोग हमारे सामने आ जाते तो हम अपनी चादरें अपने सिरों की ओर से अपने चेहरों पर डाल लेतीं और जब वे गुज़र जाते तो मुँह खोल लेती थीं।''

मुवत्ता इमाम मालिक में है –

> ''फ़ातिमा-बिन्त-मुंज़िर का बयान है कि हम एहराम की हालत में अपने चेहरों पर कपड़ा डाल लिया करती थीं। हमारे साथ हज़रत अबू बक्र *(रज़ि.)* की बेटी हज़रत अस्मा थीं। उन्होंने हमको उससे

1. हज (व उमरा) करते समय जो लिबास पहना जाता है उसे 'एहराम' कहते हैं। (प्रकाशक)

मना नहीं किया (यानी उन्होंने यह नहीं कहा कि एहराम की हालत में नक़ाब इस्तेमाल करने की जो रोक है, वह हमारे इस काम पर भी लागू होती है।)"

फ़त्हुल-बारी, किताबुल-हज्ज में हज़रत आइशा *(रज़ि.)* की एक रिवायत है–

"औरत एहराम की हालत में अपनी चादर अपने सिर पर से चेहरे पर लटका लिया करे।"

नक़ाब

जो आदमी क़ुरआनी आयतों के शब्दों और उनकी सर्वमान्य और सर्वसम्मत टीका और नबी *(सल्ल.)* के अमल को देखेगा, उसके लिए इस हक़ीक़त से इंकार की मजाल बाक़ी न रहेगी कि इस्लामी शरीअत में औरत के लिए चेहरे को परायों से छिपाए रखने का हुक्म है, और इसपर ख़ुद नबी *(सल्ल.)* के ज़माने से अमल किया जा रहा है। नक़ाब अगर शाब्दिक रूप से नहीं तो अर्थ और भाव की दृष्टि से ख़ुद क़ुरआन मजीद की निर्धारित की हुई चीज़ है। जिस मुबारक हस्ती पर क़ुरआन उतरा था, उसकी आँखों के सामने मुस्लिम औरतों ने इस चीज़ को अपने घर से बाहर निकलने के पहनावे का हिस्सा बना लिया था और उस ज़माने में भी उस चीज़ का नाम 'नक़ाब' ही था।

जी हाँ ! यह वही 'नक़ाब' (Veil) है जिसको यूरोप अत्यंत बुरी और घिनौनी चीज़ समझता है, जिसकी सिर्फ़ कल्पना ही फ़िरंगी अन्तरात्मा पर भारी बोझ है, जिसको ज़ुल्म, तंग-ख़्याली और जंगलीपन की निशानी क़रार दिया जाता है। हाँ, यह वही चीज़ है जिसका नाम किसी पूर्वी क़ौम की जिहालत और सांस्कृतिक पिछड़ेपन के ज़िक्र में सबसे पहले लिया जाता है, और जब यह बयान करना होता है कि कोई पूर्वी क़ौम संस्कृति और सभ्यता में तरक़्क़ी कर रही है तो सबसे पहले जिस बात का ज़िक्र बड़ी ख़ुशी और उदारता के साथ किया जाता है, वह यही है कि उस क़ौम से 'नक़ाब' विदा हो गया। अब शर्म से सिर झुका लीजिए कि यह चीज़ अर्थात् 'नक़ाब' बाद की ईजाद नहीं, ख़ुद

क़ुरआन ने इसको ईजाद किया है और मुहम्मद *(सल्ल.)* इसको लागू कर गए हैं। मगर सिर्फ़ सिर झुकाने से काम न चलेगा। शुतुर्मुर्ग़ अगर शिकारी को देखकर रेत में सिर छिपा ले तो शिकारी का वुजूद ख़त्म नहीं हो जाता। आप भी अपना सिर झुकाएँगे तो ज़रूर झुक जाएगा, मगर क़ुरआन की आयत न मिटेगी, न ही इतिहास से साबित तथ्य मिट जाएँगे। क़ुरआन के ग़लत अर्थापन से उनपर परदा डालिएगा तो यह 'शर्म का दाग़' और ज़्यादा चमक उठेगा। जब पश्चिम की 'वह्य' पर ईमान लाकर आप उसे 'शर्म का दाग़' मान ही चुके हैं तो उसे दूर करने की अब एक ही शक्ल है, और वह यह है कि उस इस्लाम ही से अपने अलग होने का एलान कर दें जो नक़ाब, घूँघट, चेहरे को छिपाने जैसी 'घिनौनी' चीज़ का हुक्म देता है। आप हैं 'तरक़्क़ी' के चाहनेवाले, आपको चाहिए 'सभ्यता', आपके लिए वह धर्म कैसे पालन करने योग्य बन सकता है जो औरतों को शम्मए-अंजुमन बनने से रोकता हो, हया, परदादारी और पाकदामनी की तालीम देता हो, घर की मालकिन को घरवालों के सिवा हर एक के लिए आँखों की ठंडक बनने से मना करता हो। भला ऐसे मज़हब में 'तरक़्क़ी' कहां? ऐसे मज़हब को 'सभ्यता' से क्या मतलब? 'तरक़्क़ी' और 'सभ्यता' के लिए तो ज़रूरी है कि औरत – नहीं, लेडी साहिबा – बाहर निकलने से पहले दो घंटे तक तमाम कामों से फ़ुर्सत लेकर सिर्फ़ अपनी साज-सज्जा में व्यस्त हो जाएँ। तमाम जिस्म को महकाएँ, रंग और शारीरिक ढाँचे के अनुकूल अति आकर्षक व उत्तेजक पहनावा पहनें। विविध प्रकार के पाउडरों और क्रीमों से चेहरे और बाहों की चमक बढ़ाएँ। होंठों को लिपस्टिक से सजाएँ, भौहों के धनुष को ठीक और आँखों को वाण चलाने के लिए चुस्त कर लें और इन सब करिश्मों से सज-धजकर घर से बाहर निकलें तो शान यह हो कि हर करिश्मा मर्दों के दिल का दामन खींच-खींच कर 'यहाँ है वह जगह' की आवाज़ लगा रहा हो। फिर उससे भी अपने को दिखाने का शौक़ पूरा न हो, तो आईना और शृंगार का समान वैनिटी पर्स में हर समय साथ रहे, ताकि उनसे, थोड़ी-थोड़ी देर बाद, शृंगार-साधनों में आई थोड़ी-सी कमी की भी पूर्ति की जाती रहे।

जैसा कि हम बार-बार कह चुके हैं, इस्लाम और पाश्चात्य सभ्यता के

मक़सदों में बहुत दूरी है और वह आदमी बड़ी ग़लती करता है जो पाश्चात्य दृष्टिकोण से इस्लामी हुक्मों का अर्थापन करता है। पश्चिम में चीज़ों की क़द्र और क़ीमत का जो पैमाना है, इस्लाम का पैमाना बिल्कुल उससे अलग है। पश्चिम जिन चीज़ों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और ज़िंदगी का अभीष्ट समझता है, इस्लाम की निगाह में उनका कोई महत्त्व नहीं, और इस्लाम जिन चीज़ों को महत्व देता है, पश्चिम की निगाह में वे बिल्कुल बे-क़ीमत हैं। अब जो आदमी पश्चिमी पैमाने का क़ायल है उसको तो इस्लाम की हर चीज़ संशोधन के क़ाबिल ही नज़र आएगी। वह इस्लामी हुक्मों का मतलब बताने बैठेगा तो उनको बदल डालेगा और बदलने के बाद भी उनको अपनी ज़िंदगी में किसी तरह लागू न करेगा, क्योंकि क़दम-क़दम पर क़ुरआन व सुन्नत का स्पष्टीकरण उसका रास्ता रोकेगा। ऐसे आदमी को व्यावहारिक तरीक़ों की छोटी-छोटी आंशिक बातों पर नज़र डालने से पहले यह देखना चाहिए कि जिन मक़सदों के लिए इन तरीक़ों को अपनाया गया है, वे ख़ुद कहाँ तक क़बूल करने लायक़ हैं। अगर वह मक़सदों ही से सहमत नहीं है तो मक़सदों के हासिल करने के तरीक़ों पर बहस करने और उन्हें घटाने-बढ़ाने या तोड़ने-मरोड़ने का बेकार कष्ट क्यों उठाए? क्यों न उस मज़हब ही को छोड़ दे जिसके मक़सदों को वह ग़लत समझता है? और अगर वह मक़सदों से सहमत है तो बहस सिर्फ़ इसमें रह जाती है कि इन मक़सदों के लिए जो अमली तरीक़े निर्धारित किए गए हैं, वे मुनासिब हैं या ना-मुनासिब? इस बहस को आसानी से तय किया जा सकता है। लेकिन यह तरीक़ा सिर्फ़ शरीफ़ लोग ही अपना सकते हैं। रहे मुनाफ़िक़ और कपटाचारी लोग, तो वे ख़ुदा की पैदा की हुई मख़लूक़ में सबसे घटिया मख़लूक़ हैं। उनके लिए यही शोभा देता है कि दावा एक चीज़ को मानने का करें और असूल में मानें दूसरी चीज़ को।

नक़ाब और बुर्क़े के मसले में जितनी बहसें भी की जा रही हैं वे असूल में इसी दोरुख़े रवैये पर टिकी हुई हैं। एड़ी से चोटी तक का ज़ोर यह साबित करने में लगा दिया गया है कि परदे की यह शक्ल इस्लाम से पहले की क़ौमों में प्रचलित थी और जाहिलियत की यह मीरास नबी *(सल्ल.)* के ज़माने के बहुत दिनों बाद मुसलमानों में बाँटी गई। क़ुरआन की एक खुली आयत और नबी

(सल्ल.) के दौर के साबितशुदा अमल और सहाबा और ताबिईन की व्याख्याओं के मुक़ाबले में ऐतिहासिक खोजों का यह कष्ट आख़िर क्यों उठाया गया? सिर्फ़ इस लिए कि ज़िंदगी के वे मक़सद नज़रों में थे और हैं जो 'पश्चिम' में लोकप्रिय हैं। 'तरक़्क़ी' और 'तहज़ीब' के वे विचार मन में बैठ गए हैं जो पश्चिमवालों से नक़ल किए गए हैं। चूंकि बुर्क़ा ओढ़ना और नक़ाब डालना उन मक़्सदों के ख़िलाफ़ है और उन धारणाओं से किसी तरह मेल नहीं खाता। इसलिए ऐतिहासिक खोजों के बल पर उस चीज़ को मिटाने की कोशिश की गई जो इस्लाम के क़ानून की किताब में दर्ज है। यह स्पष्ट निफ़ाक़ और कपटाचार का रोग जो बहुत-से मसलों की तरह इस मसले में भी सामने आया है, इसकी अस्ल वजह वही बे-उसूली, अक़्ल का खोट और नैतिक साहस की कमी है, जिसका हमने ऊपर ज़िक्र किया है। अगर ऐसा न होता तो इस्लाम की पैरवी का दावा करने के बावुजूद क़ुरआन के मुक़ाबले में इतिहास को लाकर खड़ा करने का विचार भी उनके मन में न आता। या तो ये अपने मक़्सदों को इस्लाम के मक़्सदों से बदल डालते (अगर मुसलमान रहना चाहते) या एलानिया उस मज़हब से अलग हो जाते जो उनके तरक़्क़ी के मेयार के हिसाब से तरक़्क़ी में बाधक है।

जो व्यक्ति इस्लामी क़ानून के मक़्सदों को समझता है और उसके साथ कुछ सामान्य बुद्धि (Common Sense) भी रखता है, उसके लिए यह समझना कुछ भी मुश्किल नहीं कि औरतों को खुले चेहरे के साथ बाहर फिरने की आम इजाज़त देना उन मक़्सदों के बिल्कुल ख़िलाफ़ है जिनको इस्लाम इतनी अहमियत दे रहा है। एक इंसान को दूसरे इंसान की जो चीज़ सबसे ज़्यादा प्रभावित करती है, वह उसका चेहरा ही तो है। इंसान की स्वाभाविक और पैदाइशी ज़ीनत या दूसरे शब्दों में इंसानी हुस्न को सबसे ज़्यादा ज़ाहिर करने वाली चीज़ चेहरा ही है। निगाहों को सबसे ज़्यादा वही खींचता है, भावनाओं को सबसे ज़्यादा वही अपील करता है। यौनाकर्षण का सबसे ज़्यादा ताक़तवर एजेंट वही है। इस बात को समझने के लिए मनोविज्ञान के किसी गहरे ज्ञान की भी ज़रूरत नहीं, ख़ुद अपने दिल को टटोलिए, अपनी आँखों से फ़तवा लीजिए, अपने मन के तजुर्बों का जायज़ा लेकर देखिए। छल-कपट की बात तो

दूसरी है। मुनाफ़िक़ अगर सूरज के वुजूद को भी अपने मक़सद के ख़िलाफ़ देखेगा तो दिन-दहाड़े कह देगा कि सूरज मौजूद नहीं। अलबत्ता सच्चाई से काम लीजिएगा तो आपको मानना पड़ेगा कि यौन-प्रेरणा (Sex appeal) में जिस्म की सारी ज़ीनतों में सबसे ज़्यादा हिस्सा उस फ़ितरी ज़ीनत का है जो अल्लाह ने चेहरे की बनावट में रखी है। अगर आपको किसी लड़की से शादी करनी हो और आप उसे देखकर आख़िरी फ़ैसला करना चाहते हों तो सच बताइए कि क्या देखकर आप फ़ैसला करेंगे ? एक तरीक़ा उसके देखने का यह हो सकता है कि चेहरे के सिवा वह पूरी की पूरी आपके सामने हो। दूसरा यह हो सकता है कि एक झरोखे में से वह सिर्फ़ अपना चेहरा दिखा दे। बताइए कि दोनों तरीक़ों में से कौन से तरीक़े को आप तरजीह देंगे ? सच बताइए क्या सारे जिस्म के मुक़ाबले में चेहरे का हुस्न आपकी निगाह में सबसे अहम नहीं है ?

इस सच्चाई को मान लेने के बाद आगे बढ़िए। अगर समाज में यौन-विकार और विघटित उत्तेजनाओं को रोकना मक़सद ही न हो तब तो चेहरा क्या मतलब, सीना, बाज़ू, पिंडलियाँ और रानें सभी कुछ खोल देने की आज़ादी होनी चाहिए, जैसी कि इस वक़्त पाश्चात्य सभ्यता में है। इस स्थिति में उन हदों और क़ैदों की कोई ज़रूरत ही नहीं जो परदे के इस्लामी क़ानून के सिलसिले में आप ऊपर से देखते चले आ रहे हैं। लेकिन अगर अस्ल मक़सद इसी तूफ़ान को रोकना हो तो इससे ज़्यादा हिक्मत के ख़िलाफ़ और क्या बात हो सकती है कि उसको रोकने के लिए छोटे-छोटे दरवाज़ों पर तो कुंडियाँ चढ़ाई जाएँ और सबसे बड़े दरवाज़े को चौपट खुला छोड़ दिया जाए।

अब आप सवाल कर सकते हैं कि जब ऐसा है तो इस्लाम ने अनिवार्य ज़रूरतों पर चेहरा खोलने की इजाज़त क्यों दी, जैसा कि पहले तुम ख़ुद बयान कर चुके हो ? इसका जवाब यह है कि इस्लाम का क़ानून कोई असन्तुलित और एकतरफ़ा क़ानून नहीं है। वह एक ओर नैतिक मस्लहतों का ख़्याल करता है तो दूसरी ओर इंसान की वास्तविक ज़रूरतों का भी ध्यान रखता है, और इन दोनों के बीच उसने उच्च कोटि का बेहतरीन सन्तुलन क़ायम किया है। वह अख़लाक़ी फ़ितनों का दरवाज़ा भी बन्द करना चाहता है और उसके साथ किसी इंसान पर ऐसी पाबन्दियाँ भी लगाना नहीं चाहता जिनकी वजह से वह

अपनी असली ज़रूरतों को पूरा न कर सके। यही वजह है कि उसने औरत के लिए चेहरे और हाथ के बारे में वैसे क़तई हुक्म नहीं दिए, जैसे सत्र छिपाने और ज़ीनत छिपाने के बारे में दिए हैं, क्योंकि सत्र छिपाने और ज़ीनत छिपाने से ज़िंदगी की ज़रूरतें पूरी करने में औरत को कोई कठिनाई नहीं होती, मगर चेहरे और हाथों को हमेशा छिपाए रहने से औरतों को अपनी ज़रूरतों में बड़ी कठिनाई पेश आ सकती है। अतः औरतों के लिए आम क़ायदा यह तय किया गया कि चेहरे पर नक़ाब या घूँघट डाले रहें और इस क़ायदे में 'इल्ला मा ज़-हर मिन्हा' (अलावा उसके जो ज़ाहिर हो) की छूट से यह आसानी पैदा कर दी गई कि अगर वास्तव में चेहरा खोलने की ज़रूरत पेश आ जाए, तो वह उसको खोल सकती है, बशर्ते कि हुस्न की नुमाइश नहीं, बल्कि ज़रूरत पूरी करना मक़सद हो।

फिर दूसरी ओर से फ़ितना पैदा करने के जो ख़तरे थे उनकी रोक इस तरह की गई कि मर्दों को निगाह नीची रखने का हुक्म दे दिया गया, ताकि अगर कोई पाकदामन औरत अपनी ज़रूरतों के लिए चेहरा खोले तो वे अपनी नज़रें नीची कर लें और बेहूदगी के साथ उसको घूरने से बचे रहें।

परदा करने के इन हुक्मों पर आप विचार करेंगे तो आपको मालूम हो जाएगा कि इस्लामी परदा कोई जाहिली रस्म नहीं, बल्कि एक बौद्धिक क़ानून है। जाहिली रस्म जड़ता लिए एक बे-लचक चीज़ होती है। जो तरीक़ा जिस शक्ल में चल पड़ा, किसी हाल में उसके भीतर तब्दीली नहीं की जा सकती। जो चीज़ छिपा दी गई वह बस हमेशा के लिए छिपा दी गई। अब मरते मर जाएँ मगर उसका खुलना असंभव। इसके विपरीत बौद्धिक क़ानून में लचक होती है, उसमें हालात के हिसाब से बेशी या कमी की गुंजाइश होती है। मौक़े को देखकर उसके आम क़ानूनों में छूट की शक्लें रखी जाती हैं। ऐसे क़ानून की पैरवी अंधों की तरह नहीं की जा सकती। इसके लिए अक़्ल और सूझ-बूझ की ज़रूरत है। सूझ-बूझ रखनेवाला अनुयायी ख़ुद फ़ैसला कर सकता है कि कहाँ उसको आम क़ायदे की पैरवी करनी चाहिए और कहाँ क़ानून की दृष्टि से, 'वास्तविक ज़रूरत' के अंतर्गत छूट से फ़ायदा उठाना ज़रूरी है। फिर वह ख़ुद ही यह राय भी क़ायम कर सकता है कि किसी मौक़े पर छूट से किस हद तक

फ़ायदा उठाया जाए और फ़ायदा उठाने की शक्ल में क़ानून के मक़सद को किस तरह ध्यान में रखा जाए। इन तमाम मामलों में असूल में, एक नेकनीयत मोमिन का दिल ही सच्चा मुफ़्ती बन सकता है, जैसा कि नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "अपने दिल से फ़तवा माँगो।" और "जो चीज़ दिल में खटके उसे छोड़ दो।" यही वजह है कि इस्लाम की सही पैरवी जिहालत और ना-समझी के साथ नहीं हो सकती। यह बौद्धिक क़ानून है और इसकी पैरवी के लिए क़दम-क़दम पर चेतना और समझ की ज़रूरत है।

—•—

बाहर निकलने के नियम

लिबास और सत्र (छिपाने के लायक़ अंग) की हदें निर्धारित करने के बाद आख़िरी हुक्म जो औरतों को दिया गया है, वह यह है–

> "और अपने घरों में टिककर बैठी रहो और जाहिलियत के ज़माने जैसे बनाव-सिंगार न दिखाती फिरो।" (क़ुरआन, 33:33)
>
> "वे अपने पाँव ज़मीन पर इस तरह मारती हुई न चलें कि जो ज़ीनत उन्होंने छिपा रखी है, वह लोगों को मालूम हो जाए।" (क़ुरआन, 24:31)
>
> "दबी ज़बान से बात न करो कि जिस आदमी के दिल में रोग हो, वह लालसा में पड़ जाए।" (क़ुरआन, 33:32)

पहली आयत में शब्द 'व-क़र्न' (बैठी रहो) का एक मतलब यह है कि 'अपने घरों में ठहरी रहो' या 'जमी बैठी रहो'। एक दूसरा अर्थ यह भी है कि 'अपने घरों में गौरव और चैन के साथ रहो।'

इसी आयत के मूल अरबी शब्द 'तबर्रुज' के भी दो मतलब हैं – एक, ज़ीनत और ख़ूबसूरती का ज़ाहिर करना। दूसरे, चलने में नाज़ व अन्दाज़ दिखाना, अकड़ते हुए चलना, इठलाना, लचके खाना, शरीर को झटके देना, ऐसी चाल चलना जिसमें एक अदा पाई जाती हो। आयत में ये दोनों मतलब मुराद हैं। पुरानी जाहिलियत में औरतें ख़ूब बन-सँवर कर निकलती थीं, जिस तरह नए दौर की जाहिलियत में निकल रही हैं, फिर चाल भी जान-बूझकर ऐसी अपनाई जाती थी कि हर क़दम ज़मीन पर नहीं, बल्कि देखनेवालों के दिलों पर पड़े।

इस स्थिति को समझने के लिए किसी ऐतिहासिक बयान की ज़रूरत नहीं। किसी ऐसे समाज में तशरीफ़ ले जाइए जहाँ पश्चिमी तौर-तरीक़े की औरतें तशरीफ़ लाती हों, पुरानी जाहिलियत की इठलानेवाली चाल आप ख़ुद अपनी

आँखों से देख लेंगे। इस्लाम इसी से मना करता है। वह कहता है कि सर्वप्रथम तो तुम्हारे रहने की सही जगह तुम्हारा घर है। घर से बाहर की ज़िम्मेदारियों से तुम को इसी लिए अलग रखा गया है कि तुम सुकून व गौरव के साथ अपने घरों में रहो और घरेलू ज़िंदगी की ज़िम्मेदारियाँ निभाओ, फिर भी अगर ज़रूरत पेश आए तो घर से बाहर निकलना भी तुम्हारे लिए जायज़ है, लेकिन निकलते वक़्त पूरी पाकदामनी ध्यान में रखो। न तुम्हारे पहनावे में कोई शान और भड़क होनी चाहिए कि नज़रों को तुम्हारी ओर खींचे, न हुस्न ज़ाहिर करने के लिए तुम में कोई बेताबी होनी चाहिए कि चलते-चलते कभी चेहरे की झलक दिखाओ और कभी हाथों की नुमाइश करो, न चाल में कोई ख़ास अदा पैदा करनी चाहिए कि निगाहों को अपने आप तुम्हारी ओर मुतवज्जह कर दे। ऐसे ज़ेवर भी पहनकर न निकलो जिनकी झंकार परायों के कानों में रस घोले। जान-बूझ कर लोगों को सुनाने के लिए आवाज़ न निकालो। हाँ, अगर बोलने की ज़रूरत पेश आए, तो बोलो, मगर रस भरी आवाज़ निकालने की कोशिश मत करो। इन क़ायदों और हदों का ध्यान रखकर अपनी ज़रूरतों के लिए तुम घर से बाहर निकल सकती हो।

यह है क़ुरआन की शिक्षा। आइए, अब हदीस पर नज़र डालकर देखें कि नबी *(सल्ल.)* ने इस शिक्षा के मुताबिक़ समाज में औरतों के लिए क्या तरीक़े मुक़र्रर फ़रमाए थे, और सहाबा किराम (रज़ि.) और उनकी औरतों ने उनपर किस तरह अमल किया?

ज़रूरतों के लिए घर से निकलने की इजाज़त

हदीस में है कि परदे के हुक्मों के उतरने से पहले हज़रत उमर *(रज़ि.)* का तक़ाज़ा था कि ऐ अल्लाह के रसूल! अपनी औरतों को परदा कराइये। एक बार उम्मुल-मोमिनीन हज़रत सौदा-बिन्त-ज़मआ *(रज़ि.)* रात के वक़्त बाहर निकलीं, तो हज़रत उमर *(रज़ि.)* ने उनको देख लिया और पुकारकर कहा कि सौदा! हमने तुमको पहचान लिया। इससे उनका मक़सद यह था कि किसी तरह औरतों का घरों से निकलना बन्द हो जाए। उसके बाद जब परदे के हुक्म उतरे, तो हज़रत उमर *(रज़ि.)* के मन की मुराद पूरी हो गई। उन्होंने औरतों के बाहर

निकलने पर ज़्यादा रोक-टोक शुरू कर दी। एक बार फिर हज़रत सौदा *(रज़ि.)* के साथ वही स्थिति पैदा हुई। वे घर से निकलीं और हज़रत उमर *(रज़ि.)* ने उनको टोका। उन्होंने प्यारे नबी *(सल्ल.)* से शिकायत की। नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया –

> "अल्लाह ने तुमको अपनी ज़रूरतों के लिए बाहर निकलने की इजाज़त दी है।"[1]

इससे मालूम हुआ कि 'व क़र्-न फ़ी बुयूतिकुन-न' (घरों में ठहरी रहो) के क़ुरआनी हुक्म का मंशा यह नहीं है कि औरतें घर की हदों से क़दम कभी बाहर ही न निकालें। ज़रूरतों के लिए उन्हें बाहर निकलने की पूरी इजाज़त है, मगर यह इजाज़त न बिना शर्त है, न असीमित। औरतों को इसकी इजाज़त नहीं है कि आज़ादी के साथ जहाँ चाहें फिरें और मर्दों की भीड़ में घुल-मिल जाएँ। ज़रूरत से शरीअत की मुराद ऐसी वाक़ई ज़रूरतें हैं जिनमें वास्तव में निकलना और बाहर का काम करना औरतों के लिए अनिवार्य हो। अब यह ज़ाहिर है कि तमाम औरतों के लिए तमाम ज़मानों में निकलने और न निकलने की एक-एक शक्ल बयान करना और हर-हर मौक़े के लिए छूट की अलग-अलग हदें मुक़र्रर कर देना मुमकिन नहीं है। अलबत्ता इस्लाम ने ज़िंदगी के आम हालात में औरतों के निकलने के जो क़ायदे मुक़र्रर किए थे और परदे की हदों में जिस तरह कमी व बेशी की थी, उससे इस्लामी क़ानून की स्प्रिट और उसके रुझानों का अन्दाज़ा किया जा सकता है और उसको समझकर व्यक्तिगत हालतों और छोटे-छोटे मामलों में परदे की हदों और मौक़ों के हिसाब से उनकी कमी व बेशी के उसूल हर व्यक्ति ख़ुद मालूम कर सकता है। इसे स्पष्ट करने के लिए हम मिसाल के तौर पर कुछ मसअले बयान करते हैं :

मस्जिद में आने की इजाज़त और उसकी हदें

यह मालूम है कि इस्लाम में सबसे अहम फ़र्ज़ नमाज़ है और नमाज़ में मस्जिद में हाज़िर होने और जमाअत में शामिल होने को बड़ी अहमियत दी गई

---

1. यह बहुत-सी हदीसों का ख़ुलासा है, देखिए मुस्लिम और बुख़ारी वग़ैरह।

है। मगर जमाअत के साथ नमाज़ पढ़ने के बारे में जो हुक्म मर्दों के लिए हैं, उनके बिल्कुल विपरीत हुक्म औरतों के लिए हैं मर्दों के लिए वह नमाज़ श्रेष्ठ है जो मस्जिद में जमाअत के साथ हो और औरतों के लिए वह नमाज़ श्रेष्ठ है जो घर में एकांत हालत में पढ़ी जाए। इमाम अहमद और तबरानी (रह.)ने उम्मे-हुमैद साइदीया *(रज़ि.)* की यह हदीस बयान की है कि –

> उन्होंने अर्ज़ किया, "ऐ अल्लाह के रसूल! मेरा जी चाहता है कि आपके साथ नमाज़ पढ़ूँ।" नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "मुझे मालूम है, मगर तेरा अपने घर के एक कोने में नमाज़ पढ़ना इससे बेहतर है कि तू अपने कमरे में नमाज़ पढ़े और कमरे में नमाज़ पढ़नां इससे बेहतर है कि तू अपने घर के दालान में नमाज़ पढ़े, और तेरा दालान में नमाज़ पढ़ना इससे बेहतर है कि तू अपने मुहल्ले की मस्जिद में नमाज़ पढ़े, और तेरा अपने मुहल्ले की मस्जिद में नमाज़ पढ़ना इससे बेहतर है कि जामा मस्जिद में नमाज़ पढ़े।"[1]

इसी विषय की हदीस अबू दाऊद में हज़रत इब्ने-मसऊद *(रज़ि.)* से बयान

---

1. औरत को इस क़द्र तनहाई में नमाज़ पढ़ने की हिदायत जिस मस्लहत से दी गई है, उसको ख़ुद औरतें ज़्यादा बेहतर समझ सकती हैं। महीने में कुछ दिन ऐसे आते हैं जिनमें औरत को मजबूर होकर नमाज़ छोड़नी पड़ती है और इस तरह वह बात ज़ाहिर हो जाती है जिसे कोई हयादार औरत अपने भाई-बहनों पर भी ज़ाहिर करना पसन्द नहीं करती। बहुत-सी औरतें इसी शर्म की वजह से नमाज़ छोड़नेवाली बन जाती हैं। नबी (सल्ल.) ने इस बात को महसूस करके हिदायत फ़रमाई कि छिपकर अकेले में एक कोने में नमाज़ पढ़ा करो, ताकि किसी को यह मालूम ही न हो कि तुम कब नमाज़ पढ़ती हो और कब छोड देती हो। मगर यह सिर्फ़ हिदायत है, ताकीद और हुक्म नहीं है। औरतें घर में अपनी अलग जमाअत कर सकती हैं और औरत उनकी इमामत कर सकती है। उम्मे-वरक़ा-बिन्त-नौफ़ल *(रज़ि.)* को नबी *(सल्ल.)* ने इजाज़त दी थी कि औरतों की इमामत करें (हदीस : अबू दाऊद)। दार-क़ुत्नी और बैहक़ी की रिवायत है कि हज़रत आइशा *(रज़ि.)* ने औरतों की इमामत की और लाइन के बीच में खड़े होकर नमाज़ पढ़ाई। इससे यह मस्अला मालूम होता है कि औरत जब औरतों की जमाअत को नमाज़ पढ़ाए तो उसे मर्द इमाम की तरह सफ़ के आगे नहीं, बल्कि सफ़ के दर्मियान में खड़ा होना चाहिए।

की गई है, जिसमें नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया –

> "औरत का अपनी कोठरी में नमाज़ पढ़ना इससे बेहतर है कि वह अपने कमरे में नमाज़ पढ़े और उसका अपने चोरख़ाने (स्टोर रूम) में नमाज़ पढ़ना इससे बेहतर है कि वह अपनी कोठरी में नमाज़ पढ़े।"

देखिए, यहाँ तर्तीब बिल्कुल उलट गई है। मर्द के लिए सबसे छोटे दर्जे की नमाज़ यह है कि वह अकेले एक कोने में नमाज़ पढ़े और सबसे श्रेष्ठ यह कि वह बड़ी से बड़ी जमाअत में शरीक हो, मगर औरत के लिए इसके विपरीत अत्यधिक तंहाई की नमाज़ में श्रेष्ठता है और इस ख़ुफ़िया नमाज़ को न सिर्फ़ जमाअत के साथ की नमाज़ पर तर्जीह दी गई है, बल्कि उस नमाज़ से भी श्रेष्ठ कहा गया है जिससे बढ़कर कोई नेमत मुसलमान के लिए हो ही नहीं सकती थी, यानी मस्जिदे-नबवी की जमाअत, जिसके इमाम ख़ुद इमामुल-अंबिया मुहम्मद *(सल्ल.)* थे।[1] आख़िर यह फ़र्क़ और अन्तर करने की वजह क्या है ? यही ना कि नबी *(सल्ल.)* ने औरत के बाहर निकलने को पसन्द नहीं किया और जमाअत में मर्दों और औरतों के ख़लत-मलत होने को रोकना चाहा।

मगर नमाज़ एक मुक़द्दस इबादत है और मस्जिद एक पाक जगह है। नबी *(सल्ल.)* ने हिक्मत से काम लेते हुए मर्दों और औरतों के मेल-जोल को रोकने के लिए अपनी मंशा को तो श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता में फ़र्क़ करके ज़ाहिर कर दिया, मगर ऐसे पाकीज़ा काम के लिए ऐसी पाक जगह आने से औरतों को मना नहीं किया। हदीस में यह इजाज़त जिन शब्दों के साथ आई है उससे नबी *(सल्ल.)* की बे-मिसाल हिक्मत ही की शान प्रकट होती है, फ़रमाया –

> "ख़ुदा की बंदियों को ख़ुदा की मस्जिद में आने से मना न करो। जब तुममें से किसी की बीवी मस्जिद जाने की इजाज़त माँगे, तो वह उसको मना न करे।" (हदीस : बुख़ारी, मुस्लिम)

---

1. हज़रत उम्मे-हुमैद सादीया *(रज़ि.)* ने नबी *(सल्ल.)* के साथ नमाज़ पढ़ने की ख़ाहिश ज़ाहिर की थी और नबी *(सल्ल.)* मस्जिदे-नबवी में जमाअत को नमाज़ पढ़ाते थे। (प्रकाशक)

"अपनी औरतों को मस्जिदों से न रोको। मगर उनके घर उनके लिए ज़्यादा बेहतर हैं।" (हदीस : अबू दाऊद)

ये शब्द ख़ुद ज़ाहिर कर रहे हैं कि नबी *(सल्ल.)* औरतों को मस्जिद में जाने से रोकते तो नहीं हैं, क्योंकि मस्जिद में नमाज़ के लिए जाना कोई बुरा काम नहीं जिसको नाजायज़ क़रार दिया जा सके, मगर मस्लहतें इसका भी तक़ाज़ा नहीं करतीं कि मस्जिदों में मर्दों और औरतों की जमाअत ख़लत-मलत हो जाए। इसलिए उनको आने की इजाज़त तो दे दी, मगर यह नहीं फ़रमाया कि अपनी औरतों को मस्जिदों में भेजो या अपने साथ लाया करो, बल्कि सिर्फ़ यह कहा कि अगर वे उत्तम नमाज़ को छोड़कर मामूली दर्जे की नमाज़ पढ़ने के लिए मस्जिद में आना ही चाहें और इजाज़त माँगें तो मना न करो। हज़रत उमर *(रज़ि.)* जो इस्लामी रूह के बड़े ज्ञाता थे, नबी *(सल्ल.)* की इस हिक्मत को ख़ूब समझते थे। अतः हदीस की किताब मुवत्ता में ज़िक्र किया गया है कि उनकी बीवी आतिका-बिन्त-ज़ैद से हमेशा इस मामले में उनका संघर्ष रहा करता था। हज़रत उमर *(रज़ि.)* नहीं चाहते थे कि वे मस्जिद में जाएँ, मगर उन्हें जाने पर ज़िद थी। वे इजाज़त माँगतीं तो आप ठीक-ठीक नबी *(सल्ल.)* के हुक्म पर अमल करके बस ख़ामोश हो जाते। मतलब यह है कि हम तुम्हें रोकते नहीं हैं, मगर साफ़-साफ़ इजाज़त भी न देंगे। वह भी अपनी धुन की पक्की थीं, कहा करती थीं कि ख़ुदा की क़सम! मैं जाती रहूँगी जब तक कि आप स्पष्ट शब्दों में मना नहीं करेंगे।[1]

मस्जिद में आने की शर्तें

मस्जिद में हाज़िरी की इजाज़त देने के साथ कुछ शर्तें भी मुक़र्रर कर दी गईं। उनमें से पहली शर्त यह है कि दिन के वक़्तों में मस्जिद न जाएँ, बल्कि सिर्फ़ उन नमाज़ों में शरीक हों, जो अंधेरे में पढ़ी जाती हैं, यानी इशा और फ़ज्र।

हज़रत इब्ने-उमर *(रज़ि.)* से रिवायत है कि नबी *(सल्ल.)* ने

1. यह हाल सिर्फ़ उमर *(रज़ि.)* ही की बीवी का न था, बल्कि नबी *(सल्ल.)* के ज़माने में बहुत-सी औरतें जमाअत से नमाज़ पढ़ने के लिए मस्जिद जाया करती थीं। अबू दाऊद में है कि मस्जिदे-नबवी में कभी-कभी औरतों की दो-दो सफ़ें (पंक्तियाँ)हो जाती थीं।

फ़रमाया, "औरतों को रात के वक़्त मस्जिदों में आने दो।"

(हदीस : तिर्मिज़ी, बुख़ारी)

"हज़रत इब्ने-उमर *(रज़ि.)* के ख़ास शागिर्द हज़रत नाफ़ेअ *(रज़ि.)* कहते हैं कि रात को ख़ास इसलिए किया कि रात के अंधेरे में अच्छी तरह परदादारी हो सकती है।"

"हज़रत आइशा *(रज़ि.)* फ़रमाती हैं कि अल्लाह के रसूल (सल्ल.) सुबह की नमाज़ ऐसे वक़्त पढ़ते थे कि जब औरतें नमाज़ के बाद अपनी ओढ़नियों में लिपटी हुई मस्जिद से पलटतीं तो अंधेरे की वजह से पहचानी न जाती थीं।"[1] (हदीस : तिर्मिज़ी)

दूसरी शर्त यह है कि मस्जिद में ज़ीनत के साथ न आएँ और ख़ुश्बू लगाकर न आएँ। हज़रत आइशा *(रज़ि.)* फ़रमाती हैं कि एक बार नबी *(सल्ल.)* मस्जिद में थे कि मुज़ैना क़बीले की एक बहुत बनी-सँवरी हुई औरत बड़े नाज़ व अदा के साथ मस्जिद में आई। नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "लोगो! अपनी औरतों को ज़ीनत और नाज़ व अदा के साथ मस्जिद में आने से रोको।" (हदीस : इब्ने-माजा) ख़ुश्बू के बारे में फ़रमाया कि जिस रात तुमको नमाज़ में शरीक होना हो, उस रात को किसी क़िस्म का इत्र लगाकर न आओ, न बुख़ूर इस्तेमाल करो। बिल्कुल सादा कपड़ों में आओ। जो औरत ख़ुश्बू लगाकर आएगी, उसकी नमाज़ न होगी।

(हदीस : मुवत्ता इमाम मालिक, मुस्लिम, इब्ने माजा)

तीसरी शर्त यह है कि औरतें जमाअत में मर्दों के साथ घुलें-मिलें नहीं और न आगे की सफ़ों में आएँ। उन्हें मर्दों के पीछे खड़ा होना चाहिए। फ़रमाया– "मर्दों के लिए बेहतरीन जगह आगे की सफ़ों में है और सबसे बुरी जगह पीछे की सफ़ों में, और औरतों के लिए सबसे बेहतर जगह पीछे की सफ़ों

1. इसी विषय की हदीसें, बुख़ारी, मुस्लिम, अबू दाऊद और हदीस की दूसरी किताबों में भी रिवायत की गई हैं। इसके साथ हदीस की किताब में यह भी मौजूद है कि नमाज़ पढ़ाने के बाद नबी *(सल्ल.)* और तमाम मर्द नमाज़ी बैठे रहते थे, ताकि औरतें उठकर चली जाएँ, उसके बाद आप (सल्ल.) और सब लोग खड़े हो जाते।

में है और सब से बुरी जगह आगे की सफ़ों में।"

जमाअत के बारे में नबी *(सल्ल.)* ने यह क़ायदा मुक़र्रर कर दिया था कि औरत और मर्द पास-पास खड़े होकर नमाज़ न पढ़ें, चाहे वे शौहर और बीवी या माँ और बेटे ही क्यों न हों। हज़रत अनस *(रज़ि.)* का बयान है कि मेरी नानी मुलैका *(रज़ि.)* ने नबी *(सल्ल.)* की दावत की। खाने के बाद आप *(सल्ल.)* नमाज़ के लिए उठे। मैं और यतीम (यह शायद हज़रत अनस *(रज़ि.)* के भाई का नाम था) नबी *(सल्ल.)* के पीछे खड़े हुए और मुलैका हमारे पीछे खड़ी हुईं। (हदीस : तिर्मिज़ी) हज़रत अनस *(रज़ि.)* की दूसरी रिवायत है कि नबी *(सल्ल.)* ने हमारे घर में नमाज़ पढ़ी। मैं और यतीम आप *(सल्ल.)* के पीछे खड़े हुए और मेरी माँ उम्मे-सुलैम मेरे पीछे खड़ी हुईं। (हदीस : बुख़ारी)

हज़रत इब्ने-अब्बास *(रज़ि.)* की रिवायत है कि एक बार नबी *(सल्ल.)* नमाज़ के लिए उठे। मैं आप *(सल्ल.)* के पहलू में खड़ा हुआ और हज़रत आइशा *(रज़ि.)* हमारे पीछे खड़ी हुईं। (हदीस : नसई)

चौथी शर्त यह है कि औरतें नमाज़ में आवाज़ बुलन्द न करें। नियम यह बनाया गया कि अगर नमाज़ में इमाम को किसी चीज़ पर ध्यान दिलाना हो, तो मर्द सुब्हानल्लाह कहें और औरतें दस्तक दें। (हदीस : बुख़ारी)

इन तमाम हदों और पाबंदियों के बावुजूद जब हज़रत उमर *(रज़ि.)* को अपने शासन-काल में जमाअत में मर्दों और औरतों के मेल-जोल का डर हुआ तो उन्होंने मस्जिद में औरतों के लिए एक दरवाज़ा ख़ास कर दिया और मर्दों को उस दरवाज़े से आने-जाने से रोक दिया। (हदीस : अबू दाऊद)

हज में औरतों का तरीक़ा

इस्लाम का दूसरा सामूहिक फ़र्ज़ हज है। यह मर्दों की तरह औरतों पर भी फ़र्ज़ है, मगर मुमकिन हद तक औरतों को तवाफ़ के मौक़े पर मर्दों के साथ मिलने-जुलने से रोका गया है। बुख़ारी में अता *(रज़ि.)* से रिवायत है कि नबी *(सल्ल.)* के ज़माने में औरतें मर्दों के साथ तवाफ़ करती थीं, मगर घुलती-मिलती नहीं थीं। (हदीस : बुख़ारी) फ़त्हुल-बारी में इबराहीम नख़ई (रह.) से

रिवायत है कि हज़रत उमर *(रज़ि.)* ने तवाफ़ में औरतों और मर्दों को गड्ड-मड्ड होने से रोक दिया था। एक बार एक मर्द को उन्होंने औरतों के समूह में देखा, तो पकड़कर कोड़े लगाए। (फ़त्हुल-बारी, भाग 3, पृ. 312)

मुवत्ता में है कि हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-उमर *(रज़ि.)* अपने बाल-बच्चों को मुज़दल्फ़ा से मिना आगे रवाना कर दिया करते थे, ताकि लोगों के आने से पहले सुबह की नमाज़ और रमी से फ़ारिग़ हो जाएँ। साथ ही हज़रत अबू बक्र *(रज़ि.)* की पुत्री हज़रत अस्मा *(रज़ि.)* सुबह अँधेरे-मुँह मिना तशरीफ़ ले जाती थीं कि नबी *(सल्ल.)* के ज़माने में औरतों के लिए यही चलन था।

(हदीस : मुवत्ता)

जुमा और दोनों ईदों की नमाज़ों में औरतों का शरीक होना

जुमा और दोनों ईदों की नमाज़ों के इज्तिमाअ़ (जन-सभा) इस्लाम में जैसी अहमियत रखते हैं, बयान की ज़रूरत नहीं है। इनकी अहमियत ही को नज़र में रखकर नबी *(सल्ल.)* ने ख़ास तौर पर इन सभाओं के लिए वह शर्त समाप्त कर दी जो आम नमाज़ों के लिए थी, यानी यह कि दिन में जमाअत के साथ शरीक न हों। यद्यपि जुमे के बारे में यह स्पष्ट किया गया है कि औरतों पर जुमे की नमाज़ फ़र्ज़ नहीं। (हदीस : अबू दाऊद)। दोनों ईदों की नमाज़ों में भी औरतों की शिर्कत ज़रूरी नहीं, लेकिन अगर वे चाहें तो जमाअत के साथ नमाज़ की दूसरी शर्तों की पाबन्दी करते हुए इन सामूहिक नमाज़ों में शरीक हो सकती हैं। हदीस से साबित है कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ख़ुद अपनी औरतों को ईद की नमाज़ों में ले जाते थे।

> "उम्मे अतीया *(रज़ि.)* की रिवायत है की अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* कुँवारी और जवान लड़कियों, घर-गृहस्थिनियों और माहवारी वाली औरतों को दोनों ईदों की नमाज़ों में ले जाते थे। जो औरतें नमाज़ के क़ाबिल न होतीं, वे जमाअत से अलग रहतीं और (नमाज़ के बाद होनेवाली) दुआ में शरीक हो जाती थीं।" (हदीस : तिर्मिज़ी)
>
> 'इब्ने-अब्बास *(रज़ि.)* की रिवायत है कि नबी *(सल्ल.)* अपनी

बेटियों और बीवियों को दोनों ईदों की नमाज़ों में ले जाते थे।'

(हदीस : इब्ने-माजा)

क़ब्रों की ज़ियारत और जनाज़ों में शरीक होना

मुसलमान के जनाज़े में शरीक होना शरीअत में फ़र्ज़े-किफ़ाया[1] क़रार दिया गया है और उसके बारे में जो ताकीदी हुक्म हैं, जानकार उनसे अनभिज्ञ नहीं, मगर ये सब मर्दों के लिए हैं। औरतों को जनाज़ों में शरीक होने से मना किया गया है। यद्यपि इस प्रतिबन्ध में सख़्ती नहीं है और कभी-कभी इजाज़त भी दी गई है, लेकिन नबी *(सल्ल.)* के कथनों से साफ़ मालूम होता है कि औरतों का जनाज़े में जाना कराहत से ख़ाली नहीं। बुख़ारी में उम्मे-अतीया *(रज़ि.)* की हदीस है कि "हमको जनाज़ों के साथ चलने से मना किया गया था, मगर सख़्ती के साथ नहीं।"

(हदीस : बुख़ारी)

इब्ने-माजा और नसई में रिवायत है कि अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* एक जनाज़े में शरीक थे। एक औरत नज़र आई। हज़रत उमर (रज़ि.) ने उसको डाँटा। नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "ऐ उमर! इसे छोड़ दो!" मालूम होता है कि वह औरत मैयत की कोई क़रीबी रिश्तेदार होगी। ग़म की ज़्यादती से मजबूर होकर साथ चली आई होगी। नबी *(सल्ल.)* ने उसकी भावनाओं की रिआयत करके हज़रत उमर *(रज़ि.)* को डाँट-डपट से मना कर दिया।

ऐसा ही मामला क़ब्रों की ज़ियारत का भी है। औरतें नर्म-दिल होती हैं। अपने मुर्दा रिश्तेदारों की याद उनके दिलों में ज़्यादा गहरी होती है। उनकी भावनाओं को बिल्कुल कुचल देना नबी *(सल्ल.)* ने पसन्द नहीं फ़रमाया, मगर यह साफ़ कह दिया कि औरतों का क़ब्रों पर ज़्यादा जाना मना है।

तिर्मिज़ी में हज़रत अबू हुरैरा *(रज़ि.)* की हदीस है, "अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने क़ब्रों पर बहुत ज़्यादा जाने वालियों पर लानत फ़रमाई है।"[2]

---

1. अर्थात् बस्ती के कुछ लोग अवश्य शरीक हों। यह बाक़ी आबादी की ओर से काफ़ी होगा। (प्रकाशक)
2. हदीस की किताब इब्ने-माजा में यही विषय हज़रत इब्ने-अब्बास और उस्मान-बिन-साबित से भी नक़ल किया गया है।

हज़रत आइशा *(रज़ि.)* अपने भाई अब्दुर्रहमान-बिन-अबी-बक्र *(रज़ि.)* की क़ब्र पर तशरीफ़ ले गईं तो फ़रमाया, "ख़ुदा की क़सम ! अगर मैं तुम्हारी मौत के वक़्त मौजूद होती तो अब तुम्हारी क़ब्र की ज़ियारत को न आती।"

(हदीस : तिर्मिज़ी)

अनस-बिन-मालिक *(रज़ि.)* की रिवायत है कि नबी *(सल्ल.)* ने एक औरत को क़ब्र के पास बैठे रोते देखा तो उसे मना न किया, बल्कि सिर्फ़ "अल्लाह से डरो और सब्र करो" फ़रमा दिया। (हदीस : बुख़ारी)

इन हुक्मों पर ग़ौर कीजिए। नमाज़ एक मुक़द्दस इबादत है। मस्जिद एक पाक जगह है। हज में इंसान इंतिहाई पाक विचारों के साथ ख़ुदा के दरबार में हाज़िर होता है। जनाज़ों और क़ब्रों की हाज़िरी में हर आदमी के सामने मौत का नक़्शा होता है और दुख और ग़म के बादल छाए हुए होते हैं। ये सब मौक़े ऐसे होते हैं जिनमें यौन-भावनाएँ या तो बिल्कुल नहीं होती हैं या रहती भी हैं तो दूसरी पवित्र भावनाओं से दबी हुई होती हैं, मगर इसके बावुजूद नबी *(सल्ल.)* ने ऐसी सभाओं में भी मर्दों और औरतों का मिला-जुला होना पसन्द न किया। मौक़े की पाकीज़गी, मक़्सदों की पाकी और औरतों की भावनाओं की रिआयत में उन्हें घर से निकलने की इजाज़त तो दे दी, कुछ मौक़ों पर ख़ुद भी साथ ले गए, लेकिन परदे की इतनी पाबंदियाँ लगा दीं कि फ़ितने के मामूली सन्देह भी बाक़ी न रहें। फिर हज के सिवा तमाम दूसरे मामलों के बारे में फ़रमा दिया कि इनमें औरतों का शरीक न होना ज़्यादा बेहतर है।

जिस क़ानून का यह रुझान हो, क्या उससे आप यह उम्मीद रखते हैं कि वह स्कूलों और कालेजों में, दफ़्तरों और कारख़ानों में, पार्टियों और मनोरंजन-स्थलों में, थिएटरों और सिनेमाओं में, चाय-घरों और नाच-घरों में मर्दों-औरतों के मेल-जोल को जायज़ रखेगा ?

युद्ध में औरतों का शरीक होना

परदे की हदों की सख़्ती आपने देख ली। अब देखिए कि इनमें नर्मी कहाँ और किस ज़रूरत से की गई है।

मुसलमान युद्ध में फँसे होते हैं। आम मुसीबत का वक़्त है। हालात माँग कर रहे हैं कि क़ौम की पूरी सामूहिक शक्ति रक्षा के काम में लगा दी जाए। ऐसी हालत में इस्लाम क़ौम की औरतों को आम इजाज़त देता है कि वे युद्ध-सेवाओं में हिस्सा लें, मगर इसके साथ यह हक़ीक़त भी उसके सामने है कि जो माँ बनने के लिए बनाई गई है, वह सर काटने और ख़ून बहाने के लिए नहीं बनाई गई। उसके हाथ में तीर और ख़ंजर देना उसकी प्रकृति को तोड़ना-मरोड़ना है। इसलिए वह औरतों को अपनी जान व आबरू की हिफ़ाज़त के लिए तो हथियार उठाने की इजाज़त देता है, मगर आम तौर से औरतों से युद्ध-सेवा लेना और उन्हें फ़ौजों में भर्ती करना उसकी पॉलिसी से बाहर है। वह युद्ध में उनसे सिर्फ़ यह सेवा लेता है कि घायलों की मरहम-पट्टी करें, प्यासों को पानी पिलाएँ, सिपाहियों के लिए खाना पकाएँ और मुजाहिदों के पीछे कैम्प की हिफ़ाज़त करें। इन कामों के लिए परदे की पाबंदियाँ बहुत कम कर दी गई हैं, बल्कि इन सेवाओं के लिए थोड़े संशोधन के साथ वही पहनावा पहनना शरीअत में जायज़ है जो आजकल ईसाई ननें पहनती हैं।

तमाम हदीसों से साबित है कि लड़ाई में नबी *(सल्ल.)* की बीवियाँ और मुसलमान औरतें नबी *(सल्ल.)* के साथ जातीं और मुजाहिदों को पानी पिलाने और घायलों की मरहम-पट्टी करने की सेवाएँ पूरी करती थीं। यह अमल परदे का हुक्म उतरने के बाद भी जारी रहा। (हदीस : बुख़ारी)

तिर्मिज़ी में है कि उम्मे-सुलैम और अंसार की कुछ दूसरी औरतें ज़्यादातर लड़ाइयों में नबी *(सल्ल.)* के साथ गई हैं। (हदीस : तिर्मिज़ी)

बुख़ारी में है कि एक औरत ने नबी *(सल्ल.)* से कहा कि, मेरे लिए दुआ फ़रमाइए कि मैं भी समुद्री लड़ाई में जाने वालों के साथ रहूँ। आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "अल्लाह! इसे भी उनमें बना।" (हदीस : बुख़ारी)

उहुद की लड़ाई के मौक़े पर जब इस्लाम के मुजाहिदों के पाँव उखड़ गए थे, हज़रत आइशा और उम्मे-सुलैम *(रज़ि.)* अपनी पीठ पर पानी की मश्कें लाद-लादकर लाती थीं और लड़नेवालों को पानी पिलाती थीं। हज़रत अनस *(रज़ि.)* कहते हैं कि इस हाल में मैंने उनको पाईंचे उठाए दौड़-दौड़कर आते-

जाते देखा, उनकी पिंडलियों का निचला हिस्सा खुला हुआ था।

(हदीस : बुख़ारी, मुस्लिम)

एक दूसरी औरत उम्मे-सुलैत *(रज़ि.)* के बारे में हज़रत उमर *(रज़ि.)* ने ख़ुद अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* का यह कथन नक़ल किया है कि उहुद की लड़ाई में दाएँ और बाएँ जिधर मैं देखता था, उम्मे-सुलैत मेरी हिफ़ाज़त के लिए जान लड़ाती हुई नज़र आती थीं।

उसी लड़ाई में रुबैअ़-बिन्त-मुअव्वज़ *(रज़ि.)* और उनके साथ औरतों की एक टोली घायलों की मरहम-पट्टी में लगी हुई थी और यही औरतें घायलों को उठा-उठाकर मदीना ले जा रहीं थीं। (हदीस : बुख़ारी)

हुनैन की लड़ाई में उम्मे-सुलैम *(रज़ि.)* एक ख़ंजर हाथ में लिए चक्कर लगा रही थीं। नबी *(सल्ल.)* ने पूछा, "यह किस लिए है?" कहने लगीं कि "अगर कोई दुश्मन मेरे क़रीब आया तो उसका पेट फाड़ दूँगी।"

(हदीस : मुसलिम)

उम्मे-अतीया *(रज़ि.)* सात लड़ाइयों में शरीक हुईं। कैम्प की हिफ़ाज़त, सिपाहियों के लिए खाना पकाना, घायलों और बीमारों की देख-भाल का काम उनके सुपुर्द था। (हदीस : इब्ने माजा)

हज़रत इब्ने-अब्बास *(रज़ि.)* का बयान है कि जो औरतें लड़ाई की ऐसी सेवाएँ करती थीं उनको ग़नीमत के मालों (युद्धों में प्राप्त मालों) में से इनाम दिया जाता था। (हदीस : मुस्लिम)

इससे अन्दाज़ा किया जा सकता है कि इस्लामी परदे की हैसियत किसी जाहिली रस्म जैसी नहीं है जिसमें मस्लहतों और ज़रूरतों के हिसाब से कमी-बेशी न हो सकती हो। जहाँ उचित ज़रूरतें पेश आ जाएँ, वहाँ उसकी पाबंदियाँ कम भी हो सकती हैं। न सिर्फ़ चेहरा और हाथ खोले जा सकते हैं, बल्कि जिन अंगों को सत्र में शामिल किया गया है, उनके भी कुछ हिस्से अगर ज़रूरत भर खुल जाएँ तो हरज नहीं। लेकिन जब ज़रूरत पूरी हो जाए तो परदे को फिर उन्हीं हदों पर क़ायम हो जाना चाहिए जो आम हालात के लिए मुक़र्रर

की गई हैं। जिस तरह यह परदा जाहिली परदा नहीं है, उसी तरह इसमें कमी भी जाहिली आज़ादी की तरह नहीं। मुसलमान औरत का हाल यूरोपियन औरत की तरह नहीं है कि जब वह लड़ाई की ज़रूरत के लिए अपनी हदों से बाहर निकली तो उसने लड़ाई ख़त्म होने के बाद अपनी हदों में वापस जाने से इंकार कर दिया।

—●—

अध्याय-14

उपसंहार

यह है वह न्याय-बिन्दु और बीच का रास्ता जिसकी दुनिया अपनी तरक़्क़ी, ख़ुशहाली और अख़लाक़ी अम्न के लिए मुहताज और सख़्त मुहताज है। जैसा कि शुरू में बयान किया जा चुका है, दुनिया हज़ारों साल से समाज संस्कृति में औरत का – यानी इंसानी दुनिया के पूरे आधे हिस्से का – स्थान निर्धारित करने में ठोकरें खा रही है। कभी एक अति की ओर जाती है, कभी दूसरी अति की ओर। ये दोनों अतियाँ उसके लिए हानिकारक सिद्ध हुई हैं। तजुर्बे और निरीक्षण इस नुक़्सान पर गवाह हैं। इन अतियों के बीच न्याय और बीच के रास्ते की जगह, जो बुद्धि व प्रकृति के ठीक अनुकूल और इंसानी ज़रूरतों के लिए ठीक मुनासिब है, वही है, जो इस्लाम ने निर्धारित किया है। लेकिन अफ़सोस यह है कि आज के ज़माने में बहुत-सी ऐसी रुकावटें पैदा हो गई हैं जिनकी वजह से लोगों के लिए उस सीधे रास्ते को समझना और उसकी क़द्र करना मुश्किल हो गया है।

इन रुकावटों में सबसे प्रमुख रुकावट यह है कि आज के ज़माने का इंसान आम तौर से 'पीलिया' का शिकार हो गया है और पाश्चात्य सभ्यता में रंगे, पूर्ववासी लोगों पर इस पीलीया का एक और ज़्यादा ख़तरनाक क़िस्म का हमला हुआ है, जिसे मैं 'सफ़ेद पीलीया' कहता हूँ। मैं अपनी इस साफ़गोई और स्पष्ट-वादिता पर अपने दोस्तों और भाइयों से माफ़ी चाहता हूँ, मगर जो बात सच्ची है उसके ज़ाहिर करने में कोई झिझक, रुकावट, और लिहाज़ नहीं होना चाहिए।

यह एक सच्चाई है कि इस्लाम का कोई हुक्म और मस्अला ऐसा नहीं जो सिद्ध वैज्ञानिक तथ्यों के ख़िलाफ़ हो, बल्कि ज़्यादा सही यह है कि जो कुछ वैज्ञानिक तथ्य है, वही ठीक इस्लाम है, मगर इसको देखने के लिए बे-रंग निगाह की ज़रूरत है, ताकि हर चीज़ को उसके असली रंग में देख सके। विशाल दृष्टि की ज़रूरत है, ताकि हर चीज़ के तमाम पहलुओं को देख सके।

खुले दिल और अच्छे स्वभाव की ज़रूरत है, ताकि हक़ीक़तें जैसी कुछ भी हों उनको वैसा ही मान ले और अपनी भावनाओं के अधीन बनाने के बजाए अपनी आन्तरिक भावनाओं को उनके अधीन कर दे। जहाँ यह चीज़ न हो, वहाँ अगर ज्ञान हो तो बेकार है। रंगीन निगाह जो कुछ देखेगी, उसी रंग में देखेगी जो उसपर चढ़ा हुआ है। सीमित दृष्टि मस्अलों और मामलों के सिर्फ़ उन्हीं अंगों तक जा सकेगी जो उस दृष्टिकोण के सामने घटित हों जिससे वह उन्हें देख रही है, फिर उन सबके बावुजूद जो वैज्ञानिक वास्तविकताएँ अपनी असली हालत में अन्दर तक पहुँच जाएँगी, उनपर भी दिल की तंगी और प्रकृति की विकृति अपना काम करेगी। वह हक़ीक़तों से माँग करेगी कि वे उसके मन के तक़ाज़ों और उसकी भावनाओं और रुझानों के मुताबिक़ ढल जाएँ और अगर वे न ढलेंगे तो वह उनको हक़ीक़त जानने के बावुजूद नज़रअंदाज़ कर देगी और अपनी ख़ाहिशों की पैरवी करेगी। ज़ाहिर है कि इस रोग में जब इंसान जकड़ा हुआ हो, तो ज्ञान, तजुर्बा, निरीक्षण कोई चीज़ भी उसकी रहनुमाई नहीं कर सकती। और ऐसे रोगी के लिए बिल्कुल नामुमकिन है कि वह इस्लाम के किसी हुक्म को ठीक-ठीक समझ सके, क्योंकि इस्लाम प्राकृतिक दीन, बल्कि वास्तविक रूप से प्रकृति ही है। पाश्चात्य जगत् के लिए इस्लाम को समझना इसी लिए मुश्किल हो गया है कि वह इस बीमारी से ग्रसित है। उसके पास जितना भी ज्ञान[1] है, वह सब का सब 'इस्लाम' है, परन्तु खुद उसकी अपनी निगाह रंगीन है। फिर यही रंग 'सफ़ेद पीलिया' बनकर पूरब के नए पढ़े-लिखे लोगों की निगाह पर छा गया है और यह बीमारी उनको भी ज्ञानात्मक सच्चाइयों से सही नतीजे निकालने और ज़िंदगी के मसलों को प्राकृतिक दृष्टि से देखने में रोक बनती है। इनमें से जो मुसलमान हैं, वे हो सकता है कि इस्लाम धर्म पर ईमान रखते हों, उसकी सच्चाई भी मानते हों, दीन की पैरवी की भावना से भी ख़ाली न हों, मगर वे बेचारे अपनी आँखों की पीलिया को क्या करें कि जो कुछ इन आँखों से देखते हैं, उनका रंग ही उन्हें 'अल्लाह के रंग' के ख़िलाफ़ नज़र आता है।

दूसरी वजह जो सही समझ में रोक बनती है, यह है कि आम तौर पर लोग

1. ज्ञान यानी सच्चाई का ज्ञान, न कि सिद्धातों और सच्चाइयों से निकाले गए नतीजे।

जब इस्लाम के किसी मसूले पर विचार करते हैं तो उस व्यवस्था और सिस्टम पर सामूहिक रूप से निगाह नहीं डालते जिससे वह मसूला सम्बंधित होता है, बल्कि व्यवस्था से अलग करके निरपेक्ष रूप से सिर्फ़ उस ख़ास मस्अले को बहस में ले आते हैं। नतीजा यह होता है कि वह मस्ला तमाम हिक्मतों और तत्त्वदर्शिता से ख़ाली नज़र आने लगता है और उसमें तरह-तरह के सन्देह होने लगते हैं। ब्याज के मसूले में यही हुआ कि उसको इस्लाम (यानी प्रकृति) के आर्थिक नियम और अर्थ-व्यवस्था से अलग करके देखा गया, ब्याज-सम्बन्धी इस्लामी क़ानून में हज़ारों कमज़ोरियाँ नज़र आने लगीं, यहाँ तक कि बड़े-बड़े (मुस्लिम) विद्वानों को भी शरीअत के मक़सदों के ख़िलाफ़ उसमें काँट-छाँट की ज़रूरत महसूस हुई। ग़ुलामी, बहुपत्नी-विवाह, दम्पति-अधिकार और ऐसे ही बहुत-से मसूलों में इस बुनियादी ग़लती को दोहराया गया है और परदे का मसूला भी इसका शिकार हुआ है। अगर आप पूरी इमारत को देखे बिना सिर्फ़ उसके किसी एक खम्भे को देखेंगे तो निश्चय ही आपको हैरत होगी कि यह आख़िर क्यों लगाया गया है? आपको इसका क़ायम किया जाना उद्देश्यहीन नज़र आएगा। आप कभी न समझेंगे कि इंजीनियर ने इमारत को सँभालने के लिए किस अनुपात और संतुलन के साथ उसको लगाया है और उसको गिरा देने से पूरी इमारत को क्या नुक़सान पहुँचेगा। बिल्कुल ऐसी ही मिसाल परदे की है। जब वह उस सामाजिक व्यवस्था से अलग कर लिया जाएगा, जिसमें वह इमारत के स्तंभ की तरह एक ज़रूरत और अनुकूलता के साथ लगाया गया है तो वे तमाम हिक्मतें निगाहों से ओझल हो जाएँगी जो उससे जुड़ी हुई हैं और यह बात किसी तरह समझ में न आ सकेगी कि मानव-जाति दोनों लिंगों (Genders) के बीच ये अन्तर करनेवाली रेखाएँ आख़िर क्यों खींच दी गई हैं? अतः स्तंभ की हिक्मतों को ठीक-ठीक समझने के लिए यह ज़रूरी है कि उस पूरी इमारत को देख लिया जाए जिसमें वह लगाया गया है।

अब इस्लाम का हक़ीक़ी 'परदा' आपके सामने है। वह सामाजिक व्यवस्था भी आपके सामने है जिसकी हिफ़ाज़त के लिए परदे के नियम बनाए गए हैं। इस व्यवस्था के वे तमाम तत्त्व भी आप के सामने हैं, जिनके साथ एक ख़ास सन्तुलन को ध्यान में रखकर परदे का तत्त्व संलग्न किया गया है। वे

तमाम प्रामाणिक ज्ञानात्मक सच्चाइयाँ भी आपके सामने हैं जिनपर इस पूरी सामाजिक व्यवस्था की बुनियाद रखी गई है। इन सबको देख लेने के बाद फ़रमाइए कि इसमें कहाँ आप कोई कमज़ोरी पाते हैं? किस जगह असन्तुलन का कोई छोटा-सा भी धब्बा नज़र आता है? कौन-सी जगह ऐसी है जहाँ — किसी ख़ास गरोह के रुझान से हटकर सिर्फ़ ज्ञानपरक और बौद्धिक बुनियादों पर — कोई सुधार प्रस्तावित किया जा सकता हो? मैं पूरे यक़ीन के साथ कहता हूँ कि ज़मीन और आसमान जिस सन्तुलन पर क़ायम है, सृष्टि की व्यवस्था में जो कमाल दर्जे की अनुकूलता और सन्तुलन पाया जाता है, एक अणु और परमाणु की बनावट में और सौर-मंडल की संरचना में जैसा पूर्ण सन्तुलन आप देखते हैं, वैसा ही सन्तुलन और अनुकूलता तथा सापेक्षता इस सामाजिक व्यवस्था में भी मौजूद है। अतिवाद और यकरुख़ापन जो इंसानी कामों की अनिवार्य कमज़ोरी है, उससे यह व्यवस्था पूर्णतः सुरक्षित है। उसमें परिवर्तन और सुधार का परामर्श देना इंसान की क़ुदरत से बाहर है। इंसान अगर कभी अपनी कच्ची अक़्ल के हस्तक्षेप से उसमें कोई छोटी-सी तब्दीली भी करेगा तो उसमें सुधार न करेगा, बल्कि उसके सन्तुलन को बिगड़ देगा।

अफ़सोस! मेरे पास ऐसे साधन नहीं हैं कि अपने उन इंसानी भाइयों तक अपनी आवाज़ पहुँचा सकूँ जो यूरोप, अमरीका, रूस और जापान में रहते हैं। वे एक सही और सन्तुलित सामाजिक व्यवस्था न पाने ही की वजह से अपनी ज़िंदगी को तबाह कर रहे हैं और दुनिया की दूसरी क़ौमों की तबाही के भी कारण बन रहे हैं। काश ! मैं उन तक वह अमृत पहुंचा सकता, जिसके वे हक़ीक़त में प्यासे हैं, चाहे वे इस प्यास को न महसूस करते हों। फिर भी मेरे अपने देश के हिन्दू, सिख, ईसाई, पारसी जो मेरे क़रीब और पड़ोस में रहते-सहते हैं, उनमें से अधिकतर मेरी भाषा भी समझते हैं, उन्हें मैं दावत देता हूँ कि मुसलमानों के साथ ऐतिहासिक और राजनीतिक झगड़ों की वजह से जो भेदभाव उनके दिलों में इस्लाम के विरुद्ध पैदा हो गया है, उससे अपने दिलों को साफ़ करके सिर्फ़ सत्य के खोजी होने की हैसियत से इस्लाम की उस सामाजिक व्यवस्था को देखें, जिसे मैंने बिना कमी-बेशी के इस किताब में बयान कर दिया है। फिर उस पश्चिमी सामाजिक व्यवस्था से इसकी तुलना करें जिसकी ओर वे

सरपट दौड़े चले जा रहे हैं, और आख़िर में मेरे या किसी और के लिए नहीं, बल्कि ख़ुद अपनी भलाई के लिए फ़ैसला करें कि उनका वास्तविक हित किस तरीक़े में है।

इसके बाद मैं आम पाठकों की ओर से रुख़ फेरकर कुछ शब्द अपने ऐसे भटके हुए भाइयों से कहूँगा जो मुसलमान कहलाते हैं।

हमारे कुछ नए पढ़े-लिखे मुसलमान भाई उन तमाम बातों को मानते हैं जो ऊपर बयान की गई हैं, मगर वे कहते हैं कि इस्लाम के क़ानूनों में वक़्त के हालात के लिहाज़ से कमी-ज़्यादती की तो गुंजाइश है जिससे तुम ख़ुद भी शायद इंकार नहीं कर सकते, इसलिए हमारी ख़ाहिश तो सिर्फ़ इतनी है कि इस गुंजाइश से फ़ायदा उठाया जाए। आज के ज़माने के हालात परदे में कमी की माँग कर रहे हैं। ज़रूरत है कि मुसलमान औरतें स्कूलों और कालेजों में जाएँ, ऊँची शिक्षा प्राप्त करें, ऐसी तर्बियत हासिल करें जिससे वे देश के सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को समझने और उनको हल करने के क़ाबिल हो सकें। इसके बिना मुसलमान ज़िंदगी की दौड़ में पड़ोसी क़ौमों से पीछे रहे जाते हैं और भविष्य में डर है कि और ज़्यादा नुक़सान उठाएँगे। देश के राजनीतिक जीवन में औरतों को जो हक़ दिए जा रहे हैं, अगर उनसे फ़ायदा उठाने की क्षमता मुसलमान औरतों में नहीं पैदा हुई और परदे की क़ैद की वजह से वे फ़ायदा न उठा सकीं तो देश की राजनीतिक तराज़ू में मुसलमानों का वज़न बहुत कम रह जाएगा। देखो, इस्लामी दुनिया की उन्नतिशील क़ौमें, जैसे तुर्की और ईरान ने भी ज़माने के हालात को देखकर इस्लामी परदे में बहुत कुछ कमी[1] कर दी है और इससे कुछ ही साल के भीतर उल्लेखनीय फ़ायदे हासिल हुए हैं। अगर हम भी उन्हीं के रास्ते पर चलें तो आख़िर इसमें क्या परेशानी है?

ये जितने ख़तरे बयान किए जाते हैं, हम उन सबको ज्यों का त्यों मान लेते हैं, बल्कि अगर ख़तरों की सूची में इससे दस गुना और बढ़ोत्तरी कर दी जाए

1. कमी? यह शब्द सिर्फ़ बहस के लिए इस्तेमाल किया जाता है, वरना असल में वहाँ कमी नहीं की गई है, बल्कि उसे बिल्कुल रद्द और तिरस्कृत ही कर दिया गया है।

तब भी कोई हरज नहीं। बहरहाल इस क़िस्म के किसी ख़तरे की वजह से भी इस्लाम के क़ानून में कमी-बेशी या काँट-छाँट जायज़ नहीं हो सकती। असूल में ऐसे तमाम ख़तरों की स्थिति ऐसी है जैसे आप जान-बूझकर अपनी मूर्खता से या मजबूरी की वजह से एक प्रदूषित और सेहत के लिए नुक़सानदेह माहौल में रहते हों और वहाँ स्वास्थ्य-सुरक्षा के उसूलों पर अमल करना आपके लिए न सिर्फ़ मुश्किल हो रहा हो, बल्कि गन्दे लोगों की बस्ती में आपके लिए गन्दगी अपनाए बिना जीना तक मुश्किल हो। ऐसी हालत में ज़ाहिर है कि सेहत बचाने के उसूलों के संशोधन या संक्षेपण का कोई सवाल पैदा नहीं हो सकता। अगर आप इन उसूलों को सही समझते हैं तो आपका फ़र्ज़ है कि अपने माहौल से लड़कर उसे पाक बनाएँ। अगर लड़ने की हिम्मत नहीं और अपनी कमज़ोरी की वजह से आप अपने माहौल से दबे हुए हैं तो जाइए और जो-जो गंदगियां आप पर मुसल्लत हैं उनमें अपने को लिप्त कर लीजिए। आख़िर आपके लिए सेहत के क़ानूनों में बदलाव या कमी क्यों की जाए और अगर आप वास्तव में इन क़नूनों को ग़लत समझते हैं तो उसकी गन्दगी से आपकी अपनी तर्बियत भी समरसता प्राप्त कर चुकी है तो आप अपने लिए जो चाहे क़ानून बना लीजिए। पाकी और स्वच्छता के क़ानून में तो उन लोगों की इच्छाओं के लिए कोई गुंजाइश नहीं हो सकती जो गन्दगी की ओर झुकाव रखते हैं।

इसमें शक नहीं कि हर क़ानून की तरह इस्लामी क़ानून में भी हालात के लिहाज़ से सख़्ती और नरमी की गुंज़ाइश है, मगर हर क़ानून की तरह इस्लामी क़ानून भी इस बात पर आग्रह करता है कि सख़्ती या नरमी का फ़ैसला करने के लिए हालात को उसी नज़र से और उसी स्प्रिट में देखा जाए जो इस्लाम की नज़र और इस्लाम की स्प्रिट है। किसी दूसरी दृष्टि से हालात को देखना और फिर संशोधन की क़ैंची लेकर क़ानून की धाराओं पर हमलावर हो जाना कमी की परिभाषा में नहीं आता, बल्कि यह खुला परिवर्तन और बिगाड़ है। जिन हालात को ग़ैर-इस्लामी दृष्टि से देखकर इस्लामी क़ानून में नरमी करने की माँग की जा रही है, उनको अगर इस्लामी दृष्टि से देखा जाए तो यह फ़ैसला करना पड़ेगा कि ऐसे हालात में नरमी की नहीं, बल्कि ज़्यादा सख़्ती की ज़रूरत है। नरमी सिर्फ़ उस वक़्त की जा सकती है जबकि क़ानून के उद्देश्य दूसरे माध्यमों से

आसानी से पूरे हो जाते हों और रक्षात्मक क़ानूनों में ज़्यादा सख़्ती की ज़रूरत न हो। मगर जबकि क़ानून के उद्देश्य दूसरे साधनों से पूरे न हो रहे हों, बल्कि दूसरी तमाम ताक़तें उनको बर्बाद करने में लगी हुई हों और उनके उद्देश्यों की प्राप्ति का पूरे का पूरा आश्रय सिर्फ़ संरक्षण क़ानून पर ही आ ठहरा हो तो ऐसे हालात में सिर्फ़ वही आदमी क़ानून में नरमी करने का ख़्याल कर सकता है जो क़ानून की स्प्रिट को बिल्कुल न जानता हो।

पिछले पृष्ठों में हम विस्तार के साथ बयान कर चुके हैं कि इस्लामी सामाजिक क़ानून का मक़सद दाम्पत्य-नियमों की हिफ़ाज़त, यौन-विघटन की रोकथाम और असन्तुलित वासनामय उत्प्रेरकों में रुकावट पैदा करना है। इस उद्देश्य के लिए शरीअत-निर्माता ने तीन तद्बीरें अपनाई हैं। (1) नैतिकता का सुधार। (2) दण्ड का क़ानून। और (3) रोक-थाम के उपाय; यानी सत्र व परदा। ये मानो तीन स्तंभ हैं जिनपर यह इमारत खड़ी की गई है, जिनकी मज़बूती पर इस इमारत की मज़बूती टिकी हुई है और जिनका गिरा देना असल में इस पूरी इमारत का गिरा देना है। आइए, अब अपने देश के मौजूदा हालात पर एक नज़र डालकर देखिए कि इन तीनों स्तंभों का आपके यहाँ क्या हाल है?

पहले अपने नैतिक माहौल को लीजिए। आप उस देश में रहते हैं जिसकी काफ़ी बड़ी आबादी आप ही की अगली-पिछली कोताहियों की वजह से अब तक इस्लाम को नहीं जानती। जिसपर एक ग़ैर-मुस्लिम क़ौम की सत्ता क़ायम है। ग़ैर-इस्लामी सभ्यता आँधी-तूफ़ान की तरह छाती जा रही है। प्लेग और हैज़े के कीटाणुओं की तरह ग़ैर-इस्लामी नैतिकता के नियम और ग़ैर-इस्लामी सभ्यता के विचार पूरे माहौल में फैल गए हैं। वातावरण उनके ज़हर से भरकर ज़हरीला हो चुका है। उनके विषैलेपन ने हर ओर से आपको घेर लिया है। अश्लीलता और बेहयाई की जिन बातों के ख़्याल से भी कुछ साल पहले तक आपके रौंगटे खड़े हो जाते थे, वे अब इतनी आम हो चुकी हैं कि आप उन्हें दिन-प्रतिदिन की सामान्य स्थिति समझ रहे हैं। आपके बच्चे तक अख़बारों और पत्र-पत्रिकाओं और विज्ञापनों में नंगी तस्वीरें रोज़ देखते हैं और बेहयाई के आदी होते जाते हैं। आपके बूढ़े और जवान और बच्चे सब के सब फ़िल्में देख रहे हैं, जहाँ नग्नता और बे-हयाई और यौन-प्रेम से ज़्यादा दिलचस्प चीज़ और

कोई नहीं। बाप और बेटे, भाई और भाई, माएँ और बेटियाँ, सब एक-दूसरे के पहलू में बैठे एलानिया आलिंगन और चुम्बन और छेड़खानी के दृश्य देखते हैं और कोई शर्म महसूस नहीं करते। अत्यंत गन्दे और उत्तेजक गीत घर-घर और दुकान-दुकान बज रहे हैं, और किसी के कान इन आवाज़ों से सुरक्षित नहीं। भारतियों और अंग्रेज़ों की ऊँची सोसाइटी की औरतें अर्धनग्न लिबासों के साथ फिर रही हैं और निगाहें इन लिबासों की इतनी आदी हो चुकी हैं कि कोई आदमी इनमें किसी प्रकार की बेहयाई महसूस नहीं करता। नैतिकता की जो धारणाएँ पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा के साथ फैल रहे हैं, उनकी बदौलत विवाह को एक पुरानी रस्म, व्यभिचार को एक मनोरंजन, मर्दों और औरतों के मेल-जोल को एक आपत्ति से परे बल्कि पसन्दीदा चीज़, तलाक़ को एक खेल, पति-पत्नी की ज़िम्मेदारियों को एक असह्य बन्धन, नस्ल बढ़ाने को एक मूर्खता, शौहर के आज्ञापालन को एक क़िस्म की ग़ुलामी, पत्नीत्व को एक मुसीबत और प्रेमिका व प्रेयसी (Girl Friend) बनने को एक ख़्याली जन्नत समझा जा रहा है। फिर देखिए कि इस माहौल के प्रभाव आपकी क़ौम पर क्या पड़ रहे हैं? क्या आपके समाज में अब 'आँखें नीची रखने का' कहीं वुजूद है? क्या लाखों में एक आदमी भी कहीं ऐसा पाया जाता है, जो अजनबी औरतों के हुस्न से आँखें सेंकने में शर्म करता हो? क्या एलानिया आँख और ज़बान का ज़िना (व्यभिचार) नहीं किया जा रहा है? क्या आपकी औरतें भी जाहिलियत के दिखावे, ज़ीनत के ज़ाहिर करने और हुस्न की नुमाइश से परहेज़ कर रही हैं? क्या आज आपके घरों में ठीक वही लिबास नहीं पहने जा रहे हैं जिनके बारे में प्यारे नबी *(सल्ल.)* ने फ़रमाया था कि 'निसाउन कासियातुन आरियातुन मुमीलातुन माइलातुन'? (जो औरतें कपड़े पहनकर भी नंगी रहें, दूसरों को रिझाएँ और ख़ुद दूसरों पर रीझें ......) क्या आप अपनी बहनों, बेटियों और माँओं को वह पहनावा पहने नहीं देख रहे हैं जिनको मुसलमान औरत अपने शौहर के सिवा किसी के सामने नहीं पहन सकती? क्या आपकी सोसाइटी में गन्दी कहानियाँ और इश्क़ व मुहब्बत के गन्दे वाक़िए बे-तकल्लुफ़ी के साथ कहे और सुने नहीं जाते? क्या आपकी महफ़िलों में लोग ख़ुद अपनी बदकारी के हालात बयान करने में भी कोई शर्म महसूस करते हैं? जब हाल यह है तो फ़रमाइए कि अख़लाक़ की पाकी का वह पहला और सबसे ज़्यादा मज़बूत